पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५३

मूल्य
सात रुपये

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

विषय-सूची

●

		पृष्ठ
प्रस्तावना	...	१
मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय	...	७
साहित्य क्या है ?	...	१६
विज्ञान और साहित्य	...	२१
साहित्य और समाज	...	२५
कला क्या है ?	...	३२
भाग्य में कर्म-परम्परा	...	३८
स्वप्न और यथार्थ	...	४४
प्रतिनिधित्व या उन्नयन	...	५३
सत्य, शिव, सुन्दर	...	५८
दूध या शराब	...	६७
साहित्य और साधना	...	७२
साहित्य और सचाई	...	७५
जीवन और साहित्य	...	८२

साहित्य का उद्देश्य ... ८७
राष्ट्र-भाषा और प्रान्तीय भाषाएँ ... ९४
प्रेमचन्द की कला ... ९९
आलोचक के प्रति ... १०९
साहित्य की कसौटी ... १२३
समालोचना के मान बदलें ... १३४
मान क्या ? संघर्ष कि समन्वय ... १४०
समीक्षा समन्वयशील हो ... १४५
छायावाद का भविष्य ... १५०
गद्य-विकास और कथा-उपन्यास ... १५४
उपन्यास में वास्तविकता ... १६१
व्यक्ति और टाइप ... १७५
प्रगति क्या ? ... १८९
प्रगतिवाद ... २०१
प्रगति : सच्ची या शाब्दिक ... २११
कला-नियन्त्रण ... २१८
साहित्य और कला ... २२७
प्रेमचन्द का गोदान : यदि मैं लिखता ... २३१
युद्ध और लेखक ... २३८
हिन्दी और हिन्दुस्तान ... २५६
किसके लिए लिखें ? ... २७५
लेखक की कठिनाइयाँ ... २८६

लेखन : धर्म कि व्यवसाय ... २६५
राजनीति का संशोधक साहित्य ... ३०४
साहित्य का जन्म ... ३११
साहित्य, राष्ट्र और समाज ... ३१२
रोटी मुख्य है या साहित्य ? ... ३१४
साहित्य और नीति ... ३१६
हिन्दी और अंग्रेजी ... ३२२
अपनी कैफ़ियत ... ३३१
मैं और मेरी कृति ३४५
मैं और मेरी कला ... ३५३
साहित्य और धर्म ... ३६१
स्थायी और उच्च साहित्य ... ३६६
राष्ट्रभाषा ... ३७२
साहित्यसेवी का अहंभाव ... ३७६
कहानी क्या ? ... ३७८
साहित्य-सृजन ... ३८०
साहित्य की गतिविधि ... ३८४
विविध ... ३९०
अश्लील और अश्लीलता ... ४०५
अश्लीलता पर कुछ व्यावहारिक सुझाव ... ४१५
कला और जीवन ... ४२२
उपन्यास-लेखक में तप चाहिए ... ४३१

हिन्दी-अंग्रेजी का भेद और सरकार ... ४३८
साहित्य : सत्-असत् का द्वन्द्व ... ४४२
विशिष्टशब्दानुक्रमणिका ४४५

की दूर नहीं जानती—लो, मैंने चरण गह लिये हैं।' ओ री पगली बहिनो, तुम दोनों ही अर्ध-सत्य को गहे उसी को सम्पूर्ण माने बैठी हो। भूल की असल गांठ, मुक्ति-बोध की राह में असल बाधा, तो इस 'मैं मैं' में है, जिसके प्रयोग से तुम दोनों बाज नहीं आ रही हो।

और यही वह अहं-भावना है जिसके विरुद्ध जैनेन्द्र ने, समष्टि-प्रेम की भित्ति पर खड़े होकर, खुल्लमखुल्ला विद्रोह घोषित किया है। उनकी हरेक कृति का रोम-रोम आत्मोत्सर्ग और आत्म-दान की इस महत् भावना से परिप्लावित है। जहां सांख्य दार्शनिक प्रकृति के चेतन-नृत्य के पुरुष-संपर्क के साथ में बुद्धितत्व और अहंतत्व के सृजन की बात करते हैं वहां जैनेन्द्र प्रकृति तक से आत्म-समर्पण की सीख लेना जरूरी समझते हैं। २७-३-३७ के एक पत्र में उन्होंने लिखा है,—"तुम जानते हो कि आर्टिस्ट निर्मम नहीं हो सकता ? ऐसी धारणा गलत है। ज्ञातव्य वस्तु के सम्बन्ध में उसे ममताहीन वैज्ञानिक होना चाहिए। हां, ज्ञातव्य उस के लिए है वह स्वयम्, 'पर' नहीं। 'पर' को तो जाना ही नही जा सकता। जाना जा सकता है तो स्वयम् के भीतर से। इसलिए वह अपने को और अपने ज्ञान को भी बराबर कसता रहता है। सच्चे आर्टिस्ट को अपने जीवन के बारे में शुद्ध वैज्ञानिक होना पड़ता है। इसलिए 'पर' के प्रति है वह भावुक कलाकर, और अपने प्रति है परीक्षा-प्रयोगी तत्त्वान्वेपी। जहां मैं वस्तु को शोधना-बिठाना चाहता हूं, वहां होना ही चाहिए मुझे गणितज्ञ की भांति सावधान। जहां स्फूर्तिदान एवं चैतन्योत्पादन लक्ष्य है, वहां होना होगा कलाकार।"

जैनेन्द्र हिन्दी-संसार के सम्मुख 'परख' के कलाकर के रूप में आये थे। उनकी कथाओं ने हिन्दी-भाषियों के ध्यान को सहसा आकृष्ट कर लिया। क्योंकि जैसे कि स्व० प्रेमचन्द जी ने 'हंस' (वर्ष ३ संख्या ४) में लिखा था, उनमें "अन्तःप्रेरणा और निष्कपट जैसे बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो।...उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढंग

से कहने की शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषा में एक खास लोच, एक खास अन्दाज है।" धीरे-धीरे कथा-शिल्पी जैनेन्द्र विचारक के रूप में सामने आने लगे और परसों मेरे एक मित्र ने मजाक में यहां तक कह दिया कि 'अब वे सूत्रकार होते जा रहे हैं।' आशय, जैनेन्द्र की मनोभूमि में कलाकार से दार्शनिक की ओर बढ़ने वाली विकास-प्रेरणा मननीय तत्व है।

यहां मुझे नवम्बर ३६ के 'हंस' में प्रकाशित अपने लेख के कुछ अंश उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है। "वस्तुत: जैनेन्द्र में, क्या जीवन और क्या साहित्य, घर और बाहर, व्यक्ति और समष्टि, एक दूसरे के प्रति चिर-अपेक्षाशील रहे हैं। जैसे एक का दूसरे के विना अस्तित्व ही असम्भव है। पर फिर भी उसमें व्यक्ति और घरवाला (यानी समाज-सम्मत व्यक्ति-केन्द्र-बोधक) जो तत्व है वह दूसरे के ऊपर अधिक अधिकार से रौब जमाता हुआ चलता जान पड़ता है। यही लौकिक और अलौकिक, वास्तव और सत्य, अनेक और एक का जो भेदा-भेद है वही जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की विशेषता है। जैनेन्द्र ऐसी सुलझन हैं जो पहेली से भी अधिक गूढ़ हो। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे। वे इतने निरभिमान हैं कि वही उन का अभिमान है। वे परिस्थितियों से ऐसे आवद्ध हैं कि उसी में उन्होंने अपनी मुक्ति मान ली है।"

अर्थात् जैनेन्द्र में विचारक कलाकार अपने कलात्मक और विचारा-त्मक अस्तित्व को किसी भी प्रकार, कभी, कहीं भी, जरा भी एक दूसरे से अलग न देख पाता है और न रख ही पाता है।

साहित्यकार जैनेन्द्र : शैली का वैशिष्ट्य

और यह सामंजस्य किस सफाई और महिम्नता से व्यक्त हुआ है ? उनके लेखों में उन्हें पढ़ने से बातचीत का अथवा स्वयं उन्हीं से बात-

चीत करने का मज़ा कैसे उत्पन्न होता है, यह दर्शनीय है। यहाँ साहित्य के एक अध्ययनशील विद्यार्थी के नाते जैनेन्द्र के साहित्यिक विचारों पर मुझे कुछ कहना ज़रूरी जान पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक का आधे से अधिक अंश साहित्य और आलोचना से भरा है। साहित्य क्या, साहित्य और समाज, साहित्य और धर्म, साहित्य और राजनीति, साहित्य और नीति, साहित्यकार कौन, कैसा आदि लेख, लेखक सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, कुछ पत्र और नेहरू जी के आत्मचरित और प्रेमचन्द पर लिखी हुई आलोचनाओं से मेरा मतलब है। साथ ही स्थान-स्थान पर साहित्य-सभाओं में दिये हुए भाषण भी उस में आ जाते हैं। साहित्य शब्द के निर्माण में जो 'सहितता' अर्थात् समवेतता या व्यक्ति में समष्टि की उपलब्धि के अर्थ विश्व में बिखर जाने की जो अन्तरतम लालसा है, साहित्य को उसी का शब्दांकित रूप जैनेन्द्र ने माना है। इस दृष्टि से उन्होंने उसे विज्ञान या दूसरे ऐसे बुद्धि-व्यवस्थाओं से अलग माना है। साहित्य मुख्यतः भावों का आदान-प्रदान है। वह विचार-जागृति का विधायक प्रणेता है। इस अर्थ में वह निष्प्राण, जीवन से भिन्न, असंबद्ध और विभक्त, अथवा वासनासेवी कभी नहीं हो सकता।

साहित्य की सीमाओं और जिम्मेदारियों को भली भांति पहिचानकर ही जैनेन्द्र ने साहित्य लिखा है, यह कहना अयुक्त न होगा। उनके साहित्य में सबसे प्रथम और विशेष गुण, उनकी भाव-रम्य सहज वार्तालाप शैली के अतिरिक्त, उनकी विचार-प्रवर्तकता है। उनके विचारों का चाहे प्रत्याख्यान हम करें, पर यह तो हम कदापि कह ही नहीं सकते कि वे पाठक या श्रोता के मन में विचार-लहरियां नहीं उठाते। उनकी लेखनी की क्षमता इसी में है कि वह विचारों को ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है। एक अच्छे लेखक से प्रामाणिकता और विचार-प्रवर्तकता से अधिक कोई मांग करना भी भूल है। पश्चिमी साहित्य पढ़-पढ़कर हमारे दृष्टिकोण में कुछ इस तरह की एक ख़राबी पैदा हो गई है कि

हम उसी साहित्य को ज्यादह उत्कट मानते हैं जो मतप्रचार से भाराक्रान्त हो। जैसे अप्टन सिक्लेयर या ऐसे ही छलछलाती शैली और भावों के अन्य ग्रन्थकार। भारतीय आदर्श ऐसी भाव-विषमता के आवेश से पैदा हुए या नसों में ज्वार-उभार पैदा करने वाले साहित्य से सर्वथा भिन्न रहा है।

इस संग्रह की विशेषता

प्रस्तुत संग्रह में जैनेन्द्र कुमार के सन् ३३ से सन् ५३ तक के बीस वर्षों के साहित्य-विषयक चिन्तन को एक स्थान पर एकत्र करने का यत्न किया गया है। यह साहित्यविषयक विचार कहीं सीधे लेखों में, कहीं पुस्तकों की या लेखकों की आलोचना के रूप में, कहीं प्रश्नोत्तर रूप में और कहीं पत्रांशों में प्रकट हुए हैं। इन साहित्यविषयक विचारों में एक प्रकार की अन्विति है, एक निरंतरता है, एक आग्रहशून्य आग्रह है। सहजता उनके विचार का उत्स है। वही उनके विचारों की ऋजुता और प्रवहमानता का आधार है और वही उनका साध्य भी है। कहीं-कहीं साहित्य-समीक्षा के विद्यार्थी के लिए आदर्शवाद की, आशय नैतिकता की, सौंदर्यदृष्टि पर विजय सी जान पड़ सकती है। परंतु अन्ततः उस में मानव-कल्याण की, लोकमंगल की, भावना स्पष्टतः ध्वनित होती है।

आशा है कि जैनेन्द्र जी के साहित्य-विषयक इन विचारोत्तेजक, गंभीर और मूलग्राही लेखों का समुचित स्वागत होगा, उन पर वाद-विवाद चलेगा और अन्ततः हम साहित्य के सही मूल्यांकन में सहायक सही दृष्टि कुछ अंश तक पा सकेंगे।

नई दिल्ली
२०-२-५३

—प्रभाकर माचवे

: १ :

मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय

रेडियो की यह मांग कि मैं अपने साहित्य का श्रेय बताऊं और प्रेय बताऊं, मुझे कुछ हैरान करती है। इसलिए पहले यह खयाल था कि इस सवाल का जवाब देने का जिम्मा न उठाऊंगा और बात टाल छोड़ूंगा। कह दूंगा कि जो मेरे नाम पर छपा हुआ मिलता है उस पर पढ़ने वालों का पूरा हक है, मेरा हक नहीं है, और इस तरह के सवाल मुझे छोड़ कर पाठकों से करने चाहिएं। लिखकर मैं तो उससे बरी हो गया हूं और वह माल दूसरों के क़ब्ज़े का है, यानी मेरे सिवा सब का है।

लेकिन, सच यह कि उस सवाल ने मुझे खींचा भी है। इसलिए नहीं कि सचमुच अपनी तरफ से कोई खास श्रेय डाल कर लिखाई का काम मैंने किया है, बल्कि इसलिए कि उससे मेरे लिए अपने को टटोलने की ज़रूरत पैदा होती है।

जवाब देते वक्त सवाल के प्रेय शब्द को मैं टाले दे रहा हूं। आंखों को अच्छा लगे वह प्रेय, इस तरह प्रेय रूप होता है। लेकिन विवेक रूप को नहीं देखता, गुण को देखता है। या कहें कि गुण की अपेक्षा में रूप को देखता है। इस तरह लिखने के मामले में प्रेय का मैं अविश्वासी हूं। यह नहीं कि आंखें रूप पर नहीं जातीं, पर साथ ही चाहता हूं कि मन रूप पर न जाए। लेखक की हैसियत से, इसलिए, मैंने रूप पर जाने वाली आंखों को, जहां तक बस चला है, बहकने नहीं दिया है। यानी मेरी रचनाओं में सुन्दरता नहीं है। आकृति और रूप का वर्णन मेरी कलम में नहीं उतरा है। कहीं भूले-भटके यदि वह मिल जाता है तो मेरी ओर से साथ-साथ व्यंग का इशारा भी वहां गया है। रूप मुसीबत है—उसके

लिए तो पहले कि जिसमें है, फिर उसके लिए भी कि जो उस पर रीझता है। रूप इस तरह छल है। एक ओर मान के साथ मिला हुआ है तो दूसरी ओर कामना के साथ। अपने अन्दर की कामना बाहर, रूप की सृष्टि कर दिखाती है। अध्यापक के लिए जो लड़की निकम्मी है, प्रेमी के लिए वही अप्सरा है। इसे आंखों का ही फर्क कहना चाहिए। इसलिए रूप तो देखने वाले की आंखों में है, वैसे वह कहीं नहीं है। इस तरह प्रेय को तो मैं छोड़ कर ही चलना चाहता हूं।

छोड़ने का मतलब कुछ और आप न ले जायं। शरीर, इन्द्रिय और मन समेत हम चलते और चल सकते हैं, तो प्रेय के ही पीछे। भगवान् या आदर्श या सत्य कितना भी कुछ हो, हमारी लगन ही उससे नहीं लग गई है; यानी प्रियतम भी अगर वह हमारे लिए नहीं हो गया है, तो वह हमारे अन्दर किसी भूले कोने में ही पड़ा रहेगा। तब देखेंगे कि नाम जब हम राम का ले रहे हैं, तब ध्यान रूपसी का कर रहे हैं। राम की ओट में काम अन्दर से झांक रहा है। इसलिए और किसी को चाहे छुट्टी रहे, जीवन से प्रेय को तो छुट्टी मिल नहीं सकती। फिर भी प्रेय है छल। आंख के आगे की तस्वीर हर घड़ी अदलती-बदलती है, तभी आंख अपना काम करती है। चंचल न हो, वह आंख नहीं। सो ही रूप का हाल है।

इस उलझन का एक ही उपाय है। वह यह कि प्रेय तो रहे, पर श्रेय से दूर न रहे। अर्थात् बाहर की बन्द कर अन्दर की आंख से, जिसे विवेक कहते हैं, हम देखें और बाहर की आंख को कहें, यानी बराबर इसके लिए साधते रहें, कि दीखने वाले रूप को भी वह उससे अन्यत्र कहीं न देखे।

आखिर निर्गुण भगवान् को इसीसे तो मनुष्य के निकट आकर सगुण बनना होता है। यह मैं नहीं मान सकता कि यथार्थ में राम और कृष्ण कामदेव से कुछ भी न्यून न रहे होंगे। फिर भी भगवान् को जब राम और कृष्ण में हमने देखा, तो क्या अपने वस का सुन्दर से सुन्दर

रूप हमने उन प्रतीकों में नहीं ला उतारा। इस तरह वे परम-पुरुष रूप की ओर से भी भुवन-मोहन बन गए।

इसी से कहना होगा कि सत्य से सुन्दर कुछ है ही नहीं। सूरज से धूप मिलती है, धूप में क्या रूप है ? जो है, वह आंख के बस का नहीं है, इतना धौला है। पर क्या उसीकी कुछ किरणों में से सतरंगी इन्द्र-धनुष हमको नहीं प्राप्त होता ? बालक धूप का आदी है, लेकिन आस-मान में सतरंगी धनुष को खिचा देख कर वह एकाएक किलकारी मार उठता है। देखते-देखते वह धनुष मिट जाता है और वह विचारा आस लगाता है कि कब वही बांकी सतरंगी कमान फिर देखने को मिलेगी। मानो, उसके आनन्द के निकट दुनिया उस धनुष के कारण ही सच हो, अन्यथा सब फीका हो और व्यर्थ।

मानना होगा कि हमारी आंखें क्योंकि रूप पर खुलती हैं, इसलिए, अगर कोई सत्य हो तो उसे हमारे सामने रूपवान् होकर ही आने का साहस करना चाहिए। और सचमुच साहित्य इसका ध्यान रखता है। आदमी की इस पहली असमर्थता का ध्यान न रख कर चलने वाले दार्शनिक जीवनभर सत्य तत्व खोजते और शब्दों में उन्हें गूंथ कर बखेर जाते, हैं। पर कोई उन्हें लूटने नहीं लपकता। सुन्दर नहीं है, सच पूछिए तो, उपयोगी सत्य वही है। पर सत्य के उपयोग से विरलों को काम। पहली आवश्यकता लोगों की है. प्रेम, और रूप से अन्धे होकर प्रेम कैसे हो। मैं मानता हूं कि साहित्य सत्य के प्रति मनुष्य में वही अनन्य प्रेम उत्पन्न करता है, और वह अनजाने तौर पर, क्योंकि जिस प्रेय को वह पाठक की रागात्मक वृत्तियों के आगे प्रत्यक्ष कर उठाता है, वह फिर उत्तरोत्तर शिव और सत्य के सिवा कुछ दूसरा है ही नहीं।

इस जगह आकर मान लेता हूं कि प्रेय से मेरी छुट्टी हुई, क्योंकि वह सरक कर श्रेय में मिल गया और स्वयं से खो गया।

तो, श्रेय की जहां तक बात है, मैं स्वार्थ से चलना चाहता हूं। तब

मेरे साहित्य में क्या श्रेय है जो पाठक को देने का कष्ट मैं करता हूं, यह प्रश्न ही इस रूप में नहीं रहता। ज़रूर, अगर साहित्य में श्रेय होगा तो पहले लिखने वाले का होगा। पढ़ने वाले को इस मामले में अनिवार्य पीछे रहना होगा। अपने लिखने का पहला लाभ मुझे मिलेगा और मैं लूंगा। उसके बाद पाठक को भी अगर कुछ मिलता होगा तो उसकी कैफ़ियत वह देगा। मैं तो उसे यही कहूंगा कि वह मेरा कृतज्ञ न हो। इस तरह मेरी रचना से उसे मिलने वाला लाभ तो उच्छिष्ट ही है। इसमें पूछिए तो कृतज्ञ होने के कारण मेरे ही पास हैं।

सारांश, मैं स्वान्तःसुखाय पर अटकने को तैयार हूं। लोकहिताय तक न भी जाऊं तो भी कोई हानि नहीं देखता।

तो, अपने श्रेय के लिए मैं अपनी आपबीती पर जाऊंगा। लिखना शुरू हुआ तब मेरी बुरी हालत थी। अन्दर से बुरी, पर बाहर से और भी बुरी। उमर काफ़ी, करने को कुछ नहीं, पूछने को कोई नहीं, अकेला, अविश्वस्त और असमर्थ। अकेला मैं, अकेली मां। आयु में वृद्धा होती जाती हुई मां को लेकर अपनी असमर्थता और अपात्रता पर मैं बेहद अपने में डूबता जाता था। इस हालत में सोच होता कि दुनिया में तू एकदम अनावश्यक है। फिर धरती का बोझ क्यों बढ़ाता है? हर पल को बोझ के मानिंद तुझे ढोना पड़ रहा है। चल, काल से छुटकारा ले और दुनिया को छुटकारा दे। पर यह खयाल पूरा नहीं हो सका। क्योंकि मां की ओर से ऐसा लग आता था कि शायद मेरी भी आवश्यकता है, मां के लिए मुझे मरना नहीं है। पर जीना कैसे है, यह भी सोच न मिलता था। ऐसी बेबसी में मैंने लिखा और उस लिखने ने मुझे जीता रखा।

जानता हूं, तरह-तरह की थियरीज़ हैं। एक अरुचि और व्यंग्य का शब्द है एसकेपिज्म। अनुवाद से हिन्दी में उसे बनाया गया है—पलायन-वाद। मेरे अपने मामले में लिखना मेरे लिए शुद्ध इस्केप और ...यन था।

इसलिए पहला श्रेय मेरे साहित्य का यह हुआ कि उसने मेरी रक्षा की। मैं बचकर उसमें शरण ले सका, उसने मुझे जिलाया। अपने भीतर की आत्म-ग्लानि, हीन-भावनाएं और उनमें लिपटी हुई स्वप्नाकांक्षाएं—इस सबको कागज पर निकाल कर जैसे मैंने स्वास्थ्य का लाभ किया। जो मेरे अन्दर घुट रहा और मुझे घोट रहा था, उसी को बाहर निकालने की पद्धति से देखा कि मैं उससे मुक्ति पा रहा हूं। उसके नीचे न रह कर उसके ऊपर आ रहा हूं। जो कमजोरी थी और मुझे कमजोर कर रही थी उसी को स्वीकार कर लेकर, और रूप और आकार पहना देकर, मैं अ-कमजोर—क्या मजबूत ?—बन रहा हूं।

इस अनुभव में से मैं कहूंगा कि साहित्य का पहला श्रेय है जीवन का लाभ। अपनी अंतरगता की स्वीकृति और प्राप्ति, अपने भीतर के विग्रह की शांति, उलझन की समाप्ति और व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकत्रितता।

शुरू में जो लिखा वह उन दबी हुई भावनाओं का रूपक था जो स्थिति की हीनता से कल्पना की सुरक्षितता में अपना बसेरा बसा-फैलाकर फलती-फूलती हैं। कुछ कहानियां बनीं जिनमें मैं जो खुद न बन सकता था वह कहानियों के नायकों के जरिये बन गया। मैं भीरु था, लेकिन कहानी लिखी गई जिसका डाकू सरदार बड़ा दिलेर था। और उसका शीर्षक हुआ परीक्षा, मानो परीक्षा मेरी थी। फिर पीछे तो शायद प्रकाशक ने बेचने की तदबीर में उस परीक्षा को फांसी बना दिया। देशप्रेम के शब्द से हवा उन दिनों भरी थी और मैं घर में बैठा किंकर्तव्यविमूढ़ता में ऊंघा करता था। सो, कहानी लिखी गई देशप्रेम और उसमें दो प्रतापी पुरुष मूर्त हुए। एक उनमें वाक्शूर थे, दूसरे कर्मवीर। इसी सपाटे में मुझ अकर्मण्य ने स्पर्धा करके एक कहानी लिख डाली जो सचमुच ही स्पर्धा बन गई। जैनी होकर यहां चींटी न मरती थी, वहां कहानी में बम और तमंचे वाले एक से एक बढ़ कर लोग खड़े हो आए।

बंगाल ने क्रान्ति का मन्त्र फूंका था । मुल्ला की दौड़ मसजिद तक तो होगी, मेरी तो घर से आगे तक न थी । शायद इसी से घर बैठे-बैठे मुझे बंगाल लांघ कर इटली तक जाना पड़ा । वहां के मेजिनी को बख्श दिया, यह बहुत समझिए । नहीं तो गेरीबॉल्डी को मेरी क़लम की नोक पर आना पड़ा और कहानी में वही करना पड़ा जो मैंने चाहा ।

इन कहानियों के लिखने ने मुझ सांस तोड़ते को सांस दी । अब सुनता हूं, एक यथार्थवाद होता है, जिसके मुकाबले में दूसरा आदर्शवाद होता है । यथार्थ से मैं क्या खींच सकता था ? तीस रुपए की नौकरी भी मैं उसमें से नहीं खींच सका था । तब जहां से यह तीन कहानी खींच लाया और खींचकर उनके जोर से थोड़ा कुछ जी पाया, उस जगह का नाम जो भी कोई दे, पर उससे उऋण मैं कैसे हो सकता हूं । उससे टूट भी कैसे सकता हूं । यथार्थ अगर वह नहीं है तो मेरे लिए यथार्थ की आवश्यकता भी नहीं है । इसी तरह आदर्श को भी उससे अलग मैं लेना या जानना नहीं चाहता ।

हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है । मैला उसमें है, धौला उसमें है । उस सबको स्वीकार करके शनैः शनैः उसे बाहर निकालकर अपने को रिक्त करते जाना— मेरे खयाल में यह बड़ा काम है । इससे अलग सर्जन क्या होता होगा, वह मैं जानता नहीं हूं ।

यह तो कहानी लिखने में से आया । फिर उस कहानी के छपने में से आया, वह भी श्रेय के जमा खाते में है । अपनी दर्पण में तस्वीर देखते हैं, तब अपनापन हमपर खुलता है । छपने से यह हुआ । लिखा हुआ मेरा अंग था, छपा हुआ सबका हो गया । इस लिए वह एक स्वत्व और सम्पत्ति बन गया । करिश्मा यह हुआ कि मेरी तरफ से कहानी गई और दूसरी तरफ से एक मनीआर्डर चला आया । मानता हूं कि तीन में से दो कहानियां पहली बार द्रव्य की भाषा में कुछ लौटाकर नहीं लाईं । पर तीसरी ने जाकर वहां से जो मनीआर्डर चला दिया, सो एक बहुत ही

विलक्षण बात हुई । इससे आत्मिक से अलग कुछ शारीरिक, या कि कहना चाहिए, ऐन्द्रियिक स्वास्थ्य मिला।

इसी पहले दौर में एक कहानी जो ले,कर बैठा कि अटक गया । देखा कि मन में काफी विकल्प उपज रहे हैं और ताना बाना फैलता जा रहा है। इस से तो मैं डर गया । छापे में छह-सात-आठ पृष्ठों में चीज आ जाए तो ठीक है, पर यह बला तो उतने में समाने वाली नहीं दीखती। इस उलझन में पड़कर तीन चार सफ लिखे हुए दूर हटा फेंके। पर कुछ और करने को न था और लिखने से मिली ताजगी तीन-चार दिन में चुक कर खतम हो गई थी। फिर वही मुर्झाहट। सोचूं कि लिखूं तो वही पुरानी उधेड़बुन के तार दिमाग में जाग जाएं। आखिर टालता कब तक ? इस तरह उस कहानी को लिखे चला गया, तो बन गई परख।

परख में क्या श्रेय है और क्या प्रेय है—इस के उत्तर में मुझे निश्चय है कि साहित्य का अध्यापक और विद्यार्थी अत्यन्त प्रामाणिक रूप में बहुत कुछ कह सकेगा। पर मैं इतना जानता हूं कि उसके सत्यधन की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है। और, कट्टो वह है जिस ने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता था। यानी यथार्थता की धरती से उठ कर, उन सब चित्रों में जिन्हों ने मिलकर परख की कथा को रूप दिया, मेरी भावनाएं और धारणाएं ही अनायास भाव से बुनती गई हैं।

इस ऊपर की बात से मेरा यह मतलब ह कि व्यक्ति को सीधे अपने जीवन में मिलने वाला जो लाभ है वह साहित्य का पहला श्रेय है। शायद उसको व्यक्तित्व लाभ ही कहना चाहिए। यानी लिखने के द्वारा मैंने क्या श्रेय देना चाहा है, यह दूसरे नम्बर की और गौण बात है। उस लेखन द्वारा, नाना चरित्रों की अवतारणाओं में से, मैंने अपनी निजता में किन परिणतियों का उपभोग किया है, वही प्रथम और प्रमुख बात है।

लेखक देने के लिए कुछ दे सकता है, यह मेरी समझ में नहीं

आता। पड़ौस का हलवाई तय कर सकता है कि आज मुझे यह इतना और वह उतना बनाना है, पर कोई दरख्त भी क्या यह सोच सकता है कि सेब नहीं उसे अपने ऊपर अनार उगाना है ? जो स्वयं में है उस के सिवा फल में कुछ और होगा ही कैसे ? इसलिए सेब यह भी नहीं सोच सकता कि उसे सेब का फल देना है।

यह नहीं कि लेखक पेड़ है। पर निश्चय लेखक हलवाई नहीं है। यानी अपने साहित्य द्वारा वह कुछ इष्ट, कुछ श्रेय या आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहता हो तो यह उसके कर्म से असंगत बात नहीं है; लेकिन, फिर वह इष्ट या उद्दिष्ट उसके लिए बौद्धिक प्रतिपादन का विषय नहीं रह जाएगा। अर्थात् भावना से अलग धारणा में, या कि वासना से अलग भावना में उसकी स्थिति नहीं है। समूची मानसिकता में उसको रमा और समाया हुआ होना चाहिए।

अपने साहित्य में कुछ मैंने शब्द के द्वारा कहा है, कुछ चित्र के द्वारा व्यक्त किया है। चित्रात्मक यानी कथा साहित्य। वहां आप तो कुछ कहते नहीं, कथा के पात्र ही कहते-सुनते हैं। फिर उनकी बातें उनकी अपनी प्रकृति और कथा की परिस्थिति से बनती हैं। कोई परस्पर की अनुकूलता होना उनमें ज़रूरी नहीं है, बल्कि प्रतिकूलता और अन्तर्विरोध भी उनमें हो सकते हैं। मुझे यह भी लगता है कि एक कथा की, पात्र की, या व्यक्तित्व की निजता में जितना गहरा और गंभीर विरोध समा सकता है उतना ही उसका महत्त्व है। फिर कथा के किस पात्र या पात्र के किस वाक्य और समूची वस्तु के किस पहलू में उस मन्तव्य को देखा जाए जिसको श्रेय समझकर लेखक ने कलम उठाई है ?—स्पष्ट ही इस निर्धारण का काम मुश्किल है और जोखम से भरा है।

असल में तो एक कहानी से या पुस्तक से कुल मिलाकर एक प्रभाव पड़ना चाहिए। उस प्रभाव की एकता में नाना तत्त्वों की अनेकता तो

रहेगी ही। किंतु उन तत्त्वों के नानात्व में रचना के श्रेय को भी नानाविध नहीं देखना होगा।

सीधा शब्दों द्वारा जो कहा गया वह निबन्ध साहित्य तो, मैं मानता हूं, मुझे पाठक के हाथों पकड़ाई में दे ही देता है। कथा में लक्षणा, व्यंजना और व्यंग का सहारा हो और उसके बारे में द्विविधा भी होती हो, पर निबन्धों में तो काफी प्रत्यक्ष और स्थूल रूप से मैंने अपनी धारणा के श्रेय को खोला और बताया है।

यहां याद आता है कि मैंने एक बार स्वर्गीय प्रेमचन्द से पूछा था कि बताइए अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है? उन्होंने बिना देर लगाए उत्तर दिया : धन की दुश्मनी।

मैं अपने से वही पूछूं तो उत्तर मिले : बुद्धि की दुश्मनी।

जानता हूं प्रेमचन्द को धन प्यारा था, और बुद्धि को किसी मोल में नहीं छोड़ सकता हूं। लेकिन मेरे अन्दर सबसे गहरे में यह प्रतीति है कि बुद्धि भरमाती है। अक्सर वह श्रद्धा को खाती है। इंद्रियों की तरह बुद्धि भी पदार्थ के लिए है। जगत् के और पदार्थ के साथ निबटना ही उसका क्षेत्र है। शेष में उसे पूरी तरह श्रद्धा के अंकुश में रहकर चलना होगा।

तो, एक तरह से या दूसरी तरह से, सीधे या टेढ़े, उघड़ी कि लिपटी, वही-वही बातें मैंने कहनी और देनी चाही हैं।

बुद्धि द्वैत पर चलती है। इसलिए मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखंड और अद्वैत सत्य। उसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकंपा : यानी अहिंसा।

: २ :

साहित्य क्या है ?

साहित्य की सृष्टि और साहित्य की आधुनिक प्रगति पर आलोचनात्मक विचार आरंभ करें, इससे पहले अच्छा होगा कि उस बारे की अपनी जानकारी को हम स्पष्ट कर लें।

साहित्य क्या है ? यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तर में वह परिभाषा पा सकेंगे जो प्रश्न के चारों खूंट घेर ले। परिभाषा का यह काम नहीं है। परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्न को सर्वथा मिटा नहीं देती। परिभाषा द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न को मिटा देने का यत्न हमें नहीं करना चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकार के ज्ञान के आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस चिह्न को ठेलकर आगे से आगे बढ़ाते रहें। पर यह भी हम करें कि उसे अपनी आँखों की ओट कभी न होने दें। जब ऐसा होता है तभी आदमी में कट्टर आग्रह और हठधर्मिता आती है और उसका विकास रुक जाता है।

इस तरह एक परिभाषा बनाएँ और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनाने को तैयार रहें। यह प्रगतिशील जीवन का लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील, जीवन का लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है। इसी को यों कहें कि मनुष्य का और मनुष्य-जाति का भाषा-बद्ध या अक्षर-बद्ध ज्ञान साहित्य है।

प्राणी में जब नव्यबोध का उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'यह मैं हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है।' यह दुनिया बहुत बड़ी है, इसका आर-पार नहीं है,—और मैं अकेला हूँ। यह अनन्त

है,—मैं सीमित हूं, क्षुद्र हूं। सूरज धूप फेंकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे वहा ले जायगा और डुवा देगा, ये जानवर चारों ओर 'खाऊँ खाऊँ' कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मैं भी हूँ और जीना चाहता हूँ।

वोधोदय के साथ ही प्राणी ने शेष विश्व के प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रह की वृत्ति अपने में अनुभव की। उसमें हुआ कि इससे टक्कर लेकर मैं जीऊँगा, इसको मारकर खा लूंगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है। यह और भी जो कुछ है, सब मेरे जीवन को पुष्ट करेगा।

वोध के साथ ही यह चुनौती, यह स्पर्द्धा मनुष्य में जागी। यह था अहंकार। किन्तु अहंकार अपने में ही टिक नहीं सकता। अहंकार भी एक सम्बन्ध था जो क्षुद्र ने विराट् के प्रति स्थापित किया। विराट् के अववोध से क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्र ने कहा, 'ओह, मैं मैं हूँ और यह सब मेरे लिए है।'

इसी ढंग से क्षुद्र ने अपना जीवन सम्भव वनाया।

आदमी ने चकमक के दो टुकड़ों को रगड़ कर अग्नि पैदा की। पर उसने यह नहीं कहा, 'चकमक के टुकड़ों को रगड़ा इससे आग पैदा हुई है।' उसने नहीं कहा, 'देखो, मैं इस तरह आग पैदा कर लेता हूँ।' उसने माना, अग्नि देवता प्रसन्न हुए हैं। उन्हीं का प्रसाद है कि यह स्फुलिंग उसे प्राप्त हुआ है। चकमक की रगड़ तो प्रसाद-प्राप्ति के लिए निमित्तमात्र साधन है।

आज दियासलाई जलाकर हमने आग पाई और एक फार्मूला (=सूत्र) प्रस्तुत किया कि अमुक रसायन-तत्त्वों से वनी दियासलाई को अमक मसाले से रगड़ने पर अवश्य अग्नि प्राप्त होगी। उस फार्मूले के सहारे से हमने देवता का निर्वासन कर दिया और अग्नि हमारी चेरी होकर रह गई।

यह फार्मूला-बद्ध धारणा स्पष्ट, निश्चित, और कदाचित् अधिक तथ्यमय अवश्य है, किन्तु अनुभूतिसूचक नहीं है। इस धारणा से हमारे चित्त के किसी भाव को तृप्ति नहीं प्राप्त होती।

अधिकाधिक अनुभूति-संचय और अवबोध-वृद्धि के बाद मनुष्य ने अपने को ज्ञाता अनुभव करना आरम्भ किया। उसने अपने को पदार्थों से और पदार्थों को अपने से एक बार अलग करके फिर उन्हें बुद्धि के मार्ग द्वारा अपने निकट लाने की चेष्टा की।

हम कह चुके हैं कि मानव अपनी सब चेष्टाओं, सब प्रयत्नों और सब प्रपंचों द्वारा जाने-अनजाने एक ही सिद्धि की ओर बढ़ रहा है। और वह सिद्धि है,—अपने को विश्व के साथ एकाकार कर देना और विश्व को अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना। बुद्धि के उपयोग द्वारा भी वह इसी अभेद-अनुभूति तक पहुँचना चाहता है। किन्तु मानव-बुद्धि उस तल की वस्तु है जहाँ का सत्य विभेद है, अभेद नहीं। वह अन्वय द्वारा चलती है, खण्ड-खण्ड कर के समग्र को समझती है। अहंकार उसकी भूमिका है और ज्ञेय का पार्थक्य उसकी शर्त।

किन्तु जीवन की इस सम्भावना में ही विराट् और क्षुद्र, अनन्त और सांत का अभेद सम्पन्न होता दीखा। वह अभेद सहज ही यह कि जो कुछ है वह अपने में न-हो तो क्षुद्र क्यों, वह तो विराट् का अंग है, उसका अवयव है, अतः स्वयं विराट् है।

धूप चमकी, तो वृक्ष ने मनुष्य से कहा, 'मेरी छाया में आ जाओ।' बादलों से पानी बरसा, तो पर्वत ने कंदरा में सूखा स्थल प्रस्तुत किया और मानो कहा, 'डरो मत, यह मेरी गोद तो है।' प्यास लगी, तो झरने के जल ने अपने को पेश किया। मनुष्य का चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनी पर से खिले गुलाब ने कहा, 'भाई मुझे देखो, दुनिया खिलने के लिए है।' साँझ की बेला में मनुष्य को कुछ

भीनी-सी याद आई, और आम के पेड़ पर से कोयल बोल उठी, 'कू—ऊ, कू—ऊ।' मिट्टी ने कहा, 'मुझे खोद कर, ठोक-पीट कर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूप ने कहा, 'सर्दी लगेगी तो सेवा के लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबराओ मत, मुझ में नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य-प्राणी ने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, धूप को वह समझ न सका। वर्षा के जल को, मिट्टी को, फूल को—किसी को भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्म-समर्पण के लिए तैयार नहीं हैं ? फिर भी उस क्षुद्र ने अहंकार के साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मैं 'मैं' हूँ और मैं जीऊँगा।'

इस प्रकार अहंकार को टेक बनाकर, अपने को ह्रस्व और सब से पृथक् करके वह जीने लगा। अर्थात् सब प्रकार की समस्याएँ खड़ी करके उनके बीच में उलझा हुआ वह रहने लगा। विश्व के साथ विभेदवृत्ति ही, उसके जीने की शर्त बन कर, उसके भीतर अपने को चरितार्थ करने लगी।

पर इस जीवन में एक अतृप्ति बनी रही जो विश्व के साथ मानों अभेद की अनुभूति पाने की भूखी थी। अहंकार से घिर कर अपने क्षुद्रत्व के अवबोध से वह त्रस्त हुआ, त्यों ही विराट् से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता उसमें उत्पन्न हुई। इस व्यग्रता को वह भाँति-भाँति से शान्त करने लगा। यहीं से धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए।

अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था तो दूसरा वर्तमान।—इन्हीं दोनों के संघर्ष और समन्वय में से मनुष्य प्राणी के जीवन का इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ और इस तरह स्वयं अपने साथ जो एक सुन्दर समंजसता, समरसता, समस्वरता (=Harmony) स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य-जाति की समस्त संगृहीत निधि की मूल । अर्थात् मनुष्य के लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूप में उसी एक सत्य-चेष्टा का प्रतिफल है । इस प्रक्रिया में मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियों का भोग किया है । सफलता की, विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, भीति, आह्लाद, घृणा, और प्रेम—सब भाँति की अनुभूतियाँ जाति के शरीर ने और इतिहास ने भोगीं, और वे जाति के जीवन और भवितव्य में मिल गईं। भाँति-भाँति से मनुष्य ने उन्हें अपनाया और व्यक्त किया। मंदिर बने, तीर्थ बने, घाट बने—शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्तियाँ बनीं और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्य ने अपने हृदय के भीतर विश्व को यथा-साध्य खींच कर जो-जो अनुभूतियाँ पाईं,—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदि का उपादान ले उन्हें ही वस्तु-तथ्य में ढाल कर रख जाने की उसने चेष्टा की। परिणाम में हमारे पास ग्रन्थों का अटूट-अतोल संग्रह है, और जाने क्या-क्या नहीं है।

मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी अक्षरांकित रूप में जो अनुभूति-संचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

: ३ :

विज्ञान और साहित्य

ज्ञान की प्राथमिक अवस्था में मनुष्य के निकट स्वप्न और सत्य में अधिक भेद न था । जो उसने सपने में देखा, जो कल्पना की, उसे ही सच मान लिया । और जिसको आजकल हम वास्तव कह कर चीन्हते हैं,—पत्थर, धातु, आदमी, समाज, सरकार,—ये सब-कुछ उसके लिए उतना ही अनिर्दिष्ट अथवा संशयास्पद था जितना कि उसका स्वप्न ।

आंख खोलते ही उसने देखा,—सूरज है जो चमकता है । उसने तुरन्त कहा, 'सूरज बड़ा कान्तिमान् देवता है ।' उसने और भी देखा कि सूरज पूरब में उगता और पच्छिम में डूबता है, इस तरह चलता भी है,—उसने कहा 'सूरज देवता के रथ में सात घोड़े हैं जो उसे तेजी से खींचते हैं ।' यों आदिम मनुष्य ने जब सूर्य को देखा तब उसे आह्लाद हुआ, विस्मय हुआ, भक्ति हुई और सूरज के सम्बन्ध में उसने जो धारणा बनाई उसमें ये सब भाव किसी न किसी प्रकार प्रगट हुए। सूर्य उसके निकट एक पदार्थमात्र न रहा जो बोधगम्य ही हो, वह उस के निकट देवता बन गया।

आंख मींचने पर उसने सपने देखे । देखा, वह पक्षी की तरह उड़ सकता है, मछली की तरह पानी में तैर सकता है,—पल-भर में सागरों को वह पार कर गया, सागरों के पार हरियाली ही हरियाली है और वहां मीठी बयार चलती है । उसने झट से कहा,—'वह है स्वर्ग । वहां अत्यन्त स्वरूपवान् व्यक्ति बसते हैं, वहां दुःख है नहीं, प्रमोद ही प्रमोद है ।'

यह सपने का स्वर्ग उसके निकट वैसा ही वास्तव होकर रहा जैसा

आँखों से दीखने वाला सूरज। सूरज के प्रति उसने जल का तर्पण दिया तो इसी प्रकार अन्य देवताओं का समारोप करके उसने उनके प्रति अपने कृतज्ञ आह्लाद का ज्ञापन किया। देवताओं के नाम बने, मूर्तियाँ बनीं, स्तवन बने। और यह देवता लोग उसके जीवन के साथ एकाकार होकर हिल-मिलकर रहने लगे।

इस प्राथमिक ज्ञान के उद्बोधन की अवस्था में मनुष्य ने अपने को जब विश्व से अलहदा अनुभव किया तब उसके साथ भाँति-भाँति के रिश्ते भी कायम रक्खे। उन्मीलन की उस दशा में उसका समस्त ज्ञान अनुभूति-सूचक ही रहा। विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान, अर्थात् विज्ञान, बहुत पीछे जाकर उदय में आया।

नानी ने अपने नन्हे से बच्चे को चन्दा दिखाते हुए कहा, 'देखो बेटा, चन्दा मामा!'

बच्चे ने उसे सचमुच ही अपना मामा मान लिया। जब-जब उसने चाँद देखा, ताली बजाकर, नानी की उँगली पकड़ कर कहा, 'देखो नानी, चन्दा मामा!'

पर जब बच्चा बढ़कर बड़ा हुआ तब चाँद देखकर उसका ताली बजाना खत्म हो गया। चन्द्रमा देखकर किसी भी प्रकार के आह्लाद की प्राप्ति उसे नहीं होने लगी। आह्लाद कम होगया, उत्सुकता भी कम हुई,—पर उसकी जगह एक गम्भीर जिज्ञासा का भाव जाग उठा। उससे बड़ी उमर पाये हुए आदमी ने कहा—

'चन्दा मामा नहीं। मामा कहना तो मूर्खता है, निरा बचपन है। लाओ, टेलिस्कोप लगाकर देखें, चन्द्रमा क्या है?'

चन्द्रमा में कुछ काला-काला सा दीखता है। हमारी कल्पना, जिस में आत्मीय भाव की शक्ति है, झट वहाँ तक दौड़ गई और उसने कहा—'वहाँ बैठी दादी अम्मा चर्खा कात रही है।' दूसरे ने ऐसे ही कुछ और

कह दिया । यह कह कर मानों हमने सचमुच कुछ तथ्य पा लिया है, ऐसी प्रसन्नता मन को हुई ।

पर उमर वाले वालक ने फिर कहा, 'नहीं-नहीं, मेरे टेलिस्कोप में जो दीखेगा चाँद में का काला-काला दाग वही है। जव तक साफ-साफ उसमें कुछ नहीं दीखता, तव तक कुछ मत कहो। यह तुम क्या चर्खे वाली वुढ़िया की वाहियात वात कहते हो!'

जव शनैः शनैः इस प्रकार विश्व को आत्मसात् करने की मानव की प्रक्रिया में यह द्विविधा आ रही, उसी समय से मनुष्य के ज्ञान में भी विभक्ति-करण हो चला। इससे पहले जो था सव साहित्य था । उस समय मनुष्य ज्ञाता और शेष विश्व ज्ञेय न था। वह भी विश्व का अंश जैसा था। उसमें अहम् सर्वप्रधान होकर व्यक्त न हुआ था। प्रकृति सचेतन थी और जगत् विराट् लीलामय था । पंच तत्त्व देवतारूप थे और भिन्न-भिन्न पदार्थ उनके प्रकाश-स्वरूप । तव व्यक्ति मानो विराट् की गोद में वैठा हुआ एक वालक था ।

उस समय उसकी समस्त धारणाएँ अस्पष्ट थीं अवश्य, पर अनिवार्य रूप में अनुभूतिसूचक थीं, प्रसादमय थीं।

जहाँ फिर वुद्धि प्रधान होकर आ रही, जहाँ उसने पदार्थ को उसके चारों ओर के सम्वन्धों से तोड़कर, अपनी इयत्ता में ही समझ लेने की चेष्टा की,—और जिसका परिणाम जीवन के रस और प्रीति से, इस प्रकार, अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रगट हुआ कि जिस में, अन्ततः अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो आंकिक, रेखावद्ध और फार्मूला-वद्ध विद्या हो पड़ी,—वही वस्तु है विज्ञान।

मनुष्य के विकास-आरम्भ के पर्याप्त काल के अनन्तर विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। आदि में तो विज्ञानों को भी अनुभूति-मय रखने की चेष्टा रही। अर्थात् रूपकों, कहानियों और श्लोकों द्वारा उसे प्रकट किया

गया। बहुत पीछे जाकर उसे व्यवस्था-बद्ध विज्ञान का वह रूप मिला जो जीवन की मौलिक आवश्यकता से विच्छिन्न हो गया।

इसके विरोध में जब मानव ने अपने व्यक्तित्व के पूरे जोर से विश्व में अपनाजाने की चेष्टा को शब्दों में व्यक्त किया,—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नहीं वरन् वह अपनी सृष्टि से तदाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजन का है जानने का नहीं, जहाँ स्रष्टा और सृष्टि की एकता है,—वह है साहित्य।

इस तरह विज्ञान प्रथमावस्था में साहित्य है।

और अपनी अन्तिम अवस्था में भी कि जब वह केवल बुद्धि का व्यापार नहीं है, प्रत्युत वह सर्वथा प्रसादमय, रहस्यशील और मानों ईश्वराभिमुख है, वह साहित्य है।

कहा गया है, जानना परिणति ही पाना है—Knowing is becoming। जहाँ जानने का स्वरूप यह आत्म-परिणति है, जहाँ ज्ञान वारणागत मे अधिक अनुभूत होता है, मानों जहां प्राण-स्पन्दन में उसका अधिष्ठान है,—वहाँ विज्ञान शुद्ध ज्ञान है और साहित्य भी शुद्ध ज्ञान है, अर्थात् एक विज्ञान है।

: ४ :

साहित्य और समाज

हिन्दी साहित्य में अब जो नई शक्तियाँ आ रही हैं, उनमें बहु भाग को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्चवर्गीय था। उसके उत्पादक समाज के प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकांश ऐसा नहीं रह गया है। जिनको समाज में पैर टेकने को कोई ठीक ठौर नहीं है, वे लोग भी आज लिखते हैं। इससे प्रश्न होता है कि समाज की और साहित्य की परस्पर क्या अपेक्षा है?—क्या सम्बन्ध है?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाज की नीति-अनीति की मान्यताओं की ज्यों की त्यों स्वीकृति साहित्य में प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्य में समाज की उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओं के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओं को अपने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसा तत्व है जो समाज को प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे, और इस भांति समाज को आगे बढ़ाने का काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह झलकाता ही नहीं, अब वह चलाता भी है। हमारी बीती ही उसमें नहीं, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।

जो समाज के प्रति विद्रोही है, समाज के नीति-धर्म की मर्यादाओं की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चल रहा है,

जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजन के लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिए जाते हैं। वे लोग जो विश्व के साहित्याकाश में द्युतिमान् नक्षत्रों की भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भ में तिरस्कृत रहे, पर अन्त में उसी समाज द्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकास में समाज की लाञ्छना की वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाज की सम्मानना की। उनके कल्पनाशील हृदय ने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस वे उसकी ओर सीधी रेखा में बढ़ते रहे। यह समाज का काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियों ने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर हृद्गत लौ जलती हुई उन्होंने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें। समाज ने उन्हें आरम्भ में दरिद्र रक्खा, अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनायें तक दीं, हंसी उड़ाई,—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु जो कल्याण-मार्ग उन्होंने थामा, उसी पर वे लोग सबके प्रति आशीर्वाद से भरे ऐसे अविचल भाव से चलते रहे कि समाज को दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि समाज की अपनी मान्यताओं में सुधार की आवश्यकता है।

ऐसे लोग पहिले तिरस्कृत हुए, फिर पूजित हुए। संसार के महा पुरुषों के चरितों में यही देखने में आता है। समाज के साथ उनका नाता गुलामी का नहीं होता, नेतृत्व का होता है। वे अपनी राह चलते हैं। समाज उन पर हंसता है, फिर उन्हीं के उदाहरण से अपनी आगे की राह को प्रकाशित भी पाता है।

कर्तृ-भेद की अपेक्षा हमने साहित्य की प्रकृति में भेद चीन्हा। किन्तु गण-भेद से भी साहित्य में दो प्रकार देखे जा सकते हैं। एक वह जो

समाज की स्थिति के लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाज को गति-शील बनाता है।

साहित्य दोनों प्रकार के प्रयोजनीय हैं। लेकिन यदि अधिक आवश्यक, अधिक सप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसी को हम कहना ही चाहें, तो उस साहित्य को कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और, चाहे चाबुक की चोट से क्यों न हो, समाज को आगे बढ़ाता है। वह साहित्य आदर्शप्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिरनूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहज-मान्य नहीं होता।

समाज में दो तत्त्व काम करते हुए दीखते हैं। समाज के सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में इन्हीं दोनों तत्त्वों के प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। एक संग्राहक है, दूसरा विकीरणक। एक समाहित, दूसरा सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपने केन्द्र का अनुभव करता है, दूसरा वह जो अपने परिचालन के लिए अपने से बाहर देखने की अपेक्षा रखता है। एक गतिशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा सामाजिक व्यक्ति इन्हीं दोनों तत्त्वों के न्यूनाधिक अनुपात का सम्मिश्रण है। एक ओर गांव का बनिया है जो दादा-परदादा के जमाने से अपनी नोन-तेल की दूकान पर बैठता है और लाखों रुपया जोड़कर अपना कुनबा और अपनी जायदाद बढ़ाने में लगा रहता है। दूसरी ओर वह है जिसे घरबार से मतलब नहीं, जहाँ ठौर मिला वहीं बसेरा डाला, ब्याह की बात जिसे सुहाती तक नहीं,—चक्कर ही काटता डोलता रहता है। इस व्यवसायबद्ध (Stationary) और गतिशील (Dynamic),—दोनों प्रकार के जीवनों और व्यक्तियों का साहित्य में समावेश है। दोनों में से कोई उसके लिए अनुपयुक्त नहीं और कोई उसके लिए वर्ज्य नहीं

किन्तु समाज साहित्य की भाँति इतनी भावना-जीवी वस्तु नहीं है,

इसलिए, वह इतनी उदार और चिरजीवी वस्तु भी नहीं है। समाज व्यवसायशील तत्त्व के प्रति और उस तत्त्व के प्रतिनिधि व्यक्तियों के प्रति स्वीकृति विशेष है। दूसरे वर्ग के लिए समाज में अवमानना और संघर्ष का भाव अधिक रहता है। अर्थात् समाज वैश्य-प्रधान है। फकीर उसकी दुनियादारी के लिए अनावश्यक है। वैश्य शासन की सत्ता को हाथ में लेगा, फकीर केवल वैश्य की कृपा पर जीएगा। अगर फकीर वैश्य की कृपा को साभार स्वीकर नहीं करता तो वैश्य उसके लिए न्यायालय और जेलखाने खड़े करेगा।

यह समाज की हालत है। पर वही समाज अपने साहित्य में और आदर्श में उसी फकीर के गुण-गान करेगा! फकीर का आदर्श वैश्य के मन वहुत भाता है। फकीर अगर कुछ गड़वड़ न करे तो उसे अपने घर में प्रतिष्ठा देकर वैश्य अपने परलोक की भी सुव्यवस्था कर लेगा। पर फकीर के रास्ते पर एक कदम चलने की वात भी अगर उसके नाती-पोतों के मुंह से निकली तो फिर उनकी खैर नहीं!

दोनों तत्त्वों को अपने में समान रूप से धारण करनेवाला साहित्य एकांगी जीवन वाले समाज से क्या अपेक्षा रक्खे? उससे क्या सम्वन्ध रक्खे?—इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर यही वन सकता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा ही उसका समाज के साथ सम्वन्ध निर्णीत होगा।

धातु का वना हुआ पैसा-रुपया-गिनी ठोस सत्य चीज है। जिनकी सत्य-कल्पना इस ठोस धातुमय तल से ऊँची नहीं उठती या गहरी नहीं जाती वे व्यक्ति यदि लिखेंगे तो उनकी रचनाओं का समाज के साथ सम्वन्ध स्वीकृति का, आज्ञाकारिता का अथवा अनुमोदना का होगा। यह भी हो सकता है कि ऊपर से उस साहित्य में समाज के लिए उगली हुई गालियाँ दिखाई दें, लेकिन, वे वैसी ही जली-कटी वातें होंगी जैसे कोई रूठी और रिसियाई पत्नी खीझ में अपने पति को कहती है। उन्हीं

जली-भुनी बातों से पता चलता है कि वे समाज की कृपा के और उसके ध्यान के, अपेक्षा-चिंता के याचक हैं। जो पैसा चाहते हैं, जो पैसे के लिए जीते हैं, वे बड़ी मीठी-मीठी चीजें या बड़ी चरपरी चीजें लिखकर समाज को भेंट करते हैं। यह कौन नहीं जानता कि मिठाई बिकती है तो चरपरी चाट भी कुछ कम नहीं बिकती ? ऐसे साहित्य और साहित्यकारों का समाज के साथ सम्बन्ध उस दुकानदार जैसा है जो सबको ग्राहक के रूप में देखना चाहता है, या उस पत्नी के ऐसा है जो जानती है कि पति के बिना उसका जीवन नहीं। इस साहित्य में तीखे-जले व्यंग के तीर चाहे जितने हों, समाज की स्वीकृति प्रधान होती है। मनोरंजन उस में अधिक होता है, तेजस्विता कम। प्लाट अधिक होता है, तथ्यान्वेषण कम। बनावट अधिक रहती है, गहराई कम। साहित्य के गोदाम में अधिक माल इसी रकम का है, क्योंकि समाज में घरबार बनाकर छोटी-मोटी कमाई करके जीनेवाले लोग ही अधिक हैं।

पर फकीर कम हैं। वैसे फकीर जिनकी फकीरी दूकानदारी नहीं है। उन फकीरों का समाज के साथ सम्बन्ध क्या है ?—वे समाज के हितैषी हैं। वे समाज को गाली देना नहीं जानते, पर समाज की हाट से वे विमुख रह सकते हैं। अपने जीने के लिए वे समाज के इशारे की ओर नहीं देखते। वे लिखते हैं तो हितैषी के नाते लिखते हैं, और अपने धर्म-पालन के नाते लिखते हैं। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए, अर्थात् सत्य के उस रूप की प्रतिष्ठा के लिए जो उनके भीतर प्रतिष्ठित है कहीं बाहर नहीं. वे लिखते हैं। कहा जा सकता है, समाज के बाजार में डोरा डालने वाले लोगों के लिए वे नहीं लिखते। उनका समाज के साथ सम्बन्ध, उनकी ओर से कहा जा सकता है, निरपेक्ष सत् कामना का है, निष्काम हितैषिता का है। समाज की ओर से वही सम्बन्ध आरम्भ में उपेक्षा, लांछना. बहिष्कार का होता है, अन्त में आदर और पूजा का।

साहित्य के अमर स्रष्टा के रूप में, इस भाँति हम देखते हैं कि वे ही

लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपने को अपनी राह पर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिनें। जैसे भी कुछ वे थे उसी रूप में उन्होंने समाज के सामने अपने को प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महत् पुरुष भी गिनता हो, लेकिन, चूंकि समाज की नीति-धारणा बहुत धीमी चाल से विकसित होती है, इसलिए, समाज को वरबस उन्हें दुश्चरित्र और दुःशील मानना पड़ जाता है। उनकी महत्ता के प्रकाश में निस्सन्देह समाज-सम्मत धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। फिर भी, वे सहसा इतनी विकसित नहीं हो सकतीं कि हर प्रकार की महत्ता उनकी परिभाषा में वँध जाय। यही कारण है कि आज जिस ईसा को दो-तिहाई दुनिया ईश्वरतुल्य मानती है, उसीको शूली चढ़ाये विना भी दुनिया से नहीं रहा जा सका। ईसा का दुनिया से क्या सम्वन्ध था? वह त्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था। दुनिया ने उसके साथ क्या सम्वन्ध वनाया? उसे फांसी दी और इस तरह अपनी व्यवस्था निष्कण्टक की। और अव दुनिया ने उसके साथ क्या सम्वन्ध वना रक्खा है? दुनिया कहती है,—'वह प्रभु है, अवतार है!'

साहित्यकार, अर्थात् दूसरे प्रकार का साहित्यकार, वर्तमान से अधिक भविष्य में रहता है। दुनिया को खुश करने से अधिक दुनिया का कल्याण करना चाहता है। इसलिए वह दुनिया लाचार होती है कि उसको न समझे, उसकी उपेक्षा करे, या वहुत हो तो, उसकी पूजा करे,—उसका भय करे। दुनिया आस-पास से उसे समझ नहीं सकती, इससे ऐसे साहित्यकार का यह दुर्भाग्य होता है,—अथवा यही उसका सौभाग्य है—कि वह लौ की भाँति अपने आप में ही जलता चला जाय। वह दुनिया को खुश नहीं करना चाहता, रिझाना नहीं चाहता,—उसका भला करना चाहता है। पर दुनिया अपना भला क्यों चाहे?—वह अपनी खुशी चाहती है।

अधिकतर साहित्यिक दुनिया को मनोरंजन और विलास का सामान देते हैं। यह ऐन्द्रिय साहित्य है। पद्य साहित्य में लगभग अस्सी फी-सदी

साहित्य वैसा वैषयिक साहित्य है। अर्थात्, व्यसनशील साहित्य,—हल्के-से नशे और भुलावे में डालने वाला साहित्य। इस प्रकार के साहित्य के लेखकों का सम्बन्ध समाज के साथ स्वीकृति का है। वे समाज के अनुरंजक हैं, समाज-जीवन के हमजोली हैं। समाज के हृदय की गहरी वेदना के साथ तादात्म्य पाने की चिन्ता और अवकाश उन्हें नहीं है।

अपने लिए दूसरी अस्पृहणीय स्थिति स्वीकार करके चलनेवाले दूसरे लोग हैं जो समाज को विलास का साधन, कोई सामयिक रतिभाव देने की ओर प्रवृत्त नहीं होते। वे समाज के रुख की ओर नहीं देखते, उसके रोग की ओर देखते हैं। वे अत्यन्त नम्र हैं, पर कठोर भी। वर्तमान को अपने स्वप्न के रङ्गों में रङ्गा हुआ देखना चाहते हैं। उनका समाज के साथ सम्बन्ध स्वीकृति का नहीं होता, अहम्मन्य अस्वीकृति का भी नहीं होता,—मानों वह निष्काम एवं हितकाम होता है।

इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाज की मज़े की माँग बनाती है। दूसरा साहित्य वह है जो समाज के भावी-दर्शन के लिए सृष्ट होता है। पहले प्रकार के साहित्य में समाज स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है,—उसे उस में चाव होता है। दूसरा समाज को शुरू में कुछ फीका, कठिन, गरिष्ठ मालूम होता है; पर सीको फिर वह औषध के रूप में स्वीकार करता है। उसी भांति, साहित्यकार हैं जो समाज में सम्पन्न दीखते हैं, और साहित्यकार हैं जो समाज से दूर वहिष्कृत दीखते हैं।

समाज का और साहित्य का आरम्भ से ऐसा ही सम्बन्ध चला आता है। हम नहीं समझते, कभी वह कुछ और हो सकेगा।

: ५ :

कला क्या है

कुछ बातें मुझे जल्दी में कहनी हैं। क्योंकि जब मुझे अवकाश और स्थिरता हो तब मैं इन बातों में नहीं पड़ूंगा। उस समय तो चुप रहना मुझे अधिक प्रिय होता है। या, उस समय कुछ लिखूं ही या करूं ही, तो वह लिखना या करना अच्छा लगता है जो बृहत्-फल न हो और साधारण प्रतीत होता हो। तब कविता* लिखूंगा, कहानी लिखूंगा, या इसी जोड़ का कुछ निष्प्रयोजन काम करूंगा। किन्तु अब अवकाश की कमी में मैं कुछ उन बातों पर लिख कर छुट्टी चाहूंगा जिन पर झगड़ा होता है और जिन्हें लोग काम की और ज़रूरी समझा करते हैं।

दुनिया में एक तमाशा देखने में आता है—

—जो जीवन में कलामय नहीं है उसे चिन्ता है कि समझे कि कला क्या है। दुनिया को ऐसी चिन्ता आजकल बहुत खा रही है। सत्य के साथ एकाकार होकर रहने की जिनके जीवन में चेष्टा नहीं है वे सत्य के सम्बन्ध में विवाद उठाने में काफी व्यस्त और मुखर हैं। धर्म को लेकर धार्मिक लोग सेवा-कर्म में और भगवत्-प्रार्थना में जब लीन हैं तब और लोग हैं जिनकी धर्म के सम्बन्ध में आकुलता जगत् में उद्घोषित होती रहती है और जो धर्म को लेकर शास्त्रार्थ और यदा-कदा मानव-मस्तकों की तोड़-फोड़ किया करते हैं।

सामाजिक क्या, राजनीतिक क्या और साहित्यिक क्या,—हर क्षेत्र में जब यह विचित्रता दीखती है तब बड़ा अनोखा भी मालूम होता है और समझ जैसे गड़बड़ में पड़ जाती है। हर क्षेत्र में श्रमी नीचे है,

---

* इससे स्पष्ट है कि लेख का 'मैं' जैनेन्द्र से तटस्थ है।

व्यवसायी ऊपर है। साहित्य में स्रष्टा सृष्टि करेगा, आलोचक राज्य करेगा। समाज के क्षेत्र में अहंकारी चौधरी बनेगा, विनम्र पामाल होगा। राजनीति के क्षेत्र में वालंटियर सच्चा होगा, नेता नैतिक की जगह निरा नीतिज्ञ होगा।

ऊपर से देखने से यह स्थिति मनुष्य को नास्तिक बना सकती है। नास्तिक से अभिप्राय है श्रद्धाशून्य—faithless, संदेहग्रस्त।

किन्तु श्रद्धावान् के लिए तो विचलित होने की बात कभी कुछ है ही नहीं। यह समस्त सामग्री आस्तिक की तो आस्तिकता ही बढ़ाती है, श्रद्धालु की श्रद्धा को पुष्ट करती है। उसे कुछ और अधिक प्रबुद्ध और जागृत ही करती है।

जो ऊपर से देखता है वह क्रुद्ध हो रहता है,—विद्रोही और विप्लवी बन जाता है। वह अन्त में कहता है, 'असत्य ही सत्य है। मैं ही परमेश्वर हूँ। जो दीखता है, उसे छोड़ और कोई सत्य नहीं है।' वह कहता है, 'मनुष्य की ही जय है। हाँ, शक्ति ही नीति है।' अहंकार उसके जीवन का मूल मंत्र बनता है।

किन्तु विश्वासी को तो पत्ते-पत्ते में, घटना-घटना में, पल-पल के भीतर यही ज्वलंत रूप में लिखा हुआ दीखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। जब क्रूर सन्त की छाती पर पैर रख कर दर्प की हँसी हँसता है तब भी वह श्रद्धावान् संत यही देखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। हिरण्यकशिपु की नियोजित हर विपदा की गोद में बालक प्रह्लाद को यही दीखा कि इस सब में भी उसके प्रभु राम की कृपा ही हैं। कशिपु के नाश और प्रह्लाद के उद्धार की बात तो उस पुनीत कथा का अन्त है,—उस कथा के मर्म का बखान तो प्रह्लाद की वज्र-श्रद्धा में ही होता है। पहले प्रकार के पुरुष के, आशय कि नास्तिक के, निकट यह साबित नहीं किया जा सकता कि जो वह समझता है वही विश्व का सत्य नहीं है। यानी यह कि यहाँ

गर्वस्फीत शक्ति की ही जय नहीं है—उसके अन्तर्गत किसी और ही परम-सत्ता की जय है।

दूसरे प्रकार के पुरुष के निकट इसी भांति यह कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि सत्य कभी हारता है। ऐसा पुरुष मरते मर सकता है, पर सत्य की राह छोड़ते उससे नहीं बनता।

इन दोनों प्रकार के तत्त्वों के बीच, और इन दोनों भांति के पुरुषों के मध्य, आलाप-संलाप, तर्क-विग्रह और संधि-भेद चलता ही रहता है। इसी का नाम विश्व की प्रक्रिया है।

हमारे मानव-जगत् का जो सम्मिलित साहित्य कोष है, वह इस सब प्रकार की प्रक्रिया की गाथा का शब्दबद्ध संग्रह है। इन दोनों तरह के लोगों में एक दूसरे को समझने की चेष्टाएँ और न-समझने की अहंता, परस्पर को पूर्ण बनाने का उद्यम और परस्पर को अकृत-कार्य करने का उद्योग आदि आदि-काल से चलता चला आ रहा है। इसी संघर्ष और इसी समन्वय में से, अर्थात् इसी मंथन में से, ज्ञान ऊपर आता है और प्रगति संपन्न होती है।

किन्तु हम जल्दी में हैं और यहां हम हठात् एक सवाल उठा लेंगे और कुछ देर उसके साथ उधेड़ बुन करके आप से छुट्टी लेंगे।

सवाल के लिए कला शब्द ही लीजिए। कला क्या है, इस पर बहुत कुछ लिखा गया है, बहुत कुछ लिखा जा रहा है। कुछ तो उस में काफी शास्त्रीय है, कुछ ऐसा भी है जिसमें ताजगी है। 'कला' संज्ञा को ऐसा विवादास्पद शब्द बनाने की हमारी अनुमति नहीं है जिसको लेकर दो व्यक्ति आपस में सहानुभूति से वंचित होजायँ। 'कला' शब्द मनुष्य ने बनाया इसलिए कि उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत किसी सत्य को प्रकट करना चाहता था। 'कला' शब्द में यथार्थता मनुष्य के भीतर की उसी अनुभूति की अपेक्षा से है जिसके हेतु से उस शब्द को जन्म मिला और जो शब्द की ध्वनि में और उसके रूप

में प्रस्फुटित हुई। क्योंकि व्यक्तिमात्र में एक ही सच्चिदानन्द आत्मा है, इसलिए, कला वह वस्तु नहीं है कि दो व्यक्तियों को लड़ाये। 'कला' शब्द पर यदि दो आदमी, उसे समझने के प्रयास में, मतभेद रखते हुए नहीं, वरन् अनवन बनाते दीखते हैं तो स्पष्ट मान लेना चाहिए कि उन दोनों के बीच में निर्जीव अक्षरों का बना हुआ मात्र 'कला शब्द ही है,—कोई तन्नियोजित सजीव भाव नहीं है।

जो कुछ है उस समग्र के प्रति मनुष्य असंलग्न तो हो नहीं सकता। मनुष्य के आंख है तो रात को तारे भी देखेगा ही, दिन में सूरज भी उसे दिखाई देगा, हरियाली वनस्पति उसके सामने होगी। नाना भांति के पशु और रंगविरंगे पक्षियों को देख कर कैसे न कहेगा कि वे हैं। इन सभी के साथ मनुष्य कुछ-न-कुछ अपना सम्बन्ध रखने को लाचार है। युग-युगांतर के भीतर से शेष विश्व के साथ मनुष्य का यह अन्तः-सम्बन्ध विस्तृत होता गया है और व्यवस्थित भी होता गया है। और जब तक समस्त में एकत्व अनुभूति उसे न प्राप्त हो तब तक चहुँ ओर मनुष्य का सम्बन्ध जाने-अनजाने गाढ़तर ही होता जायगा।

अब एक व्यक्ति व्यवहारवादी है। वह दुनिया को अपने अर्थ साधन का क्षेत्र बनाकर समझता है। प्रयोजन के द्वारा उसने दुनिया को अपने से और अपने को दुनिया से मिलने दिया है। पौधों पर से वह फूल लेगा, खेतों में से अन्न, धरती की गर्भ में से अन्य प्रयोजनीय पदार्थ, वृक्षों पर से फल, आदि-आदि। उन सब की सार्थकता उस व्यवहारवादी के निकट इसी हेतु के माध्यम से है कि वे उस का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। अन्यथा दुनिया उसके मन में ही नहीं बैठती।

इस व्यवहारवादिता से लगभग उलटी जो दूसरी वृत्ति है उसे 'कलात्मक' संज्ञा से समझा जाता है। व्यवहार के मानों प्रतिवाद में कला है। कला की अभिधा से विश्व के साथ मनुष्य की वह वृत्ति और वह सम्बन्ध समझना चाहिए जिसका लक्ष्य अर्थ-साधन नहीं है, प्रत्युत

आनन्द-भोग है। पौधों पर फूल हैं तो वे हमें प्रसन्न करते हैं और हम मात्र इतने के लिए, उनके होने भर के लिए, उनके कृतज्ञ बनते हैं। उन्हें तोड़कर माला बना लें और माला को अपने गले में डाल लें, शायद तभी अर्थार्थी हम दुनिया वालों के निकट फूलों में कुछ सार्थकता हो। पर, कलावादी के लिए ऐसा नहीं है। उसके किसी प्रकार काम में आये बिना, वृन्त पर खिलाखिला ही, वह फूल तो कलाकार के अपार आह्लाद का विषय है। इसी प्रकार वृक्षों की वायु का सौरभ, आकाश की नीलिमा, तमिस्रा का नैश सौन्दर्य आदि-आदि,—ये सब कला के लिए प्रयोजनीय हैं इस हेतु से सत्य नहीं हैं, उसके लिए तो वे सब प्रयोजन से कहीं बड़े इस हेतु से सत्य हैं कि वे सुन्दर हैं। सौन्दर्य, कला के लिए, सत्य का प्रधान रूप है। प्रयोजनीयता कला के लिए उस सत्य का गौण भाव है।

उसी भांति सत्य कला के निकट मात्र ज्ञेय नहीं है, जैसा कि वह विज्ञान के निकट है। विज्ञान अपनी दलील के जोर से विश्वभूत सत्य को बुद्धिगम्य करना चाहता है, कला की वह स्पर्द्धा नहीं। कला तो अपने भीतर के आनन्द-बोध द्वारा, अन्तस्थ अनुभूतियों के सूक्ष्म तन्तुओं से समस्त विश्व को छाकर उनके सहारे, सत्य को हृदयङ्गम करेगी। कला के लिए सत्य प्रेय ही है।

इस तरह कला व्यवसायी की प्रयोजनीयता और वैज्ञानिक की विज्ञान-सम्मतता और तात्विक की निरपेक्ष ज्ञेयता से कुछ अन्य है, कुछ अन्यत्र है। जो नाना मनुष्यों के नाना प्रयत्नों का चिर इष्ट है, वह सत्य जब सुन्दर का रूप धारण करता है, तब वह कला का आराध्य बनता है। शुष्क सत्य अथवा ज्ञेय सत्य अथवा सार्थक सत्य कला के सिंहासन पर नहीं है। उसके सिंहासन पर तो सत्य सुन्दर होकर ही बैठता है।

इतने से यह प्रकट होगा कि कला के विषय में जो 'क्यों' और 'क्या' का बहुत विवेचन करते हैं वे कला के उपास्य, हृदय द्वारा सेव्य सौन्दर्य

को मानों बुद्धि की छुरी के नीचे पटक कर उसका व्यवच्छेद करने चलते हैं। पर शस्त्र से शून्य-तुल्य सूक्ष्म भाव कैसे कटेगा ? कोशिश कीजिए कि आकाश का विच्छेद करें, हमारे विज्ञान को अकृतकार्य होकर लौटना होगा।

इस प्रकार असम्भव नहीं है कि कलाकार का उपास्य विलुप्त ही हो रहे और पंडितजन की बुद्धि शास्त्रविच्छेद द्वारा मात्र यहीं पहुँचे कि कला का सिंहासन तो उपास्य-शून्य है और वहाँ निर्बुद्धिता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बुद्धिवादी इस निर्णय तक पहुँचे, इसमें कलाकार को आपत्ति भी नहीं। मात्र उसे यही भय है कि बुद्धिवादी निराश होकर नास्तिक न हो जाय। और नास्तिक भी वह नहीं जिसके लिए नास्तिकता ही ईश्वरसम हो गई है, क्योंकि वह तो नास्तिकता को लेकर आस्तिक बनता है, 'नास्तिकता' के प्रति कर्मण्य और श्रद्धावान् बनता है। भय है कि वह निरा संशयसेवी ध्येय-ध्यान-हीन नास्तिक न बन जावे।

: ६ :

भाग्य में कर्म-परम्परा

साहित्य का रस जिन्दगी के रस से अलग नहीं है। लेकिन जिन्दगी का रस क्या है ?

इस पर एक दिन खयाल गया तो दो शब्द हाथ लगे। एक भाग्य, दूसरा कर्म-परम्परा। आगे की बात हम नहीं जानते। अन्दाज चाहे जितने लगाएँ, अनागत अज्ञेय है। कल का आज पता नहीं। यही है भाग्य। भाग्य, इसी से, भविष्य में रहता है। भविष्य अनिर्मित है और इस निर्माण की सुविधा के कारण जिन्दगी में हमें रस है। इसी कारण पुरुषार्थ है। जीवन की गति भी इसी कारण है। हम जीते चले जा रहे हैं, चलते चले जा रहे हैं, क्योंकि अन्त का पता नहीं और काल का अन्त नहीं। इससे हमारी संभावनाओं का भी अन्त नहीं है।

पर यह भाग्य नामक तत्व हमारी अल्पता का, अवशता का, अज्ञता का भी प्रमाण है। हम कुछ भी और नहीं हो सकते, समस्त के बीच हम अणु हैं। काल के बीच हम नपे-बंधे रहेंगे और अभिज्ञता के अर्थ में परम निरपेक्ष सत्य से सदा अनभिज्ञ रहेंगे। अतः अपनी चिर-अनभिज्ञता की स्वीकृति ही मनुष्य की सब से बड़ी अभिज्ञता हो सकेगी।

भाग्य का तर्क अपना ही है। हमारे सिद्धान्तों में वह नहीं बंधता। आज बैठे कल की कल्पना हम कर लें और इस तरह से चाहें तो अपनी कल्पना में हम अपने को मुग्ध भी कर लें, पर भावी के प्रति हमारा सच्चा सम्बन्ध उत्सुक एवं विस्मित अभीप्सा का ही हो सकता है। अगला क्षण जाने हमारे आगे क्या न रहस्य खोल उठे !

इस तत्व में से ही ड्रामा को जन्म मिलता है। इससे हीन होकर साहित्य साहित्य नहीं। अन्त की ओर से एक 'सस्पेंस' चाहिए, एक कशिश, जैसे कि मृत्यु जीवन को खींचती है। आगे क्या होगा, पाठक में बराबर इसकी उत्सुकता बनी रहनी चाहिए। अगले पृष्ठ और परिच्छेद में घटने वाला कार्य-कलाप अकारण न होगा। पहले जो कुछ हुआ है उसके साथ अविच्छिन्न भाव से वह जटित होगा, फिर भी पाठक ज्यों-ज्यों बढ़े, आगे का सब कुछ उसे आकस्मिक-सा ही जान पड़ना चाहिए। साहित्यिक रचना के लिए यह गुण अत्यन्त अनिवार्य है। भाग्य यदि दुर्निवार्य है, अतर्क्य और अज्ञात है, तो साथ ही सुसंगत भी है। उसी भांति साहित्यकार को अपनी रचना में होना होगा। हर घटना घटित होने के पूर्व आकस्मिक लगेगी, पर घटित होने के साथ-साथ वह अवश्यम्भावी भी लगती चलेगी।

मैं नहीं कह सकता कि रचना में वह तत्व किस भांति उतारा जाता है। कह यही सकता हूं कि वह आवश्यक है। तर्क की एक-एक कड़ी जैसे सुशृङ्खलभाव से आगे चलती है, जीवन वैसे नहीं चलता दीखता। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें वैसी शृंखला नहीं है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि जीवन का तर्क हमारे मति-तर्क (Rational Logic) से भिन्न है। नियम तो है, क्योंकि नियन्ता है। सृष्टि अभाव पर नहीं हो सकती। कुछ उसमें सत् है ही। वही नियति, वही Law। हमारे अपने मति-तर्क उससे टकराएं तो बिखर रहेंगे। इससे हमारी बुद्धि की कृतार्थता यही है कि वह उस नियति में अपना सर्वार्पण करके मुक्ति लाभ करे। वही तर्क शुद्ध और स्पष्ट और निर्मल होगा जिसे इस नियति की निष्ठा का आशीर्वाद प्राप्त होगा।

इस तरह मेरी कल्पना है कि साहित्यकार को अबोध होना चाहिए। वह जाने कि वह नहीं जानता। यदि वह सचमुच अपने को जानने वाला जानता है, तो अज्ञात भाग्य के प्रति जो एक स्मित-भाव चाहिए और जिस से परिप्लुत होकर जीवन सारवान एवं साहित्य सरस हो आता है,

वह वस्तु अपनी रचना में वह कहां से ला सकेगा ? आनन्द से बुद्धि की शत्रुता है। आनन्द बिना रस कहाँ ? इससे बौद्धिक जीव सरस साहित्य कैसे दे सकता है ? भाग्य के प्रति जो साश्चर्य नहीं है, वह अपनी रचना में पाठक की उत्सुकता किस तरह जगायगा ? वह पहले से जीवन के भेद को यदि किसी थियरी (Theory) के रूप में मुट्ठी में बांधे हुए है, तो पाठक को वह किस आकर्षण से खींच सकेगा ? इससे मुझे जान पड़ता है कि एक अनुभव-गत, यद्यपि अनधिगम्य, कुछ होना ही चाहिए जिसके प्रति लेखक शिशुवत् अबोध हो और वैसा होकर धन्य हो। नहीं तो उसकी रचना सूखी होगी। उसमें प्राणस्पन्दन नहीं होगा, निस्सत्व ज्ञान की बातें फिर जितनी भी चाहें हों।

आज साहित्यिक भाषा में जो चर्चाएँ चला करती हैं उस धरातल पर ऊपर के मन्तव्य से परिणाम निकाल कर कहें तो यह कहना होगा कि सफल लेखन बौद्धिक प्रेरणा का फल नहीं है। मतवादी कोई रचना किसी के जी को छूकर उसे कृतज्ञ नहीं बना सकती। यथार्थ का कोई वाद नहीं होता, न उसकी कोई शर्त्त हो सकती है। कोई निश्चित, सुनिर्दिष्ट प्रयोजन बांध कर जो रचना होगी वह साहित्यिक सृष्टि न होगी; उसमें रस का खिचाव नहीं बुद्धि का दबाव होगा। एक प्रकार की रोमांन्टिक (कल्पना-ग्राह्य) और आइडियलिस्टिक (आदर्शोन्मुख) प्रेरणा साहित्य-रचना के लिए अनिवार्य है। यानी कुछ वैसी प्रेरणा जिससे हमारी बुद्धि प्रभावित हो, पर जो स्वयं उस बुद्धि की पकड़ में समा नहीं पाती हो। अर्थात् साहित्य-सृजन, यानी कवि-कर्म, प्रयोजनोपयोगी से भिन्न और ऊंचे स्तर की प्रेरणा द्वारा संभव होता है।

इतना कहने के बाद अब दूसरी बात को लेंगे। अर्थात कर्म-परम्परा। भैंस जैसे ऊपर मुंह उठा कर सूनी आँखों से आकाश को देखती है, मानों कि उस अनन्त विस्तृति की किंचिन्मात्र प्रतिक्रिया उसमें नहीं है—वैसे जड़ और निस्पन्दभाव से भाग्य या नियति नामक महत् तत्व को स्वीकार

करने के लिए मानव नहीं है, मनुष्य उस भाग्य का सहयोगी है। वह स्वयं विधाता है। वह भाग्य का निर्माता है। अनागत के प्रति यदि वह विस्मयाकुल है, तो अतीत के इतिहास का वही विश्लेषक भी है। जो होता है और होगा वह उसके बिना और बावजूद नहीं होने पायगा, उसके द्वारा और उसके सहकार से ही होनहार को होना होगा। मानव भवितव्यता में एक परम्परा की शृंखला खोजेगा और डालेगा। इसी से मनुष्य के निकट ईश्वर स्वयं नियमाधीन है। सर्वशक्तिमान् होकर भी मनुष्य का ईश्वर अपने ही नियम से आबद्ध है। यह मनुष्य के लिए ही सम्भव हुआ कि उसने भाग्य को कर्मफल-परम्परा के रूप में देखा और कहा कि विधाता और विधान एक है : God is Law.

इसका यह आशय कि कवि-कर्म बुद्धि-प्रेरित न हो, पर वह नियमहीन भी नहीं है। वह तनिक भी उच्छृङ्खल नहीं है। विश्व में वही सब से दायित्वपूर्ण काम है। पदार्थ-विज्ञान से भी सूक्ष्म और अमोघ उसके नियम हैं। पर वे नियम तो स्वयं जीवन के नियम हैं, इसी से वे बंधने में नहीं आते, और नहीं आयेंगे। इसी से वे बांधते भी नहीं दीखते हैं, आनन्द को खोलते ही हैं।

प्रेम से बड़ा दूसरा क्या नियम चाहिए ? उसमें अनन्त शोध का अवकाश है। जहां अप्रेम है, साहित्यिक नियम का वहीं भंग हैं। फिर उस भंग को समझाने के लिए किसी उपाध्याय और आचार्य की भी आवश्यकता नहीं है, पाठक का मन ही उसे तत्काल बतला देता है। भाषा के या छन्द के या अन्य जितने नियम हम जानते हैं, उन सबका भंग वहां क्षम्य है। पर प्रेम के नियम के भंग के दण्ड से तो कोई बच नहीं सकता। जहां वह है, वहां पाठक की सहानुभूति अनायास उथली पड़कर उचटने लग जायगी।

इस दृष्टि से क्या रत्नपारखी का काम होगा उससे भी गहरी परख और समझ का काम साहित्य-रचना का है। वह तर्कहीन नहीं है,

संगतिहीन नहीं है; उसमें तो प्रभाव और प्रेरणा के घनिष्ठ ऐक्य की आवश्यकता है। एक सूत्र चाहिए जो रचना के तमाम वैचित्र्य को, समूची परिस्थिति और विकास को, कहिए भाषा के तमाम सौन्दर्य को ही, मौनभाव से अपने में धारण कर रहा हो। एक मात्रा भी उस सूत्र से अनपिरोयी न बचे। वह सूत्र तो बेशक दीखेगा नहीं, क्योंकि आत्मा अलक्ष्य है। पर दीखने की लाचारी नहीं है, इसी से अन्तर्व्याप्ति में उसके होने की लाचारी और भी अनिवार्य हो जाती है।

अर्थात् पुस्तकगत प्रत्येक घटना पूर्व परिस्थितियों में से अनिवार्य रूप से प्रस्फुटित होती मालूम होनी चाहिए। भाग्य आकस्मिक-सा लगे, और यही तो उसकी विशेषता है, पर वह निश्चित रूप से मनुष्य की अपनी करनी का फलभी होता है। इसी भांति प्रतिक्षण नवनवोन्मेष की भांति पाठक के समक्ष आविर्भाव में आने वाली पुस्तक की घटनावलि एक गहन तदपि सुस्पष्ट कार्य-कारण की शृंखला में सुग्रथित होनी चाहिए। वीज में से ही फूल या फल होता है। वीज नहीं दिखाई देगा, किन्तु फल-फूल उसकी ही अभिव्यक्ति है। इसी तरह प्रत्येक पूर्ववर्त्ती स्थिति में परवर्त्ती घटना का वीज समाहित रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में साहित्यिक कृति एक वह सृष्टि है जिसका प्रत्येक अंग अपनी सम्पूर्णता की प्रकृति से चंचल और सजीव है, जिसको एक जगह से छूना मानो समस्त के प्राण का स्पर्श करना है; जो समुच्चय नहीं है, समवाय नहीं है, प्रत्युत परिस्फुटन है; जिसका पृथक्करण जिसकी हत्या है। किसी जीवधारी के अङ्गोपांग उससे अलग नहीं किये जा सकते। अलग होकर वे निष्प्राण रह जाते हैं, उनकी सचाई वे नहीं उनमें प्रवहमान प्राण हैं।

भाग्य के पक्ष में कहते हुए जिस अवोधता की आवश्यकता वतलाई, वह इष्ट है तो तभी जब साथ कार्यकारण की अटूट परम्परा में चलने वाले इस जगत् की कर्म-गति के प्रति सजगता भी हो। बुद्धि को फेंक देना नहीं है, उसे अनुगत रखना है। विवेक से पल्ला छुड़ाकर उड़ने वाला

कल्पनाविलास (Romanticism) और नित्य-नैमित्तिक से वचने वाला आदर्शवाद (Idealism) तो कच्ची भावुकता को ही जन्म दे सकता है। इस प्रकार की रंगीनी अक्सर अभावजनित होती है, कोई पुष्ट सद्‌भाव उसमें व्याप्त नहीं होता। वह रंगीनी जिन्दगी को खाती है, उसे समृद्ध नहीं बनाती। हमें स्पर्श-सुख-सा देती है, अन्तर्भूत हमारी वेदना की शक्ति को वह नहीं चेताती।

संक्षेप में साहित्यिक रचना वह है जो अपने साथ अपने ही अन्त की ओर पाठक को बरबस, विस्मित, संभ्रमित, प्रत्याशित भाव से खींचती ले जाय। लेकिन साथ ही पाठक पाता जाय कि पुस्तक में जो कुछ हुआ और होता गया, वही तो हो सकता था, सचमुच उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता था। जब पाठक के मानस के समक्ष जीव की यह रहस्यमय गूढ़ भवितव्यता एक-एक कली खिला कर अपने हृदय को ऐसे खोल देती है कि उसके स्पर्श से पाठक के भीतर का अवसन्नप्राय अवचेतन भी चैतन्य की धूप में अवगुंठित अपनी ग्रन्थियाँ खोलकर मुस्करा उठता है, तभी वह साहित्यानंद प्राप्त होता है जो ब्रह्मानन्द का सहोदर है।

: ७ :

स्वप्न और यथार्थ

लिखने का काम कोई बहुत जरूरी काम नहीं है। उसके बिना भी चलता है। पर जैसे बोलकर हमारा निकट का काम-काज सधता है, उसी तरह लिखकर दूर का और गहरा व्यापार साधना हुआ करता है। कुछ हम से बहुत दूर हैं और कुछ हैं भी नहीं, भविष्य में होंगे। लिखने के जरिये हम उन तक भी अपने को पहुँचा सकते हैं। लिपि के आविष्कार से मनुष्य ने देश और काल के बंधन से अपने को परे कर लिया है। सहस्रों वर्ष पूर्व के ऋषियों के अनुभव का लाभ उनकी अंकित वाणी के द्वारा हम आज भी पा सकते हैं। बोल कर अधिकतर नित्य-नैमित्तिक प्रयोजन निबटा करते हैं। चित्त की गहरी बातें सहज कहने में नहीं आतीं, लिख कर जैसे हम अपनी ही थाह लेते हैं। अनुभव में चले जाते हुए काल को लेखनी में लाकर मानों हम स्थिर बना देते हैं।

देखा जाय तो लेखक कोई खास व्यक्ति नहीं है। भावना सब में है और भाव भी सब के पास हैं। यह संयोग की बात है कि एक लिखता है दूसरा नहीं लिखता, परिस्थिति भी इसमें कारण है। यानी लेखक का कोई वर्ग नहीं है। लेखन को धंधा यदि बनाया जाय तो बात दूसरी है। तब अलग वर्ग भी हो सकता है और अलग तरह ही का उसका हित और समस्या भी हो सकती हैं; वह हित दूसरे हितों से रगड़ में तब आ सकता है। पर गोष्ठी यह शायद उस निमित्त नहीं है।

अब लेखन कुछ खयाली काम है। आप अकेले हैं, पास दूसरा कोई नहीं है और आप लिख रहे हैं। ऊपर से यह कुछ बे-काम-सी बात लगती है। पर ऐसा नहीं है। वह लिखा हुआ अगले दिन फैल कर न जाने किन घटनाओं को जन्म दे सकता है। आप से आशय खास आप से नहीं,

लिखने वाला गांधी हो सकता है, या रूजवेल्ट। बड़े से बड़े काम लीजिए, सब में का केन्द्र पुरुष एकान्त में अपने सामने के कागजों पर कुछ न कुछ लिखता दीखेगा। खयाल इस तरह बेकाम नहीं हैं, बल्कि काम का हार्द हैं, स्रोत हैं, सब काम वहीं से निकलते हैं। अर्थात् लेखक यदि कुछ भिन्न भी है तो इसी खयाल में कि वह ज्यादा खयाली है। यह खयाली होना कुछ बुरी बात नहीं होनी चाहिये। लेकिन इस जगह कुछ कठिनाई उपस्थित होती है।

अखबार की खबर मानें तो आज लेखक वह व्यक्ति नहीं है जो प्रबल हो, बल्कि उसके असमर्थ होने की बात सुनी जाती है। उसे जीता रखने को सहायता कोष के प्रस्ताव तक होते हैं।

मैं क्षमा चाहता हूं। मुझे समझ नहीं आता कि क्यों चाहा जाय कि लेखक बचा रहे। लाखों मर रहे हैं। युद्ध में या जेल में कुछ स्वेच्छा से मर रहे हैं, भूख में और रोग में कुछ रोते झींकते मर रहे हैं। शहीद को मौत अमरता देती है, असमर्थ जीर्ण को छुटकारा देती है। सहायक-निधि द्वारा मरते हुओं की संख्या में कुछ कमी करने की पद्धति का मैं विशेष श्रद्धालु नहीं हूं। मेरी निगाह मरने की विधि पर है। खैरात-ख़ाने मानव जाति को दीर्घायु बनाएंगे ऐसा मुझे नहीं लगता। असमर्थों का मोह जगत्-गति को नहीं है। अपने उपलक्ष्य से जो दया उपजाता है वह जाने-अनजाने आततायी को भी निमंत्रण देता है।

समस्या यही है कि जो इतना खयाली है कि लिखता तक है वह असमर्थ क्यों है? या तो यह गलत है कि खयाल ताकत है। या फिर यह देखने की बात है कि जिन को खयाली माना वे असल में वैसे हैं कि नहीं।

खयाल को ताकत मानने से बचने की जगह नहीं है। बराबर में दायें हाथ शाहजहां का लाल किला है और बायीं तरफ को फैली नई दिल्ली है। लाल किला उस भावुक मुगल ने खड़ा किया और नई दिल्ली अंग्रेजों की प्रभुता दरसाती है। चीजें ये बड़ी और भारी हैं, पर बीज उनका कहां है? क्या वह भी उनकी भांति भारी और बड़ा है? क्या

वह उनसा जड़ है ? वह न भारी है, न जड़ है; वह खयाल की तरह बल्कि उससे भी बारीक है। उसी ने इन आकार-प्रकारों मे अपने को सिद्ध किया है। उसका मनुष्य हृदय से उद्‌गम है और आशा-आकांक्षा से संबंध।

यहाँ आत्मा की बात मैं नहीं करूंगा। युग विज्ञान का है। वाद अनेक हैं। अध्यात्मवाद है, तो भौतिक वाद भी है। उन वादों में मेरी गति नहीं। पर जो दीखता है वह वहीं समाप्त है यह नहीं माना जा सकेगा। वृहत् कार्य के पीछे सूक्ष्म कारण है, जो अलक्ष है इसी से मुख्य है। प्रत्येक सृष्टि में उपादान--उपकरण अनेक लगते हैं, पर उन्हें परस्पर संगठित और स्पंदनशील रखने में कारणरूप एक भाव आवश्यक है।

समूचे काल प्रवाह का सबक ही यह है। असंख्य पर्वतों के परिमाण में आज पदार्थ उत्पन्न किया जा रहा, यहाँ से वहाँ ले जाया जा रहा है और फिर (युद्ध में) ध्वंस किया जा रहा है। सब इसलिए कि विकास का पग आगे बढ़े, मानव जाति नई करवट ले। महा समरों में जितना धन और शक्ति का व्यय हुआ है, इसलिए कि इतिहास नया पृष्ठ उलटे। वह इतिहास प्रतिपल लक्ष-लक्ष मानवों को कवलित कर रहा है और इतिहासज्ञ शोधते हैं कि शताब्दियों की विनाशलीला और विकास-साधना में से मानव-भावना ने क्या परिष्कार पाया है। वे इस अनादि काल-गति में एक सांस्कृतिक क्रम-विकास का सूत्र पाना और बिठाना चाहते हैं।

आदमी नाना कर्म करता है। उन सबके भीतर से वह गति किस ओर करता है ? आगे क्या पाकर, क्या देख कर, क्या मान कर उसके पीछे चलता चला जाता है, और जीता चला जाता है ? उस अप्राप्त किन्तु प्राप्तव्य, अदृष्ट किन्तु द्रष्टव्य वस्तु को कोई निश्चित रूप या आकार पहनाना संभव नहीं है, क्योंकि शायद सब आकार स्वयं उसी निराकार से हैं। वह ज्ञात और निर्णीत नहीं है। उसे विचार से भी पकड़ना नहीं होता।

उसी के प्रति श्रद्धा या आकांक्षा लेकर व्यक्ति जिये जाता और अपना भार लिये जाता है। उसमें समस्त पुरुषार्थ की शक्ति मानो अज्ञेय के प्रति श्रद्धा के इस सूक्ष्म तंतुके सहारे उदित होती और उसे वढ़ाती रहती है।

यदि ऐसा है तो लेखक की असमर्थता इस कारण नहीं हो सकती कि वह खयाली है। कारण यही हो सकता है कि वह सचमुच खयाली नहीं है, यानी अपने पूरेपन में वह किसी खयाल के पीछे नहीं है। ऐसा न होता तो वह गतिहीन और लक्ष्यहीन नहीं हो सकता था। असमर्थता लक्ष्य-हीनता के सिवाय भला कुछ और क्या है ?

यहाँ खयाल को समझना होगा। मन-वुद्धि में हर क्षण कुछ न कुछ चला करता है। एक घुमड़न सी मची रहती है, जिसमें से धुआं उठा करता है। पल भर को आंख मींच कर देखिये कि एक पर एक चित्र भागते हुए जा रहे हैं, स्वप्न के से द्रुत वेग से वे चलते हैं। वे आपस में उझलते, एक दूसरे पर चढ़ाई सी करते, परस्पर को व्यर्थ वनाते रहते हैं। इसीसे आँख खुली नहीं कि वे उड़ जाते हैं। हमारा उन पर वश नहीं होता। हम उनसे तत्सम नहीं होते। वे हमारे जागृत जीवन के साथ नहीं चल पाते। इसी से वे प्रभावहीन और क्षणस्थायी होते हैं। ऐसे स्वप्न सत्य पर विखर रहते हैं और हम उन्हें असत्य कहते हैं। वे हमें थकाते, विताते और भरमाते ही हैं।

पर महापुरुष वे हुए जिन्होंने अपने स्वप्न को अपना सत्य वनाया और फिर जगत् के तथ्य को उसी रूप में से स्वरूप दिया। ये स्वप्न-निष्ठ जन जगत् की स्मृति में आज भी सर्वाधिक सत्य के रूप में अधिष्ठित हैं।

सारांश, वह खयाल यानी वह स्वप्न जो हम में या वाहर कहीं टकराता नहीं, जो हमारी वृत्तियों का संग्राहक है और समन्वय करता है,

जो बुद्धि के विधि-निषेध में समाकर भी मुक्त है और जो इस लिए एकीकृत संकल्प रूप है, वह स्वप्न सामर्थ्य और सर्जन का मंत्र है। वह व्यक्तित्व में अखंडता लाता है और जीवन की गति को अनवरुद्ध करता है। इसी की निष्ठा और भावानुसरण को कहना चाहिए सृजनशील कल्पना।

बाह्य यथार्थ इस सृजनात्मक कल्पना का अनुगामी है। यथार्थ अपने में निश्चित है, स्थान और काल बद्ध है। उसमें गति नहीं है, इससे दिशा भी नहीं है। वह निष्क्रिय पदार्थ है। उसे गति और दिशा उनसे प्राप्त होती है जो उसके नहीं बल्कि स्वप्न के होते हैं। ऐसे व्यक्ति संभ्रान्त से अधिक विद्रोही और सफल से अधिक भावुक होते हैं, सम्पत्तिशाली से अधिक कल्पनाशील होते हैं। यथार्थ के लिए वे प्रेरक और मार्ग-दर्शक होते हैं, क्योंकि यथार्थ की ओर पीठ देकर सीधी गति में वे उस झांकी के पीछे चल पड़ते हैं जो उनके भीतर झलक उठीं होती है। उसी के हाथ वे अपने को सौंपे रहते हैं। दुनिया जैसे उन्हें विरानी लगती है और यहां का यथार्थ उन्हें माया हुआ रहता है। कहीं और ही मानो उनका घर हो और कुछ और ही उनका सच हो। ऐसे लोग अडिग होते हैं, निर्भय एवं निर्लोभ होते हैं, और उनका जीवन दुःख का जीवन होता है। मानो दुख ही उन्हें भोग हो, और भोग उन्हें काटते हों।

मैं किसी तरह नहीं समझ पाता कि जो सचमुच इस तरह खयाली है, जो स्वप्न को सत्य और यथार्थ को भ्रम माने विना रह ही नहीं सकता, वह असमर्थ क्यों कर हो सकता है? यथार्थ के प्रति पराजय का नाम ही असमर्थता है। यथार्थ को अंतिम सत्य के रूप में ओढकर जो अपने को विवश मान बैठ सकता है, वही तो असमर्थ है। पर जिसने स्वप्न में सत्य के दर्शन किये वह यथार्थ की विकटता से कैसे निरुत्साहित हो सकता है? उसका तो उसके निकट भ्रम जितना भी मूल्य नहीं। असमर्थता की भाषा ही इस तरह उसे दुष्प्राप्य हो जानी चाहिए। श्रद्धा जिसके

पास है, असमर्थता फिर उसके पास कैसे फटक सकती है ? और खयाल की चरम परिणति श्रद्धा में है। जो सचमुच खयाली है, वह श्रद्धावान् है. और जो श्रद्धावान् है वही समर्थ है।

यहां किंचित् सामर्थ्य को भी समझ लेना होगा। हम उसे उलटा भी समझ लिया करते हैं। मेरे यहां कागज का गुलदस्ता है, इससे उसमें सामर्थ्य है कि वह और भी कई वर्ष ज्यों-का-त्यों बना रहे। किन्तु यह सामर्थ्य उसके झूठ में से ही प्राप्त हुई है। नकली है, इसी लिए मुर्झाना वह नहीं जानता। स्कूल जाने वाला मेरा बालक सजावट के खयाल से कुछ पैसे डालकर उसे बाजार से उठा लाया है। पैसे नाम की चीज के एवज में आजाने के कारण उसमें यह सामर्थ्य है कि वह असली न हो और परिवर्तनशील संसार में वह अपरिवर्तनीय बना रहे।

किन्तु किसी भाँति भी क्या कल्पना की जा सकती है कि वह कागजी गुलदस्ता प्रेम का उपहार भी बन सकता है ? प्रेमोपहार में फूल लिये-दिये जाते हैं। उनसे जीवन सुवासित हुआ रहता है और व्यक्ति प्रसन्न अनुभव करता है। लेकिन दो दिन में ही वे फूल कुम्हला जाते हैं और बाहर कोई चिह्न नहीं छोड़ जाते, जब कि यह बाजारी गुलदस्ता उसी तरह रहता जाता है।

मैं यहाँ मानता हूँ कि कागज के फूल में टिकने की सामर्थ्य ही उसकी असमर्थता है और सच्चे फूल की असमर्थता उसमें जीवन्त शक्ति होने के कारण ही है। यदि सजीव न होता तो वह मुर्झा भी न सकता।

इस तरह पदार्थ की शक्ति महत् है, किन्तु वह स्पन्दनहीन है। सामने की दीवार में शक्ति है कि आप का मस्तक उससे टकराये तो वह उसे टूक-टूक करदे। सामने के पत्थर में शक्ति है कि वह सहस्रों वर्षों तक पत्थर का पत्थर ही बना रहे। धन में शक्ति है कि वह बहुत कुछ खरीद ले। मान में शक्ति है कि वह दूसरे को नीचा दिखा दे।

किन्तु इस शक्ति का अवलम्ब लेकर व्यक्ति समर्थ होता है, यह भी बात नहीं है। मुझे तो दीखता है कि ठीक यही शक्ति व्यक्ति को असमर्थ बनाती है। उसकी मुक्ति इससे दूर होती है। वह जड़ता के बंधन में घिर कर अशक्त होता जाता है। स्पन्दन की सूक्ष्मता उसकी सूखती जाती है। कल्पना बोझल हो जाती है, उसके पंख भारी हो जाते हैं और स्वयं पर और दूसरों पर वह बोझ बनती है, वह किसी के काम आने में अक्षम होती है।

इस शक्ति और सामर्थ्य नाम से दुनिया में चलने वाली चीज से खयाल वाले व्यक्ति को सावधान रहना होगा। यह जड़ शक्ति समाज में विषम चक्रों को उपस्थित करती है और जैसे-जैसे सभ्यता संस्कृत होगी इस शक्ति का मोह रखने वाले व्यक्तियों का स्थान अस्पताल में होगा। कहीं-न-कहीं भीतर रोग का कीटाणु है जो प्रेम को खाता रहता है और व्यक्ति के चारों तरफ सभ्यता नामक व्यर्थता को जुटाता रहता है। जैसे स्थूलता एक रोग है और वह असुन्दरता है, उसी तरह जड़-पदार्थों को अपने साथ चिपटाने की वृत्ति भी रोग ही है। दोनों में आन्तरिक स्वास्थ्य में विकार आजाने के कारण परिहार शक्ति क्षीण हो जाती है, और जड़ता का अवलेप अन्तःकरण पर छाता जाता है।

चेतन प्राणी की असमर्थता का अर्थ अपने चहुं ओर प्रेम दान की अक्षमता है। इसको दूसरे शब्दों में कहें तो परिस्थिति के साथ सामंजस्य की अक्षमता है।

हम चारों तरफ अपने ऊँची-ऊँची लौकिक सफलता खड़ी कर सकते हैं। लेकिन उस का मतलब यही तो है कि अपने लिए ऊँचाई घेर कर हम शेष सृष्टि से विशिष्ट और विलग हो गये हैं। यह विशिष्टता और विलगता अपने में स्व-रत रहकर और विवेक को पदार्थ में गाड़ कर ही हम सह सकते हैं। ऐसा व्यक्ति भोगोन्मुख होकर ही जी सकता है। उसे

फिर दुःख से डर लगेगा और अपने चारों ओर खड़े हुए सुख के परकोटे से वह बाहर झांक भी नहीं सकेगा। एक तरह अपने छिलके के भीतर वह आत्म-तुष्ट जीवन बिताने को वाध्य होगा। इस तरह अपनी अहंता के चारों ओर गढ़ बनाकर और उसी में अपने को घेर कर सर्वथा सत्य के प्रति अन्धा और उसकी पुकार के प्रति बहरा सा होकर ही उसे जीवन जीना होगा।

उस लौकिक दृष्टि से लेखक यदि असमर्थ है तो इसी में उसके सच्चे सामर्थ्य-विकास के लक्षण मुझे तो दीखते हैं। हां, यदि उसने स्वयं को असमर्थ माना है तो शोक की बात है। तब कहना होगा कि वह लेखक भी नहीं है। उसकी निगाह पदार्थ में है, स्वप्न में नहीं हैं। या फिर वह निगाह बंट गई है। न वह अब स्वप्न में है, न धन में गड़ पाई है; बल्कि संशय और विभ्रम में है। ऐसा यदि नहीं है, यदि सचमुच स्वप्न की झलक उसमें है, तो उसे केवल यह पहचानने की देर है कि जड़ परिग्रह का अभाव ही उसका सच्चा सद्भाग्य है।

(बीच में पदार्थाधिकार आकर व्यक्ति को व्यक्ति से अलग करता है। वह एक को बड़ा, दूसरे को छोटा बनाता है। वह उलझन और समस्याएं पैदा करता है। चैतन्य को ओट में कर के वह स्वयं प्रधान बनने का अवसर पाता है। प्रेम के पन्थ में वह बाधा है, या कहो वही जीवन की परीक्षा है।)

लेखक पदार्थ को व्यवधान-स्पेस में डाल कर शेष से अपने को काट नहीं सकेगा। अपार-जन-सागर के बीच सर्वाभिन्न बूंद के मानिन्द हो रहना उसकी सिद्धि है। जनता से वह अलग नहीं है। वह उसी का और उसी में है। उसका प्रयत्न उन सब अन्तरायों को दूर करने की दिशा में ही हो सकता है जो उसे जन-सामान्य से अलग छांटते हैं। उसे उत्तरोत्तर साम्पत्तिक और बौद्धिक परिग्रह से शून्य होकर अपार जन सामान्य के दुःख में घुल जाना होगा। उसे सुख भोग की ओर न देखना

होगा जो व्यक्ति को बांधता है और ह्रस्व करता है। उसे दुःख ही अपना भोग मानना होगा, जो पुरुषार्थ जगाता और जीवन को गति देता है।

हम चल रहे हैं। अंधेरे से हमें प्रकाश में पहुंचना है और जड़ता से चेतनता की ओर जाना है। प्रयाण हमारा निरन्तर जारी है। उसके अग्रदूत वे हैं जो अकिंचन हैं, इसी से जिन की गति तीव्र है। जो श्रद्धा-वान् हैं इसी से अडिग हैं। जो स्वप्ननिष्ठ हैं, इसी से दुर्निवार हैं। जो बढ़े चले जा रहे हैं, उस ओर जहाँ कि गतिपथ चिन्हित नहीं है। उनके लिए दुःख और बाधाएं ही हो सकती हैं; क्योंकि शेष की ओर उनकी पीठ है। पीछे उन सब के लिए वे आशीर्वाद से भरे हैं जो सुख में लिपटे हैं इस से धीमे ही धीमे चल सकते हैं। उनकी दृष्टि सम्मुख है, जहाँ सब को शून्यता है, पर उन्हें वहाँ से स्वप्न का प्रकाश प्राप्त होता है।

: ८ :

प्रतिनिधित्व या उन्नयन

प्रतिनिधित्व या उन्नयन—यह प्रश्न एकाएक मेरे सामने आगया।

आज की दृष्टि से यह प्रश्न अत्यन्त संगत है। प्रतिनिधित्व करे तो लोक-समस्याओं में ही वह केन्द्रित होना चाहिये। जनता की शिकायतें हैं, उसकी मांगें है। अकाल है और उसे रोटी मिलनी चाहिये, व्याधियों का प्रकोप है और उसे औषध मिलनी चाहिये। शासन का अत्याचार है और उन्हें मुक्ति मिलनी चाहिये। लाखों वेकार हैं, उन्हें काम मिलना चाहिये। इन सब समस्याओं का प्रतिनिधित्व करने से वह बच नहीं सकता।

यह तो मनुष्य का सामूहिक स्वरूप है। मानना होगा कि मनुष्य का यही रूप प्रधान है। क्योंकि व्यापक है और लाखों आदमी के भाग्य को एक साथ छूता है। इन समस्याओं को जो साहित्य आगे नहीं लेता वह अपने कर्तव्य से गिरता है और प्रतिनिधि साहित्य नहीं हो सकता।

उसके बाद व्यक्ति है। व्यक्ति का भी समूचा प्रतिनिधित्व साहित्य में चाहिये। उसमें मन नहीं शरीर भी है। मन में उड़ान है, और उस मन में सपने हैं। लेकिन शरीर रोग के कारण से घिरा है। विकारों को छोड़ कर सपनों में जाने की स्वतन्त्रता साहित्य को नहीं है, समूचे मनुष्य को लेना होगा। उच्चाभिलाषाओं का स्थान व्यक्ति जीवन में कितना सा है, अधिकांश वह तन और पेट की बातों में घिरा होता है। नित्य की अनबन और नित्य के संघर्ष उसके जीवन के वहु भाग पर फैले हुए हैं। उसमें कुत्सा है, लिप्सा है, ईर्ष्या और द्वेष उसमें है, मद और मत्सर उसमें हैं। इस समूचे मनुष्य को साहित्य में स्वीकार करना होगा। आज का मनुष्य सुन्दर से अधिक वीभत्स के निकट है, इस लिये साहित्य को भी

अधिकार नहीं कि वह सुन्दर के निकट जाय। उसे वीभत्स को उतनी ही पूरी तरह स्थान देना होगा जितना कि उसने वर्तमान जीवन में ले रखा है। जिसको देखकर ग्लानि होती है, जुगुप्सा आती है, उस सबसे भी बचना नहीं होगा। गन्द और मैल और सड़ान को भी साहित्य में उसी प्रकार अपनाना होगा कि जैसे धरती उन सबको अपने शरीर पर धारण करती है। धरती पर सरोवर है, और दलदल भी है,—वह सबका मैल अपने ऊपर स्वीकार करती है। ऐसे ही साहित्य को निकृष्ट को और त्याज्य को घृण्य को और असह्य को भी स्वीकार करना होगा। बल्कि अधिकांश उसी की ओर उसे देखना होगा। स्वप्न में सौंदर्य है, यथार्थ में वह कहां है ? जो यथार्थ में है और जो जिस अनुपात में है उसी रूप में साहित्य में उसे प्रतिबिम्बित करना होगा। अगर यह सच है कि शिश्नोदर समस्या हमारे जीवन पर व्यापी हुई है तो उससे बच कर किसी साहित्य को नैतिकता की ओर नहीं भागना होगा। पलायन-वृत्ति में साहित्य का अशुभ है। साहस के साथ यथार्थ की सब कदर्य जघन्यताओं का सामना करना होगा। और साहित्य वही है जो यथार्थ का सच्चा अक्स उतार कर हमें पेश करता है।

लेकिन साहित्य की गति अगर में योग देना है तो इस प्रतिनिधित्व के कर्तव्य से साहित्य को बांधना कठिन हो जायगा।

क्या मनुष्य को वही रहना है जो है ? क्या जीवन स्थिर है, अथवा कि गतिशील है ? क्या उसको उठना और बढना नहीं है ?

अगर उठना है तो कुछ जरूर है जिसे नीचे छोड़ देना होगा और वह भी कुछ जरूर है कि जिस दिशा में उठना होगा। अगर बढ़ना है तो कुछ पीछे छूटेगा, और किसी की तरफ आगे बढ़ा जायगा। जो है सब लेकर गति न होगी। इसलिये स्थिति से बंधना गति से बचना है। और गति के लिये आज का यथार्थता को साथ लिये चलने का आग्रह कुछ छोड़ना होगा।

कदम उठेगा, तभी चलना सम्भव है। पैर जहां पड़े, अगर उसी जगह को पकड़ लेना चाहे, तो गति कैसे होगी ? जहां पैर पड़ते हैं वह तो राह है। मंजिल आगे है, वहां कि जहां का पैरों को पता नहीं है। आंखें भी वहां तक नहीं पहुंचती हैं, मन में ही उसकी झांकी रहती है। उस श्रद्धा के जोर से ही आंख आगे देख रही है और पैर बढ़ते चले जा रहे हैं। पैर उधर बढ़ेंगे कि जिधर आंख देखती है। और आंख उधर देखेगी कि जहां मन की श्रद्धा का ध्यान है। जहां पैर पड़ रहे हैं उस जगह पर मन को भी केन्द्रित किया जायगा तो पांव बढ़ नहीं पायंगे और गति रुक जायगी।

इसलिये साहित्य उसके प्रतिनिम्बित्व के लिये नहीं है जो यथार्थ है। वह है इसलिये कि सम्प्रति के यथार्थ से आदमी को बंधने न दे, बल्कि आगे बढ़ाये, ऊंचा उठाये। वह आदर्श की झांकी देने के लिये है, भविष्य की अवतारणा के लिये है। वर्तमान की व्यवस्था उसपर नहीं है, क्योंकि वर्तमान के उन्नयन का दायित्व उस पर है।

अत: मनुष्य की निकृष्टता में उसे खखोलना नहीं है, अपनी उत्कृष्टता की श्रद्धा मनुष्य में जगा देना है। अपने विकारों से व्यक्ति पराजित है तो इसी लिये कि अपनी निर्विकारता की निष्ठा उसमें मूर्छित हो गई है। व्यक्ति में अपनी ही सम्भावनाओं को जाग्रत करना है। नहीं है वह दुष्ट, नहीं है निकृष्ट, नहीं है घृण्य। वह उज्ज्वल आत्मखण्ड है। विकारों में अपने को भूल बैठा है। उन्हीं की याद दिलाकर उस की दृष्टि को सीमित भर किया जा सकेगा। इस असत् में से उसे उबारने के लिये उसमें विराटता का स्वप्न जगा उठाना होगा। वह क्षुद्र नहीं है, हीन नहीं है। वीभत्स और असुन्दर नहीं है। वह निर्मल है, समर्थ है, और आकाश की भांति महान है।

साहित्य क्या वही नहीं है जो व्यक्ति को इस तरह देश की सीमितता और काल के बन्धन से ऊपर उठाकर उसमें अपने वृहत् रूप की चेतना उद्दीप्त करे ? क्या वही साहित्य नहीं है जो अपनी निजता से उसे मुक्ति

दिलाये और निखिलता से उसका अभेद स्थापित करे ? वह कैसा साहित्य, जो व्यक्ति के आगे दर्पणवत् आकर उसे असमर्थ और हीन दिखाता है, जो वर्तमान की त्रुटियों पर इतना ध्यान देता है कि भविष्य की परिपूर्णताओं को ओझल कर देता है ! इसलिये साहित्य को क्षणिक और कृत्रिम यथार्थ की तरफ पीठ देकर, वल्कि उस पर पाँव देकर, आदर्श के चित्रण की ओर ही उठना होगा।

इस तरह यथार्थ और आदर्श के प्रतिद्वंद्वी अपनी अपनी बात कहते हैं।

पहले भाई कर्मण्य हैं और सार्वजनिक सभा के कार्यकर्ता हैं। दूसरे भाई कवि हैं और सभा-समाजों से अलग रहते हैं।

कर्मण्य कार्यकर्ता ने कहा: हमें जनता की तरफ देखना है। साहित्य आखिर क्या उन्हीं के लिये नहीं है ? सब उन्हीं के लिये हैं। हम जनता का स्वराज्य चाहते हैं। साहित्य क्या इसमें योग न देगा ? वह कैसा साहित्य जो अपने सुख और सौंदर्य में मग्न रहना चाहता है—जबकि बच्चे विलख रहे हैं और श्रमिक मुहताज हैं' !

कवि भाई ने कहा :

"मेरे पास जो है वही लेना हो तो मुझ से ले जाओ। मेरे पास सपने हैं। और सुन्दर-सुन्दर सपने। मेरे पास श्रेष्टतम वही हैं। उससे हल्की मैं चीज़ दूँ तो मेरा और जनता दोनों का अपमान है। लेकिन तुम्हें निश्चय है कि साहित्य को तुम्हारे पीछे चलना चाहिये ?"

कर्मठ ने कहा : हां, क्योंकि मेरा मन जनता की ओर है।

"तो जनता किधर जायगी ? तुम उसके नेता हो, और तुम उसी की तरफ जाते हो ! भला फिर जनता तुम्हारे पीछे कैसे आयेगी ? मेरी सुनो : तुम समर्थ हो, जनता के उपासक न बनो। ऐसे उससे तुम्हें स्वाधीनता रहेगी। आंखें सूरज की ओर रखो और पैर वहां जहां जनता के पैर हैं। फिर सूरज की तरफ आंख रखकर उधर ही उधर को बढ़ो। ऐसा करोगे तो जनता तुम

से नाराज़ नहीं होगी। और मुझ से सूरज के गीत गाने के लिये तुम नाराज न होगे।......*

* पंक्ति यहीं तक लिखी मिली। स्पष्ट है कि वार्ता अधूरे में छूटी है।

: ६ :

सत्य, शिव, सुन्दर

'सत्यं शिवं सुन्दरं'—यह पद आजकल बहुत लिखा-पढ़ा जाता है। ठीक मालूम नहीं कौन इसके जनक हैं। जिनकी वाणी में यह स्फुरित हुआ वह ऋषि ही होंगे। उनकी अखंड साधना के फल-स्वरूप ही, भावोत्कर्ष की अवस्था में, यह पद उनकी गिरा से उद्‌गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालांतर में सस्ता नहीं पड़ जाता? यही हाल ऋषि-वाक्यों का होता है।

किन्तु महत्तत्व को व्यक्त करने वाले पदों को सस्ते ढंग से नहीं लेना चाहिये। ऐसा करने से अहित होगा। आग को जेब में रखे फिरने में खैर नहीं है। या तो जो जेब में रख ली जाती है वह आग ही नहीं है, या फिर उसमें कुछ भी चिनगारी है तो जेब में नहीं ठहरेगी। सबको जला कर वह चिनगारी ही प्रोज्ज्वल बनी दमक उठेगी।

'सत्यं शिवं सुंदरं' पद का प्रचलन घिसे पैसे की न्याईं किया जा रहा है। कुछ नहीं है तो इस पद को ले बढ़ो। यह अनुचित है। यह असत्य है, अनीतिमूलक है। शब्द क़ीमती चीज़ हैं। आरम्भ में वे मानव को बड़ी वेदना की कीमत में प्राप्त हुए होंगे। एक नये शब्द को बनाने में जाने मानव-हृदय को कितनी तकलीफ़ झेलनी पड़ी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थ को एक परिश्रमी पिता के उड़ाऊ लड़के की भांति जहां-तहां असावधानी से फेंकते चलना ठीक नहीं है। कृतघ्न ही ऐसा कर सकता है।

'सत्यं शिवं सुन्दरं' पद से हम क्या पायें, क्या लें, यह समझने का प्रयास करना चाहिये। उस शब्द की मारफ़त यदि हम कुछ नहीं लेते हैं

और हमारे पास देने को भी कुछ नहीं है, तो उस पद के प्रयोग से बचा जा सकता है। ऐसी अवस्था में बचना ही लाभकारी है।

महावाक्यों में गुण होता है कि वे कभी अर्थ से ख़ाली नहीं होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थ को खींच निकाल कर उन शब्दों को खोखला नहीं बना सकता। उन वाक्यों में आत्मानुभव की अटूट पूंजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिये जाओ, फिर भी मानो अर्थ उनमें लबालब भरा ही रहता है। असल में वहां अर्थ उतना नहीं जितना भाव होता है। वह भाव वहां इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि-स्रोत से सम्बन्ध है। इसीलिए ऐसे वाक्यों में जब कि यह खूबी है कि वे पंडित के लिए भी दुष्प्राप्य हों, तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपंडित के लिए भी, अपने वित्त-मुताबिक, सुलभ बने रहें।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदों का सार अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते हैं, या दे सकते हैं। यहां जो 'सत्यं शिवं सुन्दरं' इस पद के विवेचन का प्रयास है, उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धि के परिमाण का द्योतक मानना चाहिये।

सत्य, शिव, सुन्दर—ये तीनों एक वज़न के शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है, और अन्तर है।

सत्य-तत्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य सत्य है। कह दो, सत्य ईश्वर है। यह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नहीं है। वह निर्गुण है। वह सर्व-रूप है। संज्ञा भी है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य कुछ की हस्ती ही नहीं। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नहीं है। जो नहीं है उसके लिये यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। इसलिये असत्य शब्द में निरा मनुष्य का आग्रह ही है, उसमें चरितार्थ

कुछ नहीं है। आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द खड़ा कर लिया है। यह कोरी अयथार्थता है।

इस तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नहीं है। वह शब्द चल पड़ा तो है, पर केवल इस बात को सिद्ध करता है कि मानव-भाषा अपूर्ण है।

जो है वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है, वह सत्य।

अब 'शिव' और 'सुन्दर' शब्दों की स्थिति ऐसी नहीं है। शिव गुण है, सुन्दर रूप है। ये दोनों सम्पूर्णतया मानवानुमान अथवा संवेदन द्वारा ग्राह्य तत्व हैं। ये रूप-गुणातीत नहीं हैं, रूप गुणात्मक हैं। ये यदि संज्ञा हैं तो उनके भाव जुदा हैं,—शिव का शिव-ता और सुन्दर का सुन्दर-ता। और जब वे स्वयं में भाव हैं तब उन्हें किसी अन्य तत्व की अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है' 'वह सुन्दर' है। 'यह' या 'वह' उनके होने के लिए जरूरी हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

ऊपर की बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुन्दर उसी के ध्येय रूप हैं। सत्य ध्येय से भी परे हैं। वह अमूर्तीक है। शिव और सुन्दर उसका मूर्तीक स्वरूप हैं।

निर्गुण निराकार अन्तिम सचाई का नाम हैं सत्य। वही तत्व मानव की उपासना में सगुण, साकार, स्वरूपवान बनकर शिव और सुन्दर हो जाता है।

सत्य की अपेक्षा शिव और सुन्दर साधना-पथ हैं, साध्य नहीं। वे प्रतीक हैं, प्रतिमा हैं। स्वयं आराध्य नहीं हैं, आराध्य को मूर्तिमान करते हैं।

शिव और सुन्दर की पूजा यदि अज्ञेय सत्य के प्रति आस्था उदित नहीं करती, तो वह अपने आप में अहं-पूजा है। वह पत्थर-पूजा है। वह मूर्ति-पूजा सच्ची भी नहीं है।

सच्ची मूर्ति-पूजा वह है, जहाँ पूजक के निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्ति की सचाई मूर्ति से अतीत भी हो।

इस निगाह से शिव और सुन्दर पड़ाव हैं, तीर्थ नहीं हैं, इष्ट-साधन हैं, इष्ट नहीं हैं। इष्ट भी कह लो, क्योंकि इष्टदेव की राह में हैं। पर यदि राह में नहीं हैं, तो वे अनिष्ट हैं।

लेकिन यहां हम कहीं गड़बड़ में पड़ गये मालूम होते हैं। जो सुन्दर है, वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाय तो शिव ही क्या रहा?

बात ठीक है। लेकिन शिव का शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धि पर स्थगित है। सुन्दर का सौंदर्य-निरूपण भी मानव-भावना के अधीन है। मानव-बुद्धि अनेकरूप है। वह देश-काल में बँधी है। इसलिए ये दोनों (शिव, सुन्दर) अनिष्ट भी होते देखे जाते हैं। इतिहास में ऐसा हुआ है, अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वयं-भव है, एक है, उसे आलंबन की आवश्यकता नहीं है। सब विरोध उसमें लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्व के लिए स्थान नहीं है। वहाँ सब 'न'-कार स्वीकार है।

शिव और सुन्दर को आलंबन की अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव संभव है। अशिव को पराजित करने वाला शिव। यही बात सुन्दर के साथ है। असुन्दर यदि हो ही नहीं तो सुन्दर निरर्थक हो जाता है। दोनों बिना द्वित्व के संभव नहीं हैं।

संक्षेप में हम यों कहें कि सत्य अनिर्वचनीय है। उस पर कोई चर्चा-आख्यान नहीं चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्र की अन्तरात्मा है।

और जिन पर बात-चीत चलती और चल सकती है, वे हैं शिव

और सुन्दर। हमारी प्रवृत्तियों के व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो हैं—शिव और सुन्दर।

सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते हैं, वह एकांगी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं।

इस स्वीकृति में से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम। उसी को फिर अहिंसा भी कहो, विनम्रता भी कहो। यानी कि इस प्रसन्न स्वीकृति का अवकाश कि मेरा विरुद्ध भी सच है, उसका नाश नहीं चाहा जा सकता।

यदि मूल में प्रेम की प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रांत है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्म की दीक्षा पाए, उसका अभिषेक ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। खोटा निकल जायगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्ति को इस शर्त को पूरा करना होगा। जो करती है वह विधेय है, जो नहीं करती वह निषिद्ध है। सुन्दर के नाम पर अथवा शिव के नाम पर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमुख वर्तन करेगी वह मिथ्या होगी। दूसरे शब्दों में वह अशिव होगी, असुन्दर होगी, चाहे तात्कालिक 'शिवं'-वादी और 'सुन्दरं'-वादी कितना भी इससे इनकार करें।

असल में मानव की मूल वृत्तियाँ मुख्यतः दो दिशाओं में चलती हैं—एक वर्तमानता के रस की ओर, दूसरी गुह्य एवं इहातीत की ओर। एक में आनन्द की चाह है, दूसरे में मंगल की खोज है। एक का काम्यदेव सुन्दर है, दूसरी का आराध्यदेव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूल में

शिव की खोज है। इनकी आंख भविष्य पर है। साहित्य-संगीत, आराधना-अर्चना, कला-क्रीड़ा, इनमें सुन्दर के दर्शन की प्यास है। इनमें वर्तमान को थाह तक अपना लेने की स्पर्द्धा है।

आरम्भ से दोनों प्रवृत्तियों में किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिव के ध्यान में तात्कालिक सौन्दर्य को हेय समझा गया है। यही क्यों, उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीय को हाथ से छोड़कर मंगल-साधना की वहक में वहना निरी मूर्खता और विडम्बना मान लिया गया है। तपस्या ने क्रीड़ा को गर्हित बताया है और उसी दृढ़ निश्चय के साथ लीला ने तपस्या को मनहूस क़रार दिया है। दोनों एक दूसरी को चुनौती देती और जीतती-हारती रही हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुन्दर में सत्य की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। दोनों सत्य के दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पर अपने आप में सिमटते ही दोनों में अनवन हो रहती है। और इस तरह भी वे दोनों एक प्रकार से परस्पर सहायक होते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे के लिये अंकुश, एक-दूसरे की सीमा, मर्यादा वनते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाज के मंगल-पक्ष को प्रधानता देने वाले नीति-नियम जब-तब इतने निर्मम हो गये हैं कि जीवन उनसे व्यवस्था पाने और सँवरने बजाय कुचला जाने लगा है। तव इतिहास के नाना कालों में, प्रत्युत प्रत्येक काल में, जीवन के आनन्द-पक्ष ने विद्रोह किया है और वह फूट उभरा है। इधर जब इस भोगानन्द के पक्ष में अतिशयता हो आई है तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-क़ानून पुनः बनें और जीवन के उच्छृङ्खल अपव्यय को रोक कर संयत कर दें।

इस कथन को पुष्ट करने के लिए यहाँ इतिहास में से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालों का इतिहास ऐसे उदा-हरणों से भरा पड़ा है। स्वयं व्यक्ति के जीवन में इस तथ्य को प्रमाणित

लपकना चाहती हैं, वह सुन्दर नहीं है। केवल छद्म है, विभास है, सुन्दर की मृग-तृष्णिका है।

सामान्य बुद्धि की अपेक्षा से यह समझा जा सकता है कि शिव को तो हक़ है कि वह मनोरम न दीखे; पर सुन्दर को तो मंगलसाधक होना ही चाहिये। जीवन का संयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानन्द के मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनन्द विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाज की अपेक्षा में देखें तो क्या दीखता है ? स्वभावतः लोग जिनका जीवन रंगीन है और रंगीनी का लोलुप है, जिनके जीवन का प्रधान तत्त्व आनन्द और उपभोग है, जो स्वयं सुन्दर (!) रहते और सुन्दर की लालसा लिये रहते हैं, जो वेफिक्री के निरे वर्तमान में रहते हैं और जिनमें शिव-तत्त्व पर्याप्त नहीं है—ऐसे लोग समाज में किस स्थान पर हैं ? क्या माननीय स्थान पर ?

दूसरी ओर वे, जिनमें जीवन का प्राण-पक्ष मूर्छित है, विधि-निषेधों से जिनका जीवन ऐसा जकड़ा है कि हिल नहीं सकता और तरह-तरह के आंतरिक रोगों को जन्म दे रहा है, जो इतने सावधान हैं कि उनमें स्वाभाविकता और सजीवता ही नहीं रह जाती, जो पाबंद हैं कि मानों जीते-जागते हैं ही नहीं—ऐसे लोग भला किस अंश तक कृतकार्य समझे जा सकते हैं ?

दोनों तरह के व्यक्ति संपूर्णता से दूर हैं। फिर भी यह देखा जा सकता है कि आत्म-नियमन की प्रवृत्ति आनन्दोपभोग की प्रवृत्ति से किसी क़दर ऊंची ही है। जहां वह जीवन को दबाती है और उसे बढ़ाने में किसी प्रकार से सहायता नहीं देती, वहाँ वह अवश्य अयथार्थ है और प्राण-शक्ति को अधिकार है कि उसको चुनौती दे दे। फिर भी प्रत्येक सौन्दर्याभिमुख, आनंदोत्सुक प्रवृत्ति का धर्म है कि वह नैतिक उद्देश्यों का अनुगमन करे।

अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तियां जिनका लक्ष्य सुन्दर है, उन वृत्तियों के

साथ समन्वय साधें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। दूसरे शब्दों में कला नीति-समन्वित हो। और इसके बाद कला और नीति दोनों ही धर्म-समन्वित हों। धर्म का आशय यहाँ मतवाद नहीं;—'धर्म' अर्थात् प्रेम-धर्म।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं हैं, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति। इस पद में गति है, उद्बोधन है। सुन्दर की ओर, फिर सुन्दर से क्रमशः शिव और सत्य की ओर प्रयाण करना होगा,—यह ज्वलंत भाव उसमें भरा है। यों भी कह सकते हैं कि सत्य को शिव-रूप में उतारकर ध्यान में लाओ, क्योंकि यह सरल है। और शिव को भी सुन्दर रूप से निहारो, क्योंकि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर की मर्यादा है, शिव की भी मर्यादा है। और दोनों ही की मर्यादा है सत्य। सत्य में सब-कुछ अपनी मर्यादाओं समेत मुक्त हो जाता है।

: १० :

दूध या शराब

साहित्य व्यक्ति से पैदा होता है। एक पुस्तक को प्रस्तुत करने में यों छापेखाने के लोग और प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता आदि भी सहयोगी होते हैं, किन्तु जहाँ तक पुस्तक के हार्द का सम्वन्ध है, वह एक व्यक्ति को ही प्रकट करती है। वह पुस्तक लेखक की है। उसकी अपनी निजी भावनाओं और आदर्शों को व्यक्त करने के लिए वह पुस्तक वनी है।

सिनेमा इस प्रकार एक व्यक्ति की कृति नहीं है। भिन्न-भिन्न दिशा के कई कलाकार उसको वनाने में लगते हैं। उसे प्रस्तुत करने में साहित्यिक भी चाहिए, अभिनेता भी, संङ्गीतज्ञ भी, फ़ोटोग्राफ़र भी—इसी प्रकार अन्य विज्ञान के कलाकार भी।

व्यक्ति समूह से ऊंचा उठ सकता है। वह एक है, अपनी निजता में स्वाधीन है, इसलिए जो कुछ भी वह लिखता है, उसमें हार्दिकता और अधिक आदर्शवादिता आ सकती है। अपनी कृति में उसे दूसरे को निभाना नहीं है। वह स्वप्न लेनेमें स्वच्छन्द है, कल्पना में स्वच्छन्द है। वह वास्तविकता के धरातल से और व्यवहारी तथ्य से जी चाहे जितना ऊंचा उठ सकता है।

समूह को ऐसी आजादी नहीं। समूह इतना ऊंचा नहीं उठ सकता। समूह पार्थिव वास्तविकता से ऐसी आसानी से नाता नहीं तोड़ सकता। व्यक्ति स्वप्न में रह ले, किन्तु सौ व्यक्ति इकट्ठे होकर एक ही स्वप्न में आसानी से नहीं रह सकते। उन सवका अपना-अपना निज का व्यक्तित्व ही उसमें वाधक वनता है। समूह में गर्भित प्रत्येक व्यक्ति को जव कि

सामूहिक व्यक्तित्व में अपना योग-दान करना है, तब उसे अपने पृथक् और निजी अस्तित्व को भी तो सुरक्षित रखना ही है। इसलिए समूह की उड़ान उतनी ऊंची नहीं हो सकती।

जहाँ हमारी आंख जा सकती है, पैर नहीं जा सकते। और जहां हमारी बुद्धि जा सकती है, वहां आंख नहीं जा सकती। पैर ज़मीन पर चलते हैं, आंख आस्मान को भी देखती है। किन्तु क्या आंख की स्पर्धा करके पैर अपने को दुर्भागी मान लें और इसलिए जमीन पर चलने से इन्कार कर दें ? पैर यदि ऐसा करेंगे तो वह अधर्म करेंगे। वे ऐसा नहीं कर सकते। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।

अब हम जो एक साथ बुद्धि, आँख और पैर के स्वामी हैं, क्या पैर का तिरस्कार करें ? हमारे व्यक्तित्व की शर्त ही यह है कि हम इन तीनों अवयवों में विरोध-भाव न पैदा होने दें और उन्हे परस्पर के प्रति निबाहते रहें।

आज यदि हम मस्तिष्क ही मस्तिष्क हों, अन्य स्थूल इन्द्रियों से हम छुट्टी पालें, तो क्या यह बहुत अच्छा होगा ? लेकिन अच्छा चाहे जितना हो, वैसी अवस्था में हम मनुष्य न रहेंगे।

सिनेमा वह वस्तु है जिसमें एक ही साथ भाँति-भाँति के लोगों को निबाहना होता है। जिसके प्रस्तुत करने में ही दसियों प्रकार के कलाकारों का जीवित सहयोग स्थापित करना पड़ता है। एक सिनेमा के चित्र को प्रस्तुत करने में सैंकड़ों व्यक्तियों के हृदयों को एक भावना पर आकर केन्द्रित होना पड़ता है। साहित्य में ऐसा नहीं है। साहित्य के प्रस्तोता (प्रस्तुतकर्त्ता) का व्यक्तित्व पहिले ही से गठित है, वह एक है।

इस के साथ ही दोनों के उपकरणों और साधनों में अन्तर है। जो दृश्य है, अथवा हो सकता है, सिनेमा के लिए वही प्राप्य है। जो

साधारणतया आंखों से नहीं दीखता, नहीं दीख सकता, साहित्य की पहुंच कल्पना द्वारा वहां भी हो जाती है। साहित्य को जो शब्दों द्वारा करना होता है, सिनेमा उसी को पात्रों चरित्रों और दृश्यों द्वारा करता है। शब्द धारणा (Concept) के द्योतक हैं। वे ज्यादा लचकदार हैं। वे आसानी से घटाये-बढ़ाये और गढ़े जा सकते हैं। उनके साथ मनमानापन चलने की ज्यादा गुन्जायश है। जीवित प्राणियों और पदार्थों के साथ वैसी अबाध स्वतन्त्रता नहीं ली जा सकती। लकड़ी का कुछ बनाना हो, तो आरी-बसूले से उसके साथ परिश्रम दरकार है। जीवित प्राणियों को किसी विशेष रूप में ढालने के लिए तो और भी सिर-पच्ची करनी होती है। आदमी में ठोस-पदार्थों से भी ज़्यादा 'अहम्ता' है।

स्पष्ट है कि लचकदार शब्दों को अपने अधीन करके हम जिस सूक्ष्मता का निर्देश कर सकते हैं, पदार्थों और प्राणियों को लेकर उतनी सूक्ष्मता तक हम शायद नहीं पहुँच सकते। इसलिये काव्य में और सिनेमा में अन्तर रहे, यह अनिवार्य ही है।

लेकिन जैसा मैंने पहले कहा, काव्य में और सिनेमा में विरोध मैं नहीं देखता।

माना कि पदार्थ-विज्ञान का सिद्धान्त 'एलेक्ट्रोन्स' पर पहुंच गया है और उसी विज्ञान का प्रयोग-सिद्ध रूप बेचारा अभी उससे कोसों दूर है। लेकिन क्या इससे यह मान लिया जाए कि पदार्थ-विज्ञान की 'थियरी में और 'प्रेक्टिस' में विरोध है ? ऐसा नहीं है। हां, अन्तर है, लेकिन वह अन्तर तो मात्र इस लिए है कि प्रयोग 'सिद्धान्त' को सामने रख-कर आगे बढ़ता चले। वह अन्तर न रहे तो प्रगति कैसे हो ?

यही बात यहाँ भी समझनी चाहिये।

यहां यह बहस न छेड़ी जाये कि प्रैक्टिस का महत्त्व अधिक है, 'थियरी' तो हवाई चीज है। यह तो जो जहां रहता है उसके अपने मान पर निर्भर है। कोई पैसे को बड़ा समझता है, दूसरा ईमानदारी को

बड़ा समझता है। पैसे को बड़ा समझने वाले के लिए पैसा ही बड़ा है। लेकिन जिसने ईमानदारी को पैसे से बड़ा बनाकर देख लिया है उसके निकट फिर पैसे को कौनसा तर्क ऊँचा बनाकर दिखा सकता है ?

इसलिये यह तो मुझे यहां कहना नहीं कि सूक्ष्म ज्यादह उपयोगी है कि स्थूल। मात्र इतना ही समझाना है कि स्थूल से सूक्ष्म को अपना नाता नहीं तोड़ना चाहिये।

हमारे भारतीय फ़िल्मों की गति देखते यह कहना पड़ता है कि उस के अधिकारी इस बात को ठीक तरह नहीं समझते। तब साहित्य उनसे असन्तुष्ट हो तो क्या आश्चर्य ! सिनेमा शराब हो, जब कि साहित्य दूध, ऐसी बात नहीं है। लेकिन वह यदि दूध न होना चाहे तो अवश्य बुरी बात है। मुझे यही मालूम होता है कि सिनेमा को दूध होना चाहिए, वैसे होने की कोशिश करते रहना चाहिए। सिनेमावालों को शायद अपने इस दायित्व का पता नहीं है।

सिनेमा के मूल में की प्रेरणा भी अभी शायद पैसे के तल से ऊंची नहीं है। फिलासफ़ी की बात नहीं कहता हूं। फिलासफ़ी तो समस्त जीवन को सत्यान्वेषण की परिभाषा में देख लेती ही है। पर मैं कहना चाहता हूँ कि आज-कल हमारा सार्वजनिक जीवन भी ठोस पैसे से नीति की भावना की ओर उठने लगा है। हम सिनेमा जैसे व्यवसाय से जिसका कि प्रभाव तुरन्त और ज़बर्दस्त होता है यह मांग करेंगे कि वे पैसे के धरातल से भावना में ऊँचे उठें।

सिनेमा के वातावरण में शरीर प्रधान है। उस में ऐंद्रियिकता बहुत है। मुझे कहना है कि वहाँ बौद्धिक और आत्मिक सम्भावना को स्थान मिलना चाहिये। शारीरिक-तल पर रहकर जो चीज बनायी जाती है उसका सार्वजनिक महत्व उतना ही कम है। यों तो शराब भी बनती है, लेकिन उस पर विवेचन करने लोग नहीं बैठा करते। लेकिन सिनेमा तो सार्वजनिक प्रभाव की वस्तु है। वह अपने महत्व से गिरे, यह कैसे सहन

किया जाये ? उसमें ताक़त है। उस अपनी ताक़त को सिनेमा न पहचाने और उसका अपव्यय होने दे, तो यह क्यों न चिन्ता का विषय बन जाये? इसीलिये इस बात को अख़बार के कॉलमों में और दूसरी जगह चिन्ता और विवेचना का विषय बनाया गया है। दूसरे राष्ट्र इस सिनेमा के साधन से कितना अपना संस्कृति का भला कर रहे हैं। हम फिर सामर्थ्य रहते हुये उस महत्वपूर्ण साधन को अपने भारतवर्ष में निकम्मा क्यों रहने दें ?

इस दिशा में कुछ साहित्यिकों ने प्रवेश किया। उन का क्यों कोई ख़ास असर आती हुई फ़िल्मों पर दिखायी नहीं देता ? यदि कुछ परि-स्थिति की लाचारी है और फिल्म अच्छे बन ही नहीं सकते, तो फिर वे उस लाइन में ठहरे हुए क्यों हैं ?

अगर साहित्य और सिनेमा में लेन-देन स्थापित नहीं किया जा सकता, तो में विरोध स्थापित करने के भी विरोध में हूं। यदि साहित्यिक सिनेमा से असन्तुष्ट है तो उसे चाहिये कि वह आत्म-विश्वासी बने। सिनेमा में जायें तो वहां अपने दायित्व को भूले नहीं। दायित्व का पालन नहीं सम्भव है, तो वहां न जाये।

मैं अनुभव करता हूं कि साहित्यिक रुष्ट तो अवश्य है, पर वह आत्म-विश्वासी नहीं है। वह सिनेमा में जाना चाहता भी है, और उसे गाली भी सुनाना चाहता है। दोनों बातें ग़लत हैं। यदि वह अपनी साहित्यिकता सिनेमा के क्षेत्र में नहीं निभा सकता, तो स्पष्ट है कि वह सिनेमा से किनारा लेकर और सच्चाई के साथ साहित्य के क्षेत्र में अपने दायित्व-पालन में लग जाये। मुझे इसमें सन्देह है कि हमारे साहित्यिक ने अपनी लगन का विशेष प्रभाव फिल्म-निर्माता पर छोड़ा हो। उसे चाहिये कि वह अपनी लगन के प्रति सच्चा रहे। तब मेरा अनुमान है कि उसे तीव्र आलोचना की फ़ुरसत कम रहेगी और सिनेमा-निर्माता को भी आज नहीं तो कल उसकी ओर ध्यान देना होगा।

: ११ :

साहित्य और साधना

भाइयो,

साहित्य के सम्बन्ध में मैंने कुछ पढ़ा नहीं है, किन्तु सुना यह
ज़रूर है और कई वार है कि जो प्रेम के ढाई अक्षर पढ़ लेता
है वह पंडित होता है। पंडित चाहे नहीं, साहित्यिक होता है, इसे आज
मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं। साहित्य के क्षेत्र में पुस्तकों का ज्ञान
उतना आवश्यक नही है जितनी आवश्यकता है साधना और उपासना
की। विश्व के हित के साथ एकाकार हो जाय, यही जीवन का लक्ष्य
है। वाह्य जीवन से अन्तर जीवन का सामंजस्य हो, इस सत्य को सिद्ध
करने में ही जीवन की सार्थकता है। ग्रन्थों के पढ़ने से हम में वड़ा विभेद
उत्पन्न हो जाता है। साधना का विषय है साहित्य। आप वर्णमाला भी
चाहें न जानें, आपको एक अक्षर का भी ज्ञान न हो, किन्तु, आपके मुख
से कोई वाणी उद्‌भूत हो और सम्भव है आप में का कवि वोल उठे,
वह वाणी सवके हृदयों को प्लावित कर दे। वह वस्तु पढ़ने या पढ़ाने से
प्राप्त नहीं हो सकतीं, उससे तो इसका कोई सम्वन्व ही नहीं। साहित्य
का सीधा सम्बन्ध साधना से है। साहित्य यदि लिखने की चीज़ होती तो
बहुत वढ़िया चीज चाहे होती, पर यदि वह लिखने की ही होती तो आपके
या मेरे हृदय की चीज़ नहीं हो सकती थी। हमारी भावनाएँ आत्मा से
निकलती हैं, जहाँ उनका व्यक्तिकरण हुआ वही साहित्य हुआ। अक्षरा-
भ्यास तो उसके वाद की वात है।

जव तक सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति हम में है तव तक हम सुन्दर

साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। यदि नहीं, तो वह व्यर्थ है,—उसमें केवल दो-चार बुद्धिवादी मनुष्य ही आनन्द पा सकते हैं। जीवन से अनपेक्षित होकर साहित्य न जिन्दा रहा है, न रह सकता है। जीवन की जितनी समस्याएँ हैं वे हमारे सामने जीवित समस्याओं के रूप में उपस्थित हों। वाल्मीकि और तुलसी आदि कोई वड़े विद्वान न थे,—जो साहित्य के धुरन्धर चूड़ामणि कहलाते हैं, उन जैसे विद्वान न थे,—वे तो सन्त थे। वे ही हमारे लिए सुन्दर से सुन्दर साहित्य छोड़ गये हैं और उनका जीवन विश्व के हित के लिए बलिदान हो गया है। हमारा और साहित्य का जो सम्बन्ध रहा है वह किताब का विषय बना हुआ है, जीवन का नहीं। उसी को कुछ जीवित चीज बनाना होगा।

जो विद्वान् के लिए भी गूढ़ है वह जन साधारण को भी साधारण हो जाता है। जो साहित्य सबसे ऊँचे दर्जे का है वह विद्वान के लिए उतना ही सुन्दर है जितना जन साधारण के लिए। फिर भी उसमें इतनी गूढ़ता है कि उसकी सचाई का अन्त नहीं है। भाषा चाहे जैसी हो; भावना और शैली चाहे जैसी हो, व्याकरण का परिष्कार भी न हो, किन्तु वह जीवन की, हृदय की, चीज जरूर हो। वह हमारी कमजोरियों की दीवार में झरोखे पैदा कर दे जिसमें शुद्ध हवा आने-जाने लग जाय। वीमार के लिए स्वच्छ हवा कैसे हानिकारक है ? मनुष्य-मनुष्य के बीच में जो दीवारें खड़ी कर दी गई हैं साहित्य उनमें खिड़कियाँ खोल देगा। उनके बीच से बहेगा और वह राजसियों के निकट हरिजनों और किसानों का चित्रण करेगा। राजा का चित्रण उसी स्वाभाविक रीति से होगा कि जिससे किसान का भी चित्र प्रतिबिम्बित हो। सब मनुष्य हैं, सब एक हैं। यही साहित्य का काम है। उसमें चोर को फाँसी देने वाला न्यायाधीश और चोर स्वयं एक हों, सब में ईश्वर,—इसका नाम साहित्य है। समन्वय करते-करते वस्तुओं के प्रति द्वंद्व का भाव नष्ट हो जाय। महात्माजी ने अपने एक रिकार्ड में कहा है कि जो है सो परमात्मा है। फिर यह

पाप और पुण्य क्या है ? परमात्मा से पाप कैसे आया ? बात यह है कि पाप भी है और पुण्य भी है, फिर भी पाप के खिलाफ लड़ते रहो। समाधान श्रद्धा से ही मिलता है। इसी स्वर्गीय समाधान में साहित्य की सिद्धि है।

: १२ :

साहित्य की सचाई

भाइयो,

मेरी उमर ज्यादा नहीं है। पढ़ा भी ज्यादा नहीं हूँ। साहित्य-शास्त्र तो बिल्कुल नहीं पढ़ा हूँ। फिर भी, लिखने तो लगा। इसका श्रेय परिस्थितियों को समझिए। यों अधिकार मेरा क्या है ? लिखने लगा तो लेखक भी माना जाने लगा। और, आज वह दिन है कि आप विद्वान लोग भी आज्ञा देते हैं कि मैं आपके सामने खड़ा होकर बोल पड़ूँ।

आप लोगों द्वारा जब मैं लेखक मान लिया गया और मेरा लिखा हुआ कुछ छपने में भी आया, तब मैं अपने साहित्यिक होने से इन्कार करने का हक छिना बैठा। लेकिन अपनी अबोधता तो फिर भी जतला ही सकता हूँ। वह मेरी अबोधता निविड़ है। साहित्य के कोई भी नियम मुझे हाथ नहीं लगे हैं। साहित्य को शास्त्र के रूप में मैं देख ही नहीं पाता हूँ। पर शास्त्र बिना जाने भी मैं साहित्यिक होगया हूँ ऐसा आप लोग कहते हैं। तब मुझे कहना है कि साहित्य-शास्त्र को बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है, और शायद अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है। इसमें साहित्यशास्त्र की अवज्ञा नहीं है, साहित्य के तत्व की प्रतिष्ठा ही है।

साहित्यिक यदि मैं हूँ तो इसका मतलब मैंने अपने हक में कभी भी यह नहीं पाया है कि मैं आदमी कुछ विशिष्ट हूँ। इन्सानियत मेरा सदा की भांति तब भी धर्म है। सच्चा खरा आदमी बनने की जिम्मेदारी से मैं बच नहीं सकता। अगर साहित्य की राह मैंने ली है, तब तो भाव की सच्चाई और बात की मिठास और खरेपन का ध्यान रखना और इसी

प्रकार का अन्य सर्व-सामान्य धर्म मेरा और भी धर्म हो जाता है। इस दृष्टि से, मैं आज अनुभव करता हूँ कि, साहित्य के लिये वही नियम हैं जो जीवन के लिये हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि जैसा मुझे दुनिया में रहना चाहिए वैसा साहित्य में भी क्यों न रहना चाहिए ? जितनी मेरे शब्दों में मेरे मन की लगन है उतना ही तो उन में ज़ोर होगा। जिन्दगी ही में नहीं तो शब्दों में ज़ोर आएगा कहां से ?

अपने जीवन की एक कठिनाई मैं आपके सामने रख दूं। आंख खोल कर जब दुनिया देखता हूँ तो बड़ी विषमता दिखाई देती है। राजा हैं और रंक हैं, पहाड़ हैं और शिशु हैं, दुःख है और सुख है।—यह विषमता देखकर बुद्धि चकरा जाती है। इस विषमता में क्या संगति है ? क्या अर्थ है ? पर, वैषम्य अपने आप में तो सत्य हो नहीं हो सकता। विषमता तो ऊपरी ही हो सकती है। दुनिया में जो कुछ हो रहा है उसके भीतर यदि मैं उद्देश्य की,—अर्थ की झाँकी न ले सकूं, तो क्या वह सबकुछ पागलपन न मालूम हो ? सब अपना-अपना अहंकार लिये दुनिया में अटकते फिर रहे हैं। इसमें क्या मतलब है ? मैं सच कहता हूँ, कि इसे देखकर मेरा सिर चकरा जाता है। यह चांद क्या है ? आसमान में ये तारे क्या हैं ? आदमी क्यों यहां से वहां भागता फिर रहा है ? वह क्या खोज रहा है ? क्या ये सब निरे जंजाल ही हैं, भ्रमजाल ही हैं ? क्या यह समस्त चक्र निरर्थक है ? इसे जंजाल मानें, तो जियेंगे किस विश्वास के बल पर ? अविश्वास पर निर्भर रह कर तो जीना दूभर हो जायगा। जब-जब बहुत आंखें खोलकर और बहुतेरा उन्हें फाड़कर जगत् को समझने का प्रयास करता हूँ, तभी तब बुद्धि त्रस्त हो रहती है और मैं विफलता में डूब जाता हूँ। और श्रद्धाहीन बुद्धि तो वन्ध्या है, उससे कुछ फल नहीं मिलता। वह तो लंगड़ी है, हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती।

बुद्धि से विज्ञान खड़े होते हैं। हम वस्तु का विश्लेषण करके उसकी व्याख्या करके अणु तक पहुंचते हैं। फिर, बुद्धि वहां अणु के साथ टकराती

रहती है। अन्त में समझ में क्या आता है ? अणु बस अणु बना रहता है, थियरी बस थियरी बनी रहती है और जान पड़ता है कि न अणु की थियरी सत्य है और न कोई और थियरी अन्तिम सत्य हो सकेगी। और सदा की भांति विराट् अज्ञेय हमें अपनी शून्यता में समाये रहता है और हम भौंचक रहते हैं।

विज्ञान की दूरबीन में से सत्य को देखते-देखते जब आंखें हार जाती हैं, सिर दुःख जाता है, बुद्धि पछाड़ खाकर स्तब्ध हो रहती है, तब हम शान्ति की पुकार करते हैं। तब हम श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब हम चैन के लिए,—रस के लिए विकल होते हैं। निरुपाय हो हम आंख मींचते हैं और अपने भीतर से ही कहीं से रस का स्रोत फूटा देखना चाहते हैं। और जो आंख खोल कर नहीं मिला, आंख मींचकर मिल जाता है। बुद्धिमान् जो नहीं पाते, बच्चे बच्चे बनकर क्या उसे ही नहीं पा लेते हैं ? मैं एक बार जंगल में भटक गया। जंगल तो जंगल था, भटक गया तो राह फिर कैसे मिले ? वहां तो चारों ओर पेड़ ही पेड़ थे जिनकी गिनती नहीं, जिन्हें एक को दूसरे से चीन्हने का उपाय नहीं। घण्टे के घण्टे भटकते हो गये और मैं अधिकाधिक मूढ़ होता चला गया। तब मैं हार कर एक जगह जा बैठा, आंख मीच कर अपने भीतर ही से राह खोजने लगा। और मैं आप से कहता हूं कि बाहर खोई हुई राह मुझे भीतर ही मिल गई।

आजकल नये विचारों की लहर दौड़ रही है। मैं आप को अपनी असमर्थता बतला दूं कि मैं उन लहरों पर बहना नहीं जानता। लहरों पर लहराने में सुख होगा, पर वह सुख मेरे नसीब में नहीं है। हमारे सामने मानव-समाज की बात कही जाती है। मानव-समाज टुकड़ों में बंटा है,—उन टुकड़ों को राष्ट्र कहते हैं, वर्ग कहते हैं, सम्प्रदाय कहते हैं। उन या वैसे अन्य खण्डों में खण्डित बनाकर हम उस मानव-समुदाय को समझते हैं। पर असल में ऐसी कोई फांकें हैं नहीं। ये फांके तो हम

अपनी बुद्धि के सहारे के लिए बना के बिठाते हैं। मानवसमाज का यह विभाजन हमारी बुद्धि हमें प्रकार-प्रकार से सुझाती है। एक प्रकार का विभाजन अति स्वीकृत हो चला है। वह है—एक मासेज, दूसरी क्लासेज; सर्वसाधारण और अधिकारप्राप्त; कंगाल और ऐश-भोग वाले। इन दोनों सिरों के बीच में और भी कई मिश्र श्रेणियों की कल्पना है। इस विभाजन को गलत कौन कहेगा ? लेकिन यह मानना होगा कि विभाजन सम्पूर्ण सत्य नहीं है। सत्य तो अभेदात्मक है। इस अभेदात्मक सत्य को अपनी बुद्धि से ओझल कर रखने से संकट उपस्थित होगा।

फिर एक बात और भी है। मानव-समाज ही इति नहीं है। पशु-समाज, पक्षी-समाज, वनस्पति-समाज भी है। यही क्यों, सूर्य-नभ-ग्रह-तारा-मण्डल भी है। यह सभी कुछ है और सभी कुछ की ओर हमें बढ़ना है। मानव-समाज को स्वीकार करने के लिए क्या शेष प्रकृति को इनकार करना होगा। अथवा कि प्रकृति में तन्मयता पाने के लिए मनुष्य-सम्पर्क से भागना पड़ेगा ?

दोनों बातें गलत हैं। धर्म सम्मुखता है। हम उधर मुंह रक्खें अवश्य जहां वह इन्सान है जो परिश्रम में चूर-चूर हो रहा है, देह से दुबला है, और दूसरों के समस्त अनादर का बोझ उठाये हुए झुका हुआ चल रहा है।—हम उधर देखें जहाँ पुरुष को इसलिए कुचला जाता है कि दानव मोटा रहे। पीडित मानव समाज की ओर हम उन्मुख रहें, अपने सुख का आत्म-विसर्जन करें,—उनकी वेदना में साझा बटायें। यह सब तो हम करें ही,—करेंगें ही। अन्यथा हमारे लिए मुक्ति कहाँ है ? पर ध्यान रहे, मानव-समाज पर जगत का खात्मा नहीं है। उस से आगे भी सत्य है, वहाँ भी मनुष्य की गति है, वहाँ भी मनुष्य को पहुंचना है।

और इस जगह पर आकर मैं कहूं कि अरे, जो चाँद-तारों के गीत गाता है, उसे क्या वह गीत गाने न दोगे ? उन गीतों में संसार के गर्भ

से ली गई वेदना को अपने मन के साथ घनिष्ठ करके वह गायक गीत की राह मुक्त कर दे रहा है। उसको क्या प्रस्ताव से और कानून से रोकोगे ? रोको, पर यह शुभ नहीं है। अरे, उस कवि को क्या कहोगे जो आसमान को शून्य दिगम्बर देखता है, कुछ क्षण उस मे लीन रहता है, और उसी लीनता के परिणाम में सब वैभव का बोझ अपने सिर से उतार कर स्वयं निरीह बन जाता है और मस्ती के गीत गाता है ? कहें राजनीतिक उसे पागल, पर वह लोक-हितैषी है। उसका प्रयोजन चाहे हिसाब की बही में न आये, पर प्रयोजन उस में है और वह महान् है।

ज्ञान जानने में नहीं, वैसा बनने में है। Knowledge is being असली जानना पाना है, तद्रूप तन्मय हो जाना है। हम मनुष्य-समाज की सच्ची सेवा स्वयं सच्चा मनुष्य बनकर कर सकते हैं। और अहं-शून्य हो जाने से बड़ी सत्यता क्या है ? कवि स्वयं एकाकी होता है, सम्प्रदाय से विहीन होता है। वह स्वेच्छापूर्वक सबका दास होता है। स्नेह से वह भीगा है और अपने नस-नस में गरीब है। जब वह ऐसा है, तब उसके आगे साम्राज्य की भी बिसात क्या है ? वह सब उसके लिए तमाशा है। उस कवि से तुम क्या चाहते हो ? क्या उससे तुम सुधार चाहते हो ? क्या उससे प्रचार चाहते हो ? अरे, क्यों चाहते हो कि जिस के मन में फकीरी समाई है वह कुनबेदार बना रह कर बस श्रमिक वर्ग की भलाई चाहने वाला साहित्य लिखे ! श्रमिक और मजदूर वर्ग को साइन्स के द्वारा, 'इज्म' के द्वारा, प्रस्ताव के द्वारा नहीं जाना जायगा। प्रेम के द्वारा उसे जानना होगा और प्रेम के द्वारा पाना होगा। और जब हम यह करने बढ़ेंगे तो देखेंगे कि हमें कहां फुरसत रहेगी कि हम बहुत बातें करें। अरे, वैसे फ़कीर की फ़कीरी और इकतारा क्यों छीनते हो ? अगर वह नदी के तीर पर साँझ के झुटपटे में अकेला बैठा कोई गीत गा रहा है तो उसे गाने दो, छेड़ो मत। उसके इस गीत से किसी मजदूर का, किसी

चरवाहे का बुरा न होगा। होगा तो कुछ भला ही हो जायगा। उसको उस निर्जनता से उखाड़ कर कोलाहलाकुल भीड़ में बलात् बिठाने से मत समझो कि तुम किसी का भला कर रहे हो।

व्यक्ति को वेदना की दुनिया पाने दो और पाकर उसे व्यक्त करने दो, जिससे कि लोगों के छोटे-छोटे दिल कैद से मुक्ति पायें और प्रेम से भर कर वे अनन्त शून्य की ओर उठें।

अभी चरचा हुई कि क्या लिखें, क्या न लिखें। कुछ लोग इसको साफ़ जानते हैं, पर मेरी समझ तो कुंठित होकर रह जाती है। मैं अपने से पूछता रहता हूं कि सत्य कहां नहीं है ? क्या है जो परमात्मा से शून्य है ? क्या परमात्मा अखिलव्यापी नहीं है ? फिर जहाँ हूँ, वहाँ ही उसे क्यों न पा लूं। भागूं किस की ओर ? क्या किसी वस्तु विशेष में वह सत्य इतनी अधिकता से है कि वह दूसरे में रह ही न जाय ? ऐसा नहीं है। अतः निषिद्ध कुछ भी नहीं है। निषिद्ध हमारा दंभ है, निषिद्ध हमारा अहंकार है, निषिद्ध हमारी आसक्ति है। पाप कहीं बाहर नहीं है, वह भीतर है। उस पाप को लेकर हम सुन्दर को वीभत्स बना सकते हैं और भीतर के प्रकाश के सहारे हम घृण्य में सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं।

एक बार दिल्ली की गलियों में आँख के सामने एक अजब दृश्य आ गया। देखता हूं कि एक लड़की है। बेगाना चली जा रही है। पागल है। अठारह-बीस वर्ष की होगी। सिर के बाल कटे हैं। नाक से द्रव वह रहा है। काली है। अपरूप उसका रूप है। हाथ और बदन में कीच लगी है। मुंह से लार टपक रही है। वह बिलकुल नग्न है। मैंने उसे देखा, और मन मतली दे आया। अपने ऊपर से काबू मेरा उठ जाने लगा। मैंने लगभग अपनी आँखें मींच ली और झटपट रास्ता काटकर मैं निकल गया। मेरा मन ग्लानि से भर आया। कुछ भीतर बेहद खीज थी, त्रास था। जी घिन से खिन्न था। काफी देर तक मेरे मन पर वह खीज छाई रही।

किन्तु, स्वस्थ होने के बाद मैंने सोचा, और अब भी सोचता हूं, कि क्या वह मेरी तुच्छता न थी ? इस भांति सामने आपदा और विपदा और निरीह मानवता को पाकर क्या स्वयं कन्नी काटकर बच निकलना होगा ? मैं कल्पना करता हूं कि क्राइस्ट होते, गौतम बुद्ध होते, महात्मा गान्धी होते तो वे भी क्या वैसा ही व्यवहार करते ? वे भी क्या आंख बचाकर भाग जाते ? मुझे लगता है कि नहीं, वे कभी ऐसा नहीं करते। शायद वे उस कन्या के सिर पर हाथ रख कर कहते—आओ बेटा, चलो, मुंह-हाथ धो डालो, और देखो यह कपड़ा है, इसे पहिनलो। मुझे निश्चय है कि वे महात्मा और भी विशेषतापूर्वक उस अभागिनी बाला को अपने अन्तस्थ करुण प्रेम का दान दिए बिना न रह पाते।

पर नग्नता हमारे लिए अश्लीलता है न ? सत्य हमारे लिए भयंकर है, जो गंहन है वह निषिद्ध है, और जो उत्कट है वह बीभत्स। अरे, यह क्या इसीलिए नहीं है कि हम अपूर्ण हैं, अपनी छोटी-छोटी आसक्तियों में बंधे हुए हैं। हम क्षुद्र हैं, हम अनधिकारी हैं। मैंने कहा है अनधिकारी। यह अधिकार का प्रश्न बड़ा है। हम अपने साथ झूठे न बनें। अपने को बहकाने से भला न होगा। सत्य की ओट थाम कर हम अपना और पर का हित नहीं साध सकते। हम अपनी जगह और अपने अधिकार को अवश्य पहिचानें। अपनी मर्यादा लांघे नहीं। हठपूर्वक सूर्य को देखने से हम अन्धे ही बनेंगे। पर बिना सूर्यकी सहायता के हम देख नहीं सकते यह भी हम सदा याद रखें। हम जान लें कि जहां देखने से हमारी आंखें चकाचौंध में पड़ जाती हैं वहां देखने से बचना यद्यपि हितकर तो है, फिर भी वहां ज्योति वही सत्य की है और हम शनैः शनैः अधिकाधिक सत्य के सम्मुख होने का अभ्यास करते चलें।

: १३ :

जीवन और साहित्य

भाइयो,

आपके सामने मैं साहित्य के कानूनों को नहीं गिनाना चाहता। वहुत-सी किताबें यह काम करती हैं, लेकिन कानूनों के आसरे चलकर आप साहित्य की असली चीज़ को नहीं पा सकते। इसलिए सबसे पहले मैं कहना चाहता हूँ कि आप मेरे विचारों को एक के विचार ही समझें,—किसी तरह की प्रामाणिकता उन्हें न दें। वैसे किताब की बातें भी तभी सच होती हैं जबकि उनके पीछे आपकी अनुभूति का वल हो, आपका दिल गवाही दे।

अंदाज़े वदलते रहते हैं। आज जो वड़ा है वह पचास वर्ष की दूरी पर क्षुद्र हो जाता है। आज ईसा वड़ी शक्ति है, लेकिन अपने ज़माने में उसकी मान्यता नहीं थी। यहाँ तक कि दुनिया को लाचार होना पड़ा था कि उन्हें सूली दे दे। उस समय के दृष्टि-मान ने हमें यह ही वताया कि वह नाचीज़ है, लेकिन आज के पैमान से हम देखते हैं कि हम उसे पूजा ही दे सकते हैं। सत्य अन्तिम नहीं है। हम उस पर जिज्ञासा और तर्क करते हैं। जव हमें दीखता है कि हम इतने वड़े संसार में छोटे-से हैं तव सोचते हैं कि हम निरे व्यर्थ ही न हैं ? लेकिन हमारा छोटापन ही हमें जीता रखता है। हमारी इच्छाएं और हमारा ज्ञान भी वन्धन है, पर वह हमें एकत्रित रखता है। हमें ज्ञान में हमें हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अज्ञानी हैं।

वाहिरी ऊंच नीच को देखकर हम दंभ करने लगें या अपने को व्यर्थ अनुभव करें, तो यह ग़लत चीज़ है। हमें सीमाओं से ऊपर उठना

है। विभाजन एक तरह से जरूरी है, वह हमारी लाचारी है। लेकिन अगर हम उसमें एकता को भूल जाते हैं तो वह एक कैद हो जाती है।

हमारी असमर्थताएं और सीमाएं हमें बाध्य करती हैं कि हम समाज में दर्जों को, श्रेणियों को देखें, उनका अनुभव और स्वीकार करें। इतना तो हम सीख गये हैं कि धन का होना किसीको बड़ा छोटा नहीं बनाता। पर जो अंग्रेजी पढ़-लिख सकता है वह बड़ा माना जाता है और स्वयं भी अपने को बड़ा मानता है। क्योंकि वह कहता है कि मैं पैसे के जोर से नहीं, अक्ल के जोर से ही बड़ा बना हूं। यह भी दम्भ ही है। हमें एक दूसरे को विशिष्टता देकर भी बराबर ही रहना है और हम रह सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि यह तो कल्पना है, हमारी वास्तविक दुनिया भेद पर चलती है। जबर्दस्ती अभेद माने जाना भी दम्भ हो सकता है। मैं आप से नहीं कहता कि आप वास्तविक जीवन में ऐसा समझिए। यहीं पर साहित्य का काम आता है। हमारे जीवन के नाप-तोल साहित्य में काम नहीं करते। एक गरीब हमारे पास से निकल जाता है, उसे देखकर हम अनदेखा करते हैं, लेकिन साहित्य उस पर हमें रुला सकता है। इससे भी आगे वह हम में इस बदहाली की जड़ खोदने की इच्छा भी पैदा कर सकता है। इस प्रकार हमारे मौलिक असाम्य और असामंजस्य को वह दूर करने की प्रेरणा देता है। साहित्य से हमारे विद्वेष और दम्भ दूर होते हैं। साहित्य वह चीज है जो हमें इस फर्क के नीचे जाकर देखने को बाध्य करती है और हमें उलझन में से राह और राहत देती है।

उस गहरी भीतरी गहराई को दिखाती है जो बाहरी वस्तुता के नीचे है। दूसरी बात जिस पर कि साहित्य का असर है—वह है हमारा घर। घर क्या है? पहले घर होते थे तो उस का मतलब होता था कि लोग अपने को घेर लेते थे। आजकल बंगले हैं जो खुले रहते हैं। कहा जा सकता है कि उस दिन के लोग आज से अधिक मजबूत थे, लेकिन

वह बंद रहने की वजह से नहीं था। वह इस लिए था कि उन्हें अधिक से अधिक खुले मैदान में और संघर्ष के जीवन में रहना पड़ता था। कम से कम घर में दरवाज़ा ज़रूर चाहिए। नहीं तो उसमें रहने वाला दम घोंट कर मर जायगा। एक आदर्श यह भी हो सकता है, एक जीवन ऐसा भी हो सकता है कि हम घर ही क्यों बनाएं, क्यों न हर एक छत के नीचे अपना ही घर मानें ? इस आदर्श जीवन की वात आप से नहीं कहूंगा। घर हमें चाहिए, लेकिन द्वार उसके खुले रहें। वैसे घर हम चाहे कहीं बना सकते हैं—हिंद में, हिन्दुत्व में इस्लाम में, हिन्दी में उर्दू में। घर हो पर द्वार खुला रहे। यही है साहित्य का दूसरा काम, यानी खुली हवा के यहां से वहाँ तक आने-जाने के लिए राह खोलते रहना।

कहानी लिखी गई, पढ़ी गई, मनोरंजन हो गया। पर अनाज तो नहीं मिला ! आप पूछें कि तव साहित्य की वात क्यों की जाती है ! पेट भरने का, रोज़गार का कोई नुस्खा वताइए ! वाद में आर्ट को भी देखेंगे। लेकिन आप को एक वात महसूस होनी चाहिए। आप को खाना जरूरी हो गया है, तभी तो आप में उसकी माँग है ? जिस चीज की चाह नहीं वह आप नहीं मांगते। हवा आप नहीं मांगते। इसी तरह कहा जा सकता है कि हम साहित्य की मांग नहीं करते, क्योंकि हम उसकी कमी को अनुभव नहीं कर पाये। यदि आप में साहित्य की मांग नहीं हो तो होसकता है कि आप असली गहरी चीज़ों से आँख फेरे हुए हैं। यदि कोई आपको रोटी वनाने के लिए अनाज नहीं देता, कविता करता है, तो यह न समझिए कि वह व्यर्थ ही है। वह जानता है कि वह आप को पेट की चीज नहीं दे रहा है और यह भी कि आप कृतज्ञ नहीं होंगे। लेकिन यह मत समझिए कि वह ऐसा काम कर रहा है जिसकी आपको जरूरत नहीं है। आप की हवा को जो स्वच्छ रखता है आप उसकी ओर ध्यान नहीं देते। साहित्यिक आप के खयाल की दुनिया को साफ रखता है। दूरदर्शी पहले यह देखता है कि खयाल की दुनिया में क्या होता है। जो वस्तु और घटना

की दुनिया में घटता है वह पहले तो हमेशा खयाल की, आइडिया की, दुनिया में हो चुका होता है। क्रांति जहाँ भी हुई है पहले मन में हुई है। गान्धी हमारे संसार में रहता है, फिर भी वह पहचानता है कि हमारे मन में क्या दूषित है। इसलिए वह महात्मा है, न कि इसलिए कि वह हमसे अनोखा है या ज्यादा उघड़ा या दुवला है।

साहित्य हमारी सुख और तृप्ति की भावनाओं से ऊपर है। जिसमें तृप्ति की मांग है, वह चीज़ साहित्य हमें नहीं दिया करता। वह चीज एक चटनी हो सकती है जो भोजन का ज़ायक़ा बढ़ा दे, लेकिन साहित्य अधिक सीधी, पोषक और मौलिक या आधार भूत चीज़ है।

सत्य वड़ी भयंकर चीज है। हम जब समझते हैं कि सत्य तो यह है, वह है, तब हम दम्भ में पड़ते हैं। सत्य में विनय है और वह दंभ को काटता है। यह वारीकी होगी। आपको तो यही देखना चाहिए कि लेखक आप में कोई प्रतिध्वनि उठाता है? आपको निकट खींचता है?—यदि हां, तो वह साहित्य है। वह अपना सुख दूसरे को देता है, दूसरे का दुख मांगता है। जायदाद नहीं माँगता, दूसरे के दुःख ही को बंटाता है और निरंतर अपना दान देता रहता है। इसी में उसकी सफलता है।

आज फिर ईसा पैदा हो सकते हैं और हम फिर उन्हें सूली दे सकते हैं। लेकिन यह नहीं हो सकता कि उनका प्रेम का सन्देश कभी फलित न हो।

किसी जमाने में मुझे डिक्शनरी से प्रेम था। मैं चाहता था कि उसके द्वारा अपना शब्द-ज्ञान वढ़ा लूँ और दूसरों पर रौव डालूँ। लेकिन ऐसे मैंने एक शब्द भी नहीं सीखा। क्योंकि मैंने डिक्शनरी का दुरुपयोग किया। उसका ठीक उपयोग यह है कि जब मुश्किल हुई तब हमने उस में खोजा और उत्तर पाया। पुस्तकों के वारे में भी ऐसा ही समझिए। हमें रहना है दुनिया में, कितावों में नहीं। कितावों में और पुस्तकालयों में कोई ज्ञान

नहीं है। उनसे तभी लाभ है जब कि हम में मांग हो, एक तड़प हो कि हम पाएं। पुस्तक से आप का संबन्ध हो सकता है तो जीवन के द्वारा ही। जिल्दसाज़ किताब को जानता है उसके जुज़ से, विक्रेता जानता है उसकी कीमत से, लेकिन आपको गहरी अभिलाषा के ही जरिये उसे जानना चाहिए। क्योंकि इसी जिज्ञासा के उत्तर में साहित्य उत्पन्न होता है।

: १४ :

साहित्य का उद्देश्य

भाइयो,

सच कहूं तो मुझे इतनी आशा न थी। मैं कुछ धर्म-संकट के नाते यहाँ आगया। यहां आकर देखता हूं कि मेरे लिए काम मौजूद है। यहां सब लोग मनोविनोद के नाते नहीं आये, परन्तु एक गम्भीरतर लक्ष्यमूलक वृत्ति लेकर आए हैं।

आदर्श जो अंतिम है, उस के बारे में कितनी भी बातें हों, सब एक ही हैं। सहस्र-नाम-स्तोत्र भी उस नामहीन के लिये थोड़ा है। इससे हम वैसे स्तोत्र पाठ में न पड़ेंगे। मार्क्स या कि गांधी के स्वप्नों में ख़ास अन्तर नहीं है। दोनों चाहते हैं कि विषमता न हो, वर्गहीनता हो। उनके मार्गों में अन्तर देखा जाता है। यह अन्तर जरूरी और शुभ भी है। मार्ग जहां पहुंचना है वहाँ से नहीं, बल्कि जहां से चलना है वहां से बनता है। मार्ग विभिन्नता इसी से है। यदि आदमी चले तो मार्ग भेद की चिन्ता नहीं होगी। चलने से स्वयं मार्ग बनता है। हम लोग अगर चलने वाले हैं तो आपस में बहस नहीं करेंगे कि तेरा रास्ता ठीक है या मेरा। वैसे मार्ग की अनेकता की समस्या को दिमाग द्वारा सुलझ चुकी हम मान लें यह सम्भव है, पर कदम उठाने से पहले मार्ग-निर्णय नहीं होगा, सब मार्ग सही या गलत मालूम होंगे। देखिए न कि हम सब अलग-अलग मार्ग चले हैं, पर इसी कारण यहां एक जगह इकट्ठा हो सके हैं। कोई इन्दौर से आया है, कोई भूपाल से, मैं दिल्ली से आगया हूं। इस लिये राहें तो अलग हम सबको लेनी ही हुई, तभी तो आज यहां हम एकत्र हैं।

यदि सचमुच ही हम में व्यग्रता होगी तो हम एक संघ स्थापित कर लेंगे। यदि हम दिमाग में ही सत्य को पा लेना चाहते हैं तो निश्चय मानिये कि सत्य दिमाग द्वारा कभी नहीं पाया जा सकता। सब में बुद्धि है, इस ही का तकाजा है कि सब में मतभेद हो। वे लोग जिनको कि सत्ता, स्वर्ण या स्त्री चाहिये, वे तो जीवन में प्रतिस्पर्धा, युद्ध या हिंसा अनिवार्य मानेंगे और कहेंगे कि मेल तो स्वर्ग में ही होगा। जिनकी इस प्रकार की विचारणा है उनको मेरी यह बात मानने की लाचारी नहीं है।

साहित्यिक सत्ता के, स्वर्ण के या स्त्री के रास्ते का राही नहीं है। वह उन सब में और उन सबसे परे स्वयम् अपने और इस राह सबके आपेको पा लेना चाहता है। सत्य या मुक्ति या परमात्मा शब्द इसी बात को व्यक्त करते हैं। अहंबुद्धि के द्वारा, या सत्ता के, कांचन के या कामिनी के रास्ते से हमारे जीवन में जो फांके या द्वंद्व पैदा हो जाते हैं, साहित्य का काम उनका संयोजन है, द्वित्व मिटाना है। धर्म कहता है कि पैसा बन्धन पैदा करता है, उसे मत छूओ, कर्मारंभ कल्मश में डाल देंगे। इसी तरह धर्म संस्था-बद्ध हो चलता है। पर धर्म ने जिसको वर्ज्य माना दुनिया उसी को अपनाती है। इसी से यथार्थ और आदर्श के दो पक्ष और रास्ते बनते हैं। यह विभेद हर इतिहास और जाति में पाया जाता है। कुछ लोग हैं जो देह सुखा देंगे, कुछ लोग हैं जो कहेंगे हमें अच्छा से अच्छा खाना-पहनना है। और फिर दोनों एक दूसरे को भला-बुरा कहेंगे। मैं यह मानता हूं कि साहित्य वह चीज है जिसका ध्येय यह दोनों अतियां नहीं हैं। साहित्य वह जो यथार्थ से आंख नहीं मींचना चाहता, पर स्वप्न तो आदर्श के ही लेता है। इसी प्रकार के त्याग द्वारा भोग का उपनिषद् ने भी विधान किया है। साहित्य इस प्रकार आदर्श को यथार्थ से और यथार्थ को आदर्श से तोलता और जोड़ता रहता है।

यहां विरोध दीखेगा। पर विरोध साहित्य का भोजन है। वही साहित्य की जान और जीवन की परिभाषा है। जीवन के बाहर किसी

चीज से अपने आप को अटका लो तो विरोध चुभने वाला नुकीला हो जाता है। अन्यथा विरोध वैभिन्य-वैचित्र्य उपजाता और इस तरह नाना रंगों की छटा हमें देता है। यदि हम शुद्धबुद्ध चिन्मय बन जायं तो जीवन हम में समाप्त है। इससे पूर्व जो जितना प्राणवान् व्यक्तित्व है उतने ही गम्भीर और तीव्र विरोध उसमें लय प्राप्त करते हैं। वह लयता पाना ही नीति हैं, उसी का नाम सत्य है, वही साधना है। कट्टर नास्तिक 'नास्ति' की भाषा से ही अद्वैत को खोजता और पाता है। अत्यन्त श्रद्धालु जैसे प्रणति से प्राप्त करना चाहता है, वैसे ही कुछ नेति-नेति द्वारा उसकी ओर बढ़ते हैं। शुद्ध, अखंड, निपट-निर्द्वैत चिन्मय स्थिति तो आदर्श लोक में है।

बाह्य विरोधों को लेकर अन्तर में विरोध-मंथन पैदा करें तो कलह मिटती सी लगेगी। विरोधों को सहर्ष स्वीकार कर लें तो विरोध शक्ति देते हैं। इस परिषद द्वारा ऐसा लगता है कि विरोधों का स्वीकार ही नहीं स्वागत भी किया जा रहा है। विरोध नहीं हों तो जीवन नहीं है। सब बात में एक-सा सोचने का आग्रह हिटलर अपने सिपाहियों से भले रखवा पाए। साहित्य में यह कदापि नहीं हो सकआ। साहित्य सेना-बद्ध पंक्ति व्यापार नहीं है।

आखिर हमें क्या काम करना होगा ? हम अन्तर टटोलें। वादों को आईडिओलोजिओं को कष्ट न दें। वह तकलीफ क्या है जिसने हमें एक सभा-रूप में मिलने के लिए उभारा और जुटाया है ? एक छोटी-मोटी कठिनाई यह है कि अजी, हमारी रचना तो छपती ही नहीं है, प्रकाशन जल्दी-जल्दी हो जाना चाहिए। मैं अपनी बात कहूं। एक बड़ी उम्र तक तो आवारा बिनकमाये रहा। अब लेखन द्वारा कमाई की बात सोची तो लगा कि वह भी ठीक नहीं है। इसलिए प्रतिभा को संरक्षण मिले यह चिन्ता मुझे नहीं छू पाती। प्रतिभा का भोजन प्रतिरोध है। पुष्ट वृक्ष के लिए क्यों यह मजबूरी है कि वह बगीचों में नहीं जंगल में ही पैदा हो ? क्योंकि वहां कोई किसी की परवाह नही करता। प्रतिभा के बारे में

सचिन्त और कातर होने की आवश्यकता नहीं है। विरोध की आवश्यकता कम हो जायगी तो प्रतिभा की आवश्यकता कम हो जायगी। इसीलिए मैं सोचता हूं कि प्रतिभा कोई अच्छी चीज नहीं है। समाज के लोगों के द्वारा उत्पन्न प्रतिरोधों और अवरोधों के प्रत्याख्यान स्वरूप प्रतिभा उपजती है। जिसने अपने को प्रतिभावान समझ लिया उसकी गति रुक गई। प्रतिभा बुद्धि का एक रोग है।

प्रतिभावान् के रास्ते के प्रतिरोध को हटाने की भी कोशिश न करें। चारों तरफ जड़ता का दबाव न हो तो आत्मा की परीक्षा ही क्या? उसके लिए फिर काम भी क्या? जिन के पास पूंजी है वे यदि उसे लेकर आप के सामने बिछाने सहज आ जाएं तो अकिञ्चनता के आदर्श साधना का महत्व ही क्या? लेखक का स्वधर्म लेखन है। वह अप्रमादी बने। यदि पूंजीपति आज नहीं सुनता है तो एक न एक दिन तो सुनेगा ही। अगर जनता आपकी बात मानेगी, तो न तो कोई सत्ताधीश न कोई स्वर्णाधिप जनशक्ति के आगे टिक सकेगा। श्रम जहां पसीना डालता है, वहां शक्ति का और संपत्ति का स्रोत है। आपकी निगाह स्रोत की ओर ही क्यों न हो? बीच के बिचभइयों की ओर देखकर आप निरुद्यम, मंद, प्रार्थी बन कर कैसे रह सकते हैं? पूंजीपति या सत्ताधीश को पति या अधीश क्यों मानते हैं? जहां से पूंजी निकलती है, वहां आप जायें तो पता लगेगा कि ऐसे आप पूंजी के प्रवाह को ही सही तरफ मोड़ सकते हैं।

सांकृत्यायन की बात बहुत पते की बात है। सब शक्ति का स्रोत जनता है। उसके बाद आपकी समस्याओं का हल आपसे आप आ जाता है। यदि आप इस पर्स्पेक्टिव या दृष्टिकोण से यहां आये हैं तो सचमुच आपकी तात्कालिक समस्याओं की पूर्ति ही न होगी, बल्कि स्थूल से आगे सूक्ष्म समस्याओं के समाधान की ओर भी आप बढ़ेंगे। आप के सामने बहुत बड़ा कर्तव्य है। पूरी निष्ठा, पूरे अप्रमाद के साथ चल पड़ें तो छोटी-छोटी- समस्याएं तो आप से आप हल हो जावेंगी। दुनिया की चतु-

राई (Worldly Sense) समस्याओं के हल में सहाई नहीं होगी। इसीसे जिसे (Unworldly nonsense) कहा जाता है, अर्थात् अव्यवहारी सनक, उससे च्युत होने की आप को आवश्यकता नहीं है। सन् २८-२९ में लेखकी के रास्ते पर मैं पांव फिसलने से आ गया। समझदारी यह कहती थी कि मां है, उसके लिए कमाई करो। मेरी चालू वाजास्दर तव तीस-चालीस की भी न थी। आठ-दस वरसों में आकर साठ-पैंसठ मिलजाते। तव भी शायद अव के समान मैं पति वनता, पिता भी वनता, पर मन वुझ गया होता। अव पति वनने या पिता वनने में कोई दिक्कत नहीं हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि जैनेन्द्र क्या वेवकूफ आदमी हैं, तो कुछ लोग प्रशंसा में कहते हैं कि जैनेन्द्र अच्छा वुद्धिशाली आदमी है। यानी दोनों रायें आपस में कट-पिट गई। यही होता है। तव यहां-वहां जाने की तवीयत होती थी, पर वात मन की मन में रह जाती थी। अव यह है कि दिल्ली इतनी दूर है, और मैं यहां उज्जैन आ गया हूं। और ऐसे ही कलकत्ता और लाहौर और वंवई और न जाने कितने शहर देखने को मिल जाते हैं। आप कहेंगे यह वात तो वड़ी 'पर्सनल' है। आप में कोई प्रतिभा है, देन है और अपवाद से तो नियम सिद्ध ही होता है। पर मैं आपसे निश्चय से कहता हूं कि प्रतिभा-व्रतिभा ढकोसले के शब्द हैं। जो वुद्धियुक्त है, विवेकी है, वह यह वात वड़ी आसानी से मान-जान जायगा कि एक आदमी कैसे भला विशिष्ट या अनिवार्य हो सकता है। आस्तिक भी यह वात कभी नहीं मानेगा कि परमात्मा ने किसी को अधिक प्रतिभा दी, किसी को कम। मैं सिर्फ यही कहना चाहता हूं कि साधारण समस्याओं को अंतिम मानकर चलने की जो यह प्रवृति है वह उपकारक नहीं है। जो शुद्ध साहित्यिक, सांस्कृतिक, वैचारिक या आदर्शात्मक समस्याएं हैं— उन्हें यदि कोई निरुपयोगी वताये, तो सिर झुका लेना चाहिये और घवराना नहीं चाहिये। सच वात यह है कि यथार्थ से चिपट रहना आदर्श तो है ही नहीं, व्यवहार भी नहीं है। सेठ कितनी गलत चीज कर रहा

हैं कि वह करोड़पति बन रहा है। जो आदमी मोटर से नीचे पैर नहीं रखता वह ज़मीन से दूर बनता है। आसमान को यदि अपने दिल में लेकर आप चल रहे हैं तो वही शुद्ध व्यवहार है। मनुष्य के नाते एक एम. एल. ए., एक मजदूर-सभा-मंत्री, एक राजा, एक भिखारी, ये सभी एक ही समाज के अंग हैं। अपने स्व-भाव में पूरी निष्ठा रखकर यदि आप साधारण व्यवहार में अपने आपको खोल दें, तो कोई बाधा आप को रोक नहीं सकती। उसी ध्येय की निष्ठा अपने आप में भर लीजिये और समस्याएँ सुलझाते चलिए। यानी समस्याओं के स्तर को उठाते चलिए।

तात्कालिक ज़रूरतें भी होती हैं। सुनिए, अपनी स्थिति की मर्यादों पर बहुत संकुचित और लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें हम खुले स्वीकार कर सकते हैं। अपनी रोटी-दाल की समस्या को हम बिना छद्म-व्यवहारके अपने समक्ष लें। इसके लिए हमें सूक्ष्म चिन्तन की नहीं स्थूल कर्म में लगने की तय्यारी करनी चाहिए। लेखक के लिए स्वतन्त्र अभिव्यक्ति एक दृष्टि से असंभव है, जब तक कि कर्म चेष्टा से वह स्वावलम्बन की स्थिति न प्राप्त कर ले। समता का धरातल अथक कर्म में से प्रसूत हो सकता है । नहीं तो श्रेणी-चेतना पैदा होगी और वह भीतर से काटती रहेगी। अतः क्या तो व्यक्तित्व के लिए और क्या फिर संघ के लिए स्थूल कर्म की आवश्यकता अनिवार्य है। चिन्तन और कर्म, स्व और पर, मैं और तुम, इनमें सख्य-सम्बन्ध हो। ऐसा आदर्श ज़माना होने में आजाय जब एक और दूसरे के बीच में स्नेह और सहयोग हो, स्पर्द्धा और द्वेष न हो, यह साहित्य का आदर्श है। फांसी और युद्ध खतम नहीं हो सकते, न होंगे, परन्तु अपराधी को जज प्यार कर सके यह तो हो सकता है। क्रोध और दुश्मनी के नीचे प्रेम की धार तो बहती और व्यथा में सहती रह सकती है। इसी को हमें संभव बनाना है। यह भावना के प्रचार से न हो जायगा। स्थूल सेवा कर्म को भी हाथ में लेना होगा।

उस स्थूल कर्म की योजना सोच समझ कर बनायेंगे और तत्पर होंगे तो पैसे का आना भी अपने-आप ही हो जायगा । आप आज तो वहाँ से पैसा नहीं ला रहे हैं जहाँ वह पैदा होता है, उस वर्ग वालों से लाते और लाना चाहते हैं जहाँ उस पर चौकीदारी होती है। पर आप बिलकुल निःस्वार्थ भाव से रचनात्मक परिश्रम के लिए तय्यार हो जायँ । सार्थक, प्रयोजन-युक्त और सावधान चेष्टा से पैसे की भाषा में आय करने की बात भी आप को सोचनी पड़ेगी । आपका भावनात्मक, आदर्शात्मक चिन्तन चला चले, इस संभवता के लिए आपसे शुष्क परिश्रम की आशा भी की जाती है । कोई भी संघ बन नहीं सकता जब तक स्वेच्छित उत्साह उसके पीछे न हो । अंशोत्सर्ग अहं का भी करना होगा । आज लेखक मानव जाति को तो प्रेम करता है पर पड़ोसी की कीमत पर । दिमाग दूर जाता है, आसपास तक हाथ ही रहते और पहुंचते हैं । दिमाग की उस उड़ाऊ वृत्ति पर अंकुश आपका यह सेवा-कर्म ही डाल पाएगा । इस मर्यादा के भीतर बौद्धिकता विधायक होती है, अमर्याद होकर नाश करने लग जाती है । दूर जाने के लिए पास की मर्यादायें और यथार्थताएं आपको बाधा जान पड़ेंगी, वे आपकी दौड़ को सरपट नहीं होने देंगी । मगर श्रद्धा है तो आपको वही बल और उत्साह देंगी । वाङ्मय का तो सम-राज्य है । साम्राज्य में बड़े छोटे होते हैं, साहित्य के सम-राज्य में सब समान हैं । यहां कोट पतलून या आकार प्रकार नहीं देखा जाता, हृदय देखा जाता है । इन्सानियत और आत्मा मांगी जाती है, बिल्लों और नारों से जांच नहीं होती । अच्छे वाचालों से साहित्य को पुष्टि नहीं मिला करती । भाषा साहित्य में मौन के बल से बोलती है । प्रेम भला कभी मुखर हुआ है। और मौखर्य मूर्खता को भी कहते हैं । सृष्टि चुपचाप होती है । आपका काम भी सहज और चुपचाप होना चाहिए । स्रोत के दौरे होते हैं, जो अनवरत हुआ करता है उसमें कोलाहल नहीं होता । आपका अनवरत क्रम चलना चाहिए, जैसे प्रकृति का । और वह प्रकृत प्रेरणाओं से होना चाहिए, कृत्रिम आकांक्षाओं से नहीं ।

: १५ :

राष्ट्र भाषा और प्रान्तीय भाषाएं

भाइयो,

यह एक बिल्कुल अघट घटना है कि मैं आज कहानी-लेखक हूं। मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मैं कहानी-लेखक हूंगा। मन में विचार उठे, इसलिए लिख बैठा। अपने को विद्वान् मान नहीं लिखा। विद्वान मान कर लिखना असम्भव हो जाता है—उस अहंता से आपस का नाता खराब हो जाता है और हममें दुराव आ जाता है। मैं यह भी महसूस करता हूं कि ज्ञान आदमी को आदमी से मिलाता नहीं है, दूर करता है। यही हाल धर्म-ज्ञान का भी है। धर्म का पण्डित ईश्वर से दूर हुआ देखा जाता है। आचरण बिना ज्ञान निकम्मा है। साहित्य अगर कोई सचाई है तो उसका पण्डित नहीं होना चाहिये। पण्डित बन कर तो वह उसका रस निकाल देता है। सचाई को घेरने की कोशिश व्यर्थ है, उसका प्रेम इष्ट है।

मुझको मालूम होता है कि अगर मैं साहित्य के बारे में कुछ जानकार मान लिया जाता हूं तो इसलिये नहीं कि मैं जानकार हूं, बल्कि इसलिए कि मैं अपनी अज्ञता को दूसरों से छिपाने के मोह में नहीं पड़ा। अपनी अज्ञता की स्वीकृति पर व्यक्ति के लिए विनय ही शेष रह जायगा। भाषा नहीं जानता था, इसलिए अपनी बात ही सीधे-सादे में कह सकता था। वही मैंने किया। कोरा ज्ञान और कोरी भाषा आगे नहीं रखी।

कोई सामाजिक प्रतिष्ठा मेरे पास नहीं। जो मेरा अभाव था, वही मेरा सौभाग्य बना। ज्ञान और भाषा के अभाव में मैं वही कह सकता था जिसका मुझे अनुभव था। व्यक्तिगत अनुभव मैंने कहे इसलिए लोगों के मन को उसने छुआ होगा।

कहा गया है कि राष्ट्र भाषा के बारे में मैं कुछ कहूंगा। राष्ट्रभाषा पर कुछ कहने का मुझे अधिकार नहीं है। राष्ट्रभाषा के लिए मैंने कोई कष्ट नहीं उठाया। काका कालेलकर अधिकारी व्यक्ति हैं। वह जो कुछ बात कहते हैं उन भाषाओं के अध्ययन के आधार पर कहते हैं। भाषा के लिये उन्होंने कष्ट उठाया है—सारे हिन्दुस्तान का भ्रमण किया है।

राष्ट्रभाषा के बारे में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूं उसका एक और भी कारण है। हिन्ही राष्ट्रभाषा है; इससे हिंदी-भाषियों का गौरव बढ़ा है तो साथ ही दायित्व भी बढ़ा है। उत्तर प्रान्तों के हम लोगों ने प्रयत्न नहीं किया है कि हम अन्य प्रान्तों की भाषाएं सीखें। सूरत में आज हिन्दी में भाषण कर रहा हूं। अधिकांश यहां पर गुजराती है, लेकिन मैं गुजराती नहीं जानता। फिर भी हिन्दी में भाषण करना शर्म की बात नहीं है तो इसलिये कि सूरत हिन्दुस्तान राष्ट्र का एक हिस्सा है। पर आपके और मेरे दोनों के लिये प्रसन्नता की बात होती अगर मैं गुजराती भी बोल सकता। आप अगर हिन्दी सीखने लग जाते हैं तो क्या मुझ पर ऋण नहीं चढ़ता कि मैं आपकी भाषा सीखूं ?

थोड़ी देर को समझ लीजिये कि हिन्दी मेरी भाषा नहीं है। यह सोच कर जरा विचार करें। आज दशा यह है कि एक प्रान्त का साक्षर दूसरे व्यक्ति के साथ परिचय अंग्रेजी के माध्यम से ही कर सकता है। यह गौरव की बात नहीं है, कलंक की बात है। डिमोक्रेसी की भावना चारों ओर फैल रही है। लेकिन असलियत जीवन में अंग्रेजी से नहीं आयगी। आज हमें यह बात अच्छी तरह से महसूस कर लेनी चाहिये कि अंग्रेजी के आधार पर राष्ट्रीयता आगे नहीं बढ़ सकती। माना अंग्रेजी से राष्ट्रैक्य की भावना बढ़ी है, लेकिन सांस्कृतिक तल पर नहीं राजनीतिक तल पर बढ़ी है। व्यापारी धरातल का मेल काफी नहीं है, सांस्कृतिक धरातल पर मेल जरूरी है।

अंग्रेजी से विभेद आ गया है। गाँव शहर फट गये हैं और दूर हट गये हैं। पास आये हैं तो शोषण के नाते। अंग्रेजी से हमारा घर नहीं मिला। घर-आफिस अलग-अलग वन रहे। अगर राष्ट्र एक होने वाला है—जैसाकि निश्चित है कि भारत अखंड है, अविभाज्य है—तो वह अंग्रेजी भाषा से नहीं होगा।

प्रान्तीय भाषाओं के वारे में एक वात है। अगर मराठी, गुजराती, वंगाली अपनी-अपनी भाषाओं को लेकर माता भारती के भण्डार में पहुंचें और कहें कि हमारी भाषा भी सेवा में हाजिर है, राष्ट्र भाषा के तौर पर वह भी सेवकाई वजाने को तैयार है, तो कोई वुराई नहीं है। लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि हमारी ही भाषा राष्ट्रभाषा वने। इस विषय में प्रान्तीयता के मोह से ऊपर उठना होगा, ममत्व को छोड़ना होगा।

भाषा को राष्ट्रभाषा वनाने के लिये उसकी उत्तमता, मधुरता, वैज्ञानिकता आदि की दलीलें दी जाती हैं। वे दलीलें ठीक हों, लेकिन हमें देखना यह है कि राष्ट्रभाषा वनने में सुगमता सुलभता किस से रहेगी। हिन्दी के नाम पर जो भाषा चल रही है उसे फकीर-दरवेश, मजूर और मुसाफिर आदि जनता के आदमियों ने ऐसा फैला दिया है कि वह कम अधिक अव भी समूचे हिन्दुस्तान में समझ ली जाती है। वस हुआ, वह अनघड़ भी हो उससे काम चल जायगा।

गांधी ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा माना और मनवाया। गांधी वह व्यक्ति है जिन्होंने अपना आत्म-जीवन अंग्रेजी में नहीं लिखा। जवाहरलाल ने लिखा हे, वह दूसरी वात है। गांधी ने गुजराती में लिखा, फिर चाहे वह अंग्रेजी में हुआ, हिन्दी हुआ, या अन्यान्य भाषाओं में हुआ। गुजराती भाषा को साहित्य और संस्कार देने की दृष्टि से देखा जाय तो गांधी किसी से पीछे नहीं हैं। लेकिन गांधी ने फिर भी राष्ट्र भाषा हिन्दी को कहा। वह इसलिए नहीं कि गुजराती के प्रति उनके प्रेम में कुछ कमी हो गई,

वरन् समस्त राष्ट्र की भावना ने उनसे कहलवाया कि हिन्दी राष्ट्र भाषा है।

अगर गुजराती के पक्ष में यह बात हो सकती है तो बंगला, मराठी के पक्ष में भी यही बात हो सकती है। बंगाली और मराठी को इस आशंका की जरूरत नहीं हैं कि हिन्दी सीखने से उनकी भाषाएं खतरे में पड़ जावेंगी। लेकिन असलियत यह है कि हिन्दी से उनकी भाषा की शक्ति कम नहीं होगी, बढ़ेगी। यदि कोई स्वयं स्वस्थ है, कोई ग्रंथि-विग्रह उसमें नहीं है, तो दूसरों के सम्पर्क से अलाभ नहीं होगा। अपने कॉम्प्लेक्स के कारण ही दूसरों के संपर्क से हानि पहुंचती है। अन्यथा तो समृद्धि का रास्ता सम्पर्क को व्यापक बनाते जाना हैं।

अगर बंगला और मराठी को समृद्ध होना है तो उन्हें खुल कर राष्ट्र भाषा के प्रचार में आ जाना चाहिये। हिन्दी गांधी की छाप को लेकर आगे आ रही है। यह चेष्टा से नहीं, अनिवार्यता से हुआ है। यह किस का बस है कि उस छाप को पड़ने से रोके ? ऐसे ही राष्ट्र भाषा सब प्रभावों को लेगी। बंगला शैली की छाप आ सकती है या मराठी की या तमिल की। आखिर राष्ट्र भाषा किसी एक का स्वत्व तो है नहीं ! राष्ट्र का हार्द जिस वाणी से मुखरित होगा राष्ट्रभाषा उसी को अंगीकार करेगी। प्रश्न यह भाषा के बनाव का उतना नहीं है जितना राष्ट्र की आत्मता और एकता का है। राष्ट्रव्यापी विशालता उसके लिए चाहिए, चाहे व्याकरण के परिचय में कुछ त्रुटि भी रह जाय।

राष्ट्रभाषा के सवाल को भाषा की ओर से लिया जाता है। तब विभेद होगा और अनेक आग्रहों का विग्रह मचेगा। लेकिन उसे राष्ट्र की ओर से लिया जाना चाहिए। तब झमेला कट जायगा और मालूम होगा कि हम राष्ट्रभाषा के कर्त्ता, नेता या नियन्ता उतने नहीं हैं जितने सेवक हैं। तब मानो राष्ट्र की भाषा राष्ट्र के वासियों के हाथ पहुंच जायगी। और

उसकी अपार जनता के दुःख सुख और आशा आकांक्षाओं का वहन करके अपना संतोष मानेगी।

राष्ट्र के अनेक तत्त्वों को हृदय के सूत्र से मिलाने वाली भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती। वह तो वह हिन्दी ही है जो धरती से लगी है और आम तौर पर यहाँ से वहाँ तक देश में सब कहीं समझी जाती है।

: १६ :

प्रेमचन्द जी की कला

श्री प्रेमचन्द जी का ताजा उपन्यास 'ग़बन' हाल में ही निकला है। निकला तभी मैंने उसे पढ़ लिया। लेकिन जो मुझे वक्तव्य हो सकता है वह लिखता अब हूं। चीज को समझने और पुस्तक के असर को ठंडा होने देने के लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। तटस्थ होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तक से अपने को अलहदा खड़ा करके मानों उस पर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्द जी हिन्दी के सब से बड़े लेखक हैं। हम हिन्दी भाषा भाषी उनके मूल्य को ठीक आंक नहीं सकते। हम चित्र के इतने निकट हैं कि उसकी विविधिता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है, उसमें निवास करती हुई और उस चित्र को सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़ में नहीं आती। जो एक-दो दशाब्दी अथवा एकाध भाषा का अन्तर बीच में डाल कर प्रेमचन्द को देखेंगे वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्द को अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में और हिन्दी को छोड़कर जहां अनुवादों द्वारा अन्य भाषाओं में पहुंचेंगे वहां उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन यत्न द्वारा हम अपनी दृष्टि में कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत् पास की चीज को मानों इतनी दूर से देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णता में, अपनी एकता में, दीखे। अगर रचनाओं के भीतर पैठकर, मानों उन्हें नसैनी बनाकर, हम रचनाकार के हृदय में पहुंच जायं जहां से कि उसकी रचनाओं का उद्गम है और जहां उसे एकता प्राप्त होती है तो हम रस में डूब जायें।

अपने भीतर के स्नेह, और सहानुभूति को विविध भाँति कौशल से कलम की राह उतार कर कलाकार ने तुम्हारे सामने ला रखा है। तुम उन शब्दों का, भाषा, प्लाट और प्लाट के पात्रों का मानों सहारा भर लेकर यदि हृदय में से फूटते हुए झरनों तक पहुंच जा सकते हो तो वहाँ स्नान करके आनन्दित और धन्य हो जाओगे। नहीं तो परीक्षोपयुक्त विद्वान् की तरह उस की भाषा की खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरण की निर्दोषता-सदोषता में फँसे रहकर उसकी छान-बीन का मज़ा ले सकते हो।

मुझे व्याकरण की चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषा की चुस्ती का या शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज़ से मैं नहीं रख पाता। भाषा की खूबी या कमी को सम्पूर्ण वस्तु के मर्म के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य या वैषम्य बिठा कर मैं देख लेना चाहता हूँ। अतः यह नहीं कि मैं उस ओर नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहता।

प्रेमचन्द जी की कलम की धूम है। बेशक वह धूम के लायक है। उनकी चुस्त भाषा पर, उनके सुजड़ित वाक्यों पर, मैं किसी से कम मुग्ध नहीं हूँ। बात को ऐसा सुलझा कर कहने की आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझा कर, थोड़े से शब्दों में भर कर, कुछ इस तरह से कह जाते हैं, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्यप्रति घरेलू व्यवहार की जानी पहचानी चीज़ हो। इस तरह जगह जगह उनकी रचनाओं में ऐसे वाक्यांश बिखरे पड़े हैं जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कण्ठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभव का मर्म भरा रहता है।

प्रेमचन्द जी तत्व की उलझन खोलने का काम भी करते हैं, और वह बड़ी सफाई और सहजपन के साथ। उन की भाषा का क्षेत्र व्यापक है। उनकी कलम सब जगह पहुंचती है, लेकिन अंधेरे में भी वह धोखा नहीं

देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। सुदर्शन जी और कौशिक जी की भी कलम बड़े मजे-मजे में चलती है, लेकिन जैसे वह सड़कों पर चलती है, उलझनों से भरे विश्लेषण के जंगल में भी उसी तरह सफाई से अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नहीं है।

स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रों को भी सुस्पष्ट, चारों ओर से सम्पूर्ण बना कर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रों की भावनाओं के उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात का पूरा-पूरा नकशा वह पाठक के सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदि के सम्बन्ध में पाठक के हृदय में संशय की गुंजाइश नहीं रह जाती। इसलिए कोई वस्तु उनकी रचना में ऐसी नहीं आती जिसे अलौकिक कहने को जी चाहे, जिसपर विस्मय हो, झुंझलाहट हो, बलात् श्रद्धा हो। सब का परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानों बिल्कुल अवश्यंभावी है। अपने पाठक के साथ मानों वे अपने भेद को बाँटते चलते हैं। अंग्रेजी में यों कहेंगे कि वह पाठक को Confidence में विश्वास में ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्था में है,—पाठक को इस बारे में असमंजस में नहीं रहने दिया जाता, सब कुछ उसे खोल-खोल कर बतला दिया जाता है। इस तरह पाठक सुलभ रूप में पुस्तक की कहानी के साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओर से बुद्धि-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती,—पात्रों के साथ मानों उसकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए पुस्तक में ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्र के साथ नहीं चल रहा है,—और जरा रुक कर उसके साथ होने का प्रयास करे। वह पुस्तक पढ़ने को जरा थाम कर अपने को सम्भालने की जरूरत में नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं

आता जहाँ आह खींच कर वह पुस्तक को बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोंछने में उसे लगाना पड़े और फिर तुरन्त ही फिर पढ़ना शुरू करना पड़े। पाठक बड़ी दिलचस्पी के साथ पुस्तक पढ़ता है और उस के इतने साथ-साथ होकर-चलता है कि कभी उसके जी को ज़ोर का आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

'ग़बन' में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं, पर प्रेमचन्द जी ऐसे विश्वास, ऐसी मैत्री और परिचय के साथ सब कुछ बतलाते हुए पाठक को वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है और अपने साथी ग्रन्थकार की जानकारी पर, कुशलता पर और उसके अपने प्रति विश्वास पर, जगह-जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पग पर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानी के स्वर्ग में से उस का हाथ पकड़ कर ले जाता हुआ उसका पथदर्शक बड़ा सहृदय और विलक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उस का होकर रहने को तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्‌बुद्ध होकर नही चलता, क्योंकि उसे भरोसा रहता है कि ग्रन्थकार उसे छोड़ कर इधर-उधर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए ग्रन्थकार को भागकर छूने का अभ्यास करके उसके साथ रहने और इस प्रकार अपरिचित रास्ते पर झटकों-अचंभों को खाते कभी उन पर हँसते और कभी रोते हुए चलने का मज़ा पाठक को नहीं मिलता। पर पाठक इस स्वाद को भी चाहता है।

मैं 'ग़बन' पढ़ते हुए कहीं भी रो नहीं पड़ा। रवीन्द्र की एकाध किताब पढ़ते हुए, बंकिम पढ़ते हुए कई बार बरबस आंखों में आँसू फूट आये हैं। फिर भी, प्रेमचन्द की कृतियों से जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरद पढ़ते हुए कई बार गुस्से में मैंने उस की कृतियों को पटक दिया है, और रोते-रोते उसे कोसने को जी किया है। 'कम्बख्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!' इस भाव से फिर उस की पुस्तक उठा कर पढ़नी शुरू कर दी

है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल प्रेमचन्द की कृतियों से उन के प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है।

शरद और कई अन्य की रचनाएँ पढ़ते वक्त जान पड़ता है जैसे इन के लेखक हम से परिचय बनाना नहीं चाहते, हम-तुम की मान्य-मान्यताओं की इन्हें बिलकुल पर्वाह नहीं है, हमारे भावों की रक्षा करने की इन्हें बिलकुल चिन्ता नहीं है। जैसे हमारा जो दुःखता है या नहीं दुखता, हम नाराज़ होते हैं या खुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा—इस का ख़याल रखने का ज़रा भी दायित्व उन पर नहीं है। हमारे लिए उनके पास ज़रा दया नहीं है। वे लेखक निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर हमें जी चाहे जितना रुला सकते हैं। परन्तु प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षता की आवश्यकता को विचार कर अंग्रेजी की उक्ति बन गई थी,–Art for Art's sake (=कला-कला के लिए)। किन्तु यह वचन मेरी समझ में सत्य को बहुत अधूरे ढंग में प्रकट करता है। या कहें, सत्य खोल कर प्रकट नहीं करता, उसे मानों बांध कर बन्द करने की चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ,—Art for God's Sake (=कला परमात्मा के लिए)।

रवीन्द्र आदि की कृति में किसी एक स्थल पर उँगली रखकर कहना कठिन है कि, 'कैसा अच्छा है!' शरद की खूबी समझ में नहीं आती कि किस ख़ास जगह है। एक-एक वाक्य करके देखो तो कोई विशेष विस्मयकारी बात नहीं मालूम होगी। पर प्रेमचंद में से कहीं कोई वाक्य उठा लें, जान पड़ेगा कि मानों स्वयं सम्पूर्ण है, चुस्त कसा हुआ, अर्थ पूर्ण है।

पहले ढंग की किताब को जी अकुलायगा तभी हम उठा कर देखने लग जायंगे। चाहे कितनी ही बार पढ़ी हो हमें वह नवीन-ही लगेगी। प्रेमचन्द की किताब को एक बार पढ़ लेने पर फिर पढ़ने की तबियत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है : Art for God's sake, अर्थात् परमात्मा के प्रति, सत्य के प्रति कलाकार का दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पायेगा कि उसका अपने अंतस्थ प्रति दायित्व है। इसलिए वह पाठक-समाज की धारणाओं की ओर से निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर अपने प्रति सच्चा रह कर अपने को प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तक के पात्र की भावनाओं की रक्षा के निमित्त अत्यन्त आतुर हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त निरंकुश हो कर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्व का संचालन हमारी-तुम्हारी परिमित समझ को देखते हुए, अत्यन्त निरंकुश होकर करते हैं; विश्व को जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्यु से भरा बनाये रखते हैं; किसी खास व्यक्ति या समूह की कोई विशेष चिन्ता करते नही मालूम होते;—इतना होने पर भी वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणी के अच्छा लगने न-लगने पर निर्भर होकर नहीं रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त और इतनी वृहद् है कि उस का कार्य-परिणमन हम छोटी बुद्धि वालों को निरंकुश जंचता है। उसी सबके पिता सिरजनहार के अनुरूप सृजन का अधिकार रखने वाले कला-कार को रहना पड़ता है। वह रचना में अत्यन्त निर्मम होगा, किसी के प्रति उस में विशेष ममता-भाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वान पर मौत आयेगी तो उसे स्वीकार लेगा, शठ समृद्धिवान् बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी, सहानुभूति और प्रेम से उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना उथला न हो कि छलकता फिरे।

संसार में प्रकट दीखने वाली निरंकुशता के मार्ग से एक वृहद् सत्य की लीला सम्पन्न होरही है। हम नहीं जानते इसलिए रोते-झींकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातों को सिद्धान्त बना कर काम चलाते हैं, उनकी ज्यों-की-त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब हम दुःखी होते और

अस्थिर होते हैं। इस तरह अपने अहं-ज्ञान को बीच में डाल कर हम जिस परमात्मा का विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था उसी को अपने लिए दुष्प्राप्य और दुरधिगम्य बना लेते हैं। सबमें निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नहीं देख पाते, इसलिए कहते हैं कि वह है नहीं, है तो दयालु नहीं है, मनमाना (Capricious) है। हमारा तर्क यह होता है कि 'हम भलेमानस हैं फिर भी गरीब हैं; इसलिए ईश्वर नहीं है, है तो ठीक नहीं है।' इसी तरह कलाकार की वृत्ति में किसी अन्तरतर सत्य को पाने और सम्पन्न करने की निष्ठा रहती है, दुनिया को बनाई धारणाओं की रक्षा करने की चिन्ता उसे नहीं होती। सदाचार के और अन्य भांति के अपने नियम-कानून बना कर जीती रहने वाली दुनिया अपनी सब धारणाओं का समर्थन वहाँ पाये ही, ऐसा नहीं होने पाता। ऊपर के तर्क से चलने वाली दुनिया की तुष्टि के लिए और उसके अहं समर्थन के लिए कलाकार नहीं लिखता। इसी से कहा गया: Art for Art's sake,—अर्थात कला का हेतु स्वयं कला है। किंतु इसका ही सम्पूर्ण परिष्कृत रूप है Art for God's sake, और इसका अभिप्राय है कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनिया को खुश करने या रखने की खातिर नहीं होती; वह God अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिए होती है।

प्रेमचन्द जी में उक्त प्रकार की निरपेक्षता पूरे तौर पर नहीं आई है। वे पाठक की अलग से चिंता करते हुए चलते हैं, और अपनी किसी बात से सहसा दुनिया को धक्का दे रहने के विचार से बचते हैं। उन्होंने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा है, लोगों की वर्तमान स्थिति को किसी विशेष गड़बड़ में न डालने की चिन्ता रखते हुए, वह उसी को लिखते हैं। उनके पात्र अशरीरी नहीं होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नहीं होते; वे अतर्क्य नहीं हो पाते। वे जो कुछ भी होते हैं Common sense (=सामान्य

साधारण-बुद्धि) के मार्ग से ही होते हैं। असाधारणता उनमें यदि प्रेमचन्द
कहीं कुछ रखते भी हैं तो मानों साधारणता के मार्ग से ही उसे प्राप्त
और गम्य बना लेते हैं। पाठक के मन में प्रेमचन्द जी के पात्रों से एक
प्रकार का संतोष होता है; कोई गहरी बेचैनी नहीं जाग उठती, कोई
गहरा खिंचाव जो मित्रता से आगे हो, एक गम्भीर तृप्ति जो संतोष से
गहरी हो नहीं होती। प्रेमचन्द जी पाठक का मन रख लेते हैं, अपना ही
मन पाठक के सामने रखदें, यह नहीं करते।

मैं फिर भी प्रेमचन्द जी को हिन्दी का नहीं संसार का लेखक
मानता हूँ। बहुत जल्दी संसार भी यह मान लेगा, चाहे फिर अपने शीर्ष
पर न भी ले।

सामयिकता को लांघ कर, मानों सामयिकता का आधार थाम गहरे
उतर कर, जो कृति जितनी ही सत्य के अनुरूप होकर चलती है, वह
उतने ही अंश में सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है। वह उतने ही
अंश में अनायास काल को चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषा
की परिधियों को फाँदती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। संपूर्ण सत्ता को सचेतन एकमय
देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्य को पाने की चेष्टा
का नाम है: प्रेम। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नहीं होता। यह जो चारों
ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई, भिन्नता फैली है,—उस सब
लोभ और भ्रम और माया के समुद्र में आँख-कान मूंद कर गहरी डुबकी
लगा कर पैंठने से वह प्रेम कुछ कुछ दिखाई पड़ सकता है। इसके लिए
गहरी साधना की आवश्यकता है। परंतु इस ऐक्य को पाने की भूख भी
प्राणी में कम गहरी नहीं है। पर बहुत कुछ उसकी तृप्ति में आड़े आता
है और वह भूख बहुत तरफ से परिमित, संकुचित, भूखी रहती है। और
तो क्या, यह शरीर ही रुकावट बनकर सामना करता है। यह हमको सबसे

एकाकार तो होने दे सकता ही नहीं। फिर भी, इसकी सहायता से भी, हम आगे बढ़ते हैं। स्त्री, माँ, भाई, बहिन, पिता आदि नातों द्वारा, जो इस शरीर के कारण बन जाते हैं, हम अपने प्रेम का विस्तार सावते हैं। वह प्रेम नाना स्थानों पर नाना रूप में प्रकट होता है। वह प्रेम तत्काल को पारकर जितना चिरस्थायी और शरीर के प्रतिबन्ध को लांघकर जितना अखिलव्यापी और सूक्ष्मजीवी होता है—और इस कारण तात्क्षणिक स्थूल तृप्ति में न जीकर वह जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही वह सत्य के अनुरूप अर्थात् स्वस्थ, गंभीर और आनन्दमय होता है। लेकिन काल और प्रदेश की रेखाओं से आकार पाकर ही तो जीवकी जीवन यात्रा चलती है, इसलिए उसका प्रेम सर्वथा निर्विकार सत्यानुरूपी नहीं हो पाता। इस तरह व्यक्ति के जीवन में सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो कलुषित कुत्सित प्रेम कुछ नहीं होता। विस्तृत ऐक्य के जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तल से नीचे की चेष्टाएं जब किसी में देखता है, तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नानारूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसा कर उसे अहं-भाव में रूढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड़-फोड़कर स्वयं प्रतिष्ठित होने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वंद्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य का क्षेत्र है।

प्रेमचन्द जी इस द्वन्द्वावस्था को सूक्ष्म नहीं तो सरल दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं। फिर इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है,—वह बीतते हुए क्षण के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की, ग़लतफ़हमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, हीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है। इस आत्मयुद्ध, धर्मयुद्ध, का चित्र प्रेमचन्द जी सजीव बना पाते हैं। वही

सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूं कि प्रेमचन्द जी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और व्यथाशील प्रेम का बीज रख दिया है वह निरा सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।

सामयिकता से प्राण खींचकर कइयों ने रचनाएं की हैं जो रंगीन होकर सामने आ गई हैं, पर अगर आज वह हाथों-हाथ बिकती हैं तो, हमने देखा है, कल वह मर भी जाती हैं। जो रचना शाश्वत सत्य के श्वास से जितनी अनुप्राणित होगी वह उतनी ही शाश्वत और अमर होगी। माया में से रस खींचकर, देश और काल के प्रतिक्षण और प्रतिपग बदलते जाते हुए मतों और वासनाओं को आधार बनाकर, सामयिकता की लहर पर नाचती हुई जो कृति हमें लुभाने आती है, वह आज हमें लुभा ले सही, पर कल हमें ही उसकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास रखें।

प्रेमचन्द जी की कृति सामयिकता की परिधि को लांघकर और हिन्दी भाषा की परिधि को लांघकर किसी-न-किसी हद तक अनागत व्याप्ति की ओर बढ़ेगी, निस्संदेह उसमें ऐसा बीज है।

: १७ :

आलोचक के प्रति

कई बातें जो आलोचक को उलझाती हैं अपनी खातिर इतनी ध्यान देने योग्य नहीं हैं।—उन्हें जल्दी पार कर लें।

पहली बात है भाषा। भाषा पर मैं किसी को रोकना नहीं चाहता हूं। भाषा है माध्यम,—मन उलझा है तो भाषा सुलझी कैसे बनेगी? इसलिए भाषा के निमित्त को लेकर भी ध्यान यदि मन का रखा जाय तो क्या यह उत्तम न हो? मन के भीतर से भाषा का परिष्कार स्थायी होगा। पर एक कठिनाई भी है। वह यह कि गहन गहराई में उतर कर चलना ऐसा सरल नहीं होता जैसा ऊपर मैदान में चलना। लिखना क्यों है? अपने भीतर की उलझनों को सुलझा पाने के लिए भी तो वह है। वहाँ भीतर बड़ी चकरी अंधेरी गलियाँ हैं, वहाँ प्रकाश हो जाय तो बात ही क्या! इससे वहाँ पैठ कर राह खोजने वाले की गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या कुछ चकरीली सी हो जाय तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्व की बात नहीं है, लाचारी की बात है।

आलोचक को एक नई कृति में भाषा के प्रयोग कहीं कुछ अनहोने से लगेंगे ही। ऐसा न होना चिन्ता का विषय हो सकता है, होना तो स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। उसकी वह अद्वितीयता खुरचकर मिटाने से भी बाहर से और भीतर से नहीं मिट सकती। राह यही है कि प्रसन्न भाव से उस अद्वितीयता के साथ समझौता कर लिया जाय। उससे विरोध नहीं ठाना जा सकता। परन्तु भाषा के प्रयोग मनमाने हों और चौंकाने के लिए हों तो बुरा है। पाठक को चौंकाये, इसमें तो लेखक का अहित ही है,—चौंका कर वह किसी को अपना मित्र नहीं बना

सकता। फिर भी यदि चौंका देता है तो उसे क्षमाप्रार्थी भी समझिए,—इसे अकुशलता का परिणाम मान लेना चाहिए। अगर अपनी ओर से कहूं कि वह आग्रह का परिणाम नहीं है, तो पाठक को इसे असत्य मानने का आग्रह नहीं करना चाहिए।

भाषा पर मैं क्वचित् ही ठहरता हूं। राह दीर्घ है, यहाँ ठहरना कहाँ? जब ठहरने का अवकाश नहीं है तब सोच-विचार कहाँ से हो कि भाषा को ऐसा बनाओ अथवा ऐसा न बनाओ। बनाने से भाषा के बिगड़ने का अंदेशा है। सोचकर चलने से व्यक्ति का उस पर अहंकार लद जाता है। यों भाषा बढ़िया भी लगे, पर कृत्रिम हो जाती है। बढ़िया-घटिया तो फैशन की बातें हैं। फैशन बदलता रहता है। बढ़ियापन का लालच पाकर मैं कृत्रिम भाषा पाठक को कैसे दूं? यदि मैं पूरे रूप में परिष्कृत नहीं हूं तो यह मेरा अपराध है, पर जो हूं वही रहकर मैं पाठक के समक्ष क्यों न आऊं? बन-ठनकर कैसे आऊं? पाठक का तिरस्कार मुझे सह्य होगा, पर पाठक को धोके में मैं नहीं रक्खूंगा। यह विश्वास रक्खा जाय कि मैं सुगम होना चाहता हूं, क्योंकि पाठक से घनिष्ठ और अभिन्न होना चाहता हूं। साधारण और सरल रहना चाहता हूं, क्योंकि अपने और सबके प्रति संभ्रमशील रहना चाहता हूं। दर्प दयनीय है। तब मैं भला किसकी रुचि अथवा मत को चुनौती देने की धृष्टता करूं?

एक बात और भी है। किताबों में प्रेस की भूलें भी होती हैं। वे ऐसी दक्षता से किताब में अपनी जगह बना रहती हैं कि अति सावधान पाठक भी उन्हें नहीं पकड़ सकता। वे वहाँ वाक्यों के बीच में जम बैठती हैं और मनमानी करती हैं। दूसरे यह कि हिन्दी में पंक्चुएशन किसी निश्चित और अनुकूल पद्धति पर अभी नहीं जम पाया है। उसे स्थिर होना चाहिए। भाषा को वश में लाने के लिए वह आयुध हिन्दी में अभी पूरा काम नहीं देता।

फिर यह कि प्रत्येक परिचय में कुछ नवीनता होती है। परिचय की प्रथमता धीरे-धीरे जब दूर होगी तब भाषा के पहनावे पर ध्यान गौण होता जायगा—उसकी आत्मा के साथ घनिष्ठता बढ़ेगी। यहाँ घबराहट उचित नहीं है। क्योंकि पहनावा ही आदमी नहीं है, अतः, वह वृत्ति भली नहीं है जो नवीनता को शनैः शनैः पककर अपने साथ घनिष्ठ नहीं होने देना चाहती।

अपने लेखन-काल में पाठक की हैसियत से मैंने एक बात सीखी है। वह यह कि जगत् के प्रति विद्वान् बनकर रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। जो पाना चाहता हूं वह, इस भाँति, कुछ दूर हो जाता है। जगत् के साथ विद्वत्ता का नाता मीठा नाता नहीं है। विद्वान् के निकट जगत् पहेली हो जाता है,—जगत् अज्ञेय बनता है, और विद्वान्, उसी कारण, उसे स्पर्द्धा-पूर्वक-ज्ञेय रूप में देखता है। फलतः विद्वान् में एक रसहीन कुण्ठा और धारदार आग्रह पैदा होता है। जगत् उसके लिए प्रेम की और आनन्द की चीज नहीं हो पाता। विद्वान् प्रत्याशा बाँधता है कि जगत् उसकी थियरी में, उसके 'वाद' में, चौखूंट बैठ जायगा; पर ऐसा होता नहीं और विद्वान् अपनी प्रत्याशाओं में विफल अतः जगत् के प्रति रूक्ष और रुष्ट रहता है। विद्या-गर्व के ऊपर जीवन जीने की यह पद्धति सम्पूर्ण नहीं है। नहीं, यह सच्चिदानन्द की ओर नहीं ले जाती। उपलब्धि की यह राह नहीं। अपना एक 'कोड' बना लिया जाय और दुनिया के प्रति अधीर और असंतुष्ट रहा जाय कि वह क्यों सीधे तौर पर उस कोड में बंधकर नहीं बैठती है,—ऐसे क्या मिलेगा? इस मनोवृत्ति में सुधार का नशा मिल सकता है, पर किसी हित अथवा किसी विद्या की अभिवृद्धि इस भांति कठिनता से ही हो सकती है।

इस वृत्ति से पाठक बचे तो ठीक। उसे रसग्राही वृत्ति चाहिए। वह अपने को खुला रक्खे,—जमकर निर्जीव बन गई-हुई धारणाएं अपने

पास न रक्खें। विद्वत्ता का वोझ वोझ ही है। उससे जीवनानन्द के प्रति
खुले रहने की शक्ति ह्रस्व होती है।

मैंने अपने सम्वन्ध में पाया है कि जव-जव चीज़ को स्पर्द्धापूर्वक मैंने
अधिकृत कर लेना चाहा है, तभी तव मेरी दरिद्रता ही मुझे हाथ लगी है
और जितना मैंने अपने को किसी के प्रति खोलकर रिता दिया है उतना
ही परस्पर के वीच का अन्तर दूर हुआ है और एकता प्राप्त हुई है।
ऐक्य-वोध ही सवसे वड़ा ज्ञान-लाभ है और तव से मैंने जाना है कि
आत्मार्पण में ही आत्मोपलव्धि है, आग्रह-पूर्ण संग्रह में कल्याण नहीं है।

एक और तत्व ज्ञातव्य है। कुछ भी, कोई भी, निरे अपने आपे में
महत्वपूर्ण नहीं है। कोई कथन सीधे अपने शव्दार्थ में और कोई घटना
अपने सीमित अर्थ में सार्थक नहीं होती। सवका अर्थ विस्तृत है,—वह
अर्थ निस्सीम में पहुंचने के लिए है। उसी ओर उसकी यात्रा है। इससे
सव कुछ मात्र संकेत रूप में, सूचक-इंगित रूप में, ही अर्थकारी है। समग्र
से टूटकर अपने खंडित गर्व में वह निरर्थक रह जाता है। निरर्थक ही
क्यों,—इस भांति वह अनर्थक भी है। इसलिए प्रत्येक विवरण को जहाँ
तक हो वहाँ तक मूल जीवन-तत्त्व के साथ योग-युक्त देखना होगा।

पुस्तक में भी यही वात है। हर वात वहाँ पात्र की मनोदशा की
अपेक्षा में आशय-युक्त वनती है। पात्र की मनोदशा को व्यक्त, अर्थात्
पुस्तकगत जीवन-मर्म को उद्‌घटित, करने के लिए जो आवश्यक नहीं है
वह वर्णन परिहार्य है। ऐसा मोह न लेखक को भला न पाठक को उचित।
'यह और भी लिख दूँ,—कैसा अच्छा आइडिया है!,' 'अरे आगे क्या
हुआ ? फिर क्या हुआ ? हमें यह लेखक ने वीच में कहाँ छोड़ दिया !'—
इस तरह की वातें मोहजन्य हैं। अपने आप में कुछ उल्लेखनीय नहीं है।
जो सर्वांशतः पुस्तक के प्राण के प्रति समर्पित और समुपलक्ष्य नहीं है वह
वर्णन वहुमूल्य होने पर भी त्याज्य वनता है। ऐसे वाह्य वर्णन पर लेखक

अपनी लुब्ध दृष्टि कैसे डाल सकता है ? इस भांति स्पष्ट है कि बड़ी-से-बड़ी वस्तु भी अनुपयोगी और छोटी-से-छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रन्थ के जीवन में विराट्-आशय बन सकती है। तुच्छ इस सृष्टि में कुछ भी नहीं; किन्तु यह सृष्टि इतनी अछोर, अपार, अनन्त है कि यहां बड़ी-से-बड़ी चीज भी अपने आपके मान में उपहासास्पद हो जाती है।

यहां साहित्य की मर्यादा को हम समझें। पुस्तक के और हमारी आंखों के सामने के ठोस जगत् में अन्तर है। पुस्तक दर्पण नहीं है। साहित्य ज्यों का त्यों बाजारी दुनिया के प्रतिबिम्ब को अंकित करने के लिए नहीं है। इस दृष्टि से साहित्य विशिष्टतर है,—यह विशिष्टता उसकी मर्यादा भी है। साहित्य के नायक और पात्र दुनिया के आदमी की तुलना नहीं कर सकते। यहां दीन-हीन आदमी भी मन-भर से ऊंचा तो तुल जाता है, पर पुस्तकों के महापुरुष मिलकर भी तराजू में फूंक जितने नहीं तुल सकते। फिर भी वे सत्यतर हों, कम सत्य किसी तरह नहीं हैं। इस अन्तर को खूब समझ लेना चाहिए। पुस्तक के पात्र अशरीरी होते हैं। हमारे भाव हैं उनका प्राण और विचार शरीर। यों एक ही दम सामाजिक मनुज से वे अतुलनीय हो जाते हैं। वे नहीं दीख सकते, क्योंकि जड़ शरीर उनके पास नहीं है। फिर भी वे सतत रूप से हमारे सामने हैं, हमारे भीतर हैं और अमर हैं, ठीक इसी लिए कि वे पंच-भूत जड़ित नहीं हैं। उनका अस्तित्व मानसिक है, उनका जीवन-तर्क हमारी जीवन नीति से भिन्न है, वह और ही तल पर हैं और हमारे विज्ञान अथवा शास्त्र का बंधन उनपर नहीं है। हमारी संभव-असम्भव की मर्यादा भी उन पर लागू नहीं है। वे हमारी ही कृति हों और हैं, पर हम से कहीं चिर-जीवी सूक्ष्म-जीवी हैं। वे हमारी सूक्ष्मीभूत वृत्तियां हैं जो हमारे भीतर घिरी नहीं हैं पर बाहर भी नहीं हैं। देखा जाय तो भीतर और बाहर से हम ही उनमें घिरे हैं। साहित्य में भूत हो सकते हैं और परियां भी हो सकती हैं। वहां चर-अचर, मानव-अमानव, समाज और प्रकृति, देवता

और दैत्य,—सब हो ही नहीं सकते प्रत्युत सब आपस में एकम-एक भी हो जा सकते हैं। गूंगी पृथ्वी अपनी सूनी, फटी, तप्त आँखों से ताकती रहकर कालेरोष से घुमड़ते हुए बिजली से भरे आसमान में से झरझर आँसू खींच ला सकती है और उस आदमी को अपनी अथाह करुणा में क्षमा कर सकती है जो इन आँसुओं में झरती पीर को बस बारिश कह कर विद्वान् बना बैठा है। वहाँ समन्दर की मछली उड़ कर सातवें आसमान में बैठे परमात्मा के पास भी फरियाद ले जा सकती है और न सुनने पर घोषणा कर सकती है कि परमात्मा परम निर्दय है। यह सब कुछ हो सकता है। और जो अपनी विज्ञान की खोज में सच्चा है वह जानता है कि मानवीय जो है सापेक्ष है, निरपेक्ष सत् की अपेक्षा असत् है, मिथ्या है, और मिथ्या का सहारा लेकर ही बेचारा मानव सत्य की ओर बढ़ सकता है। समस्त ज्ञान छद्म-ज्ञान है। यहाँ सत्याभिमुखता ही सत्य है।

आशय मेरा झूठ की बड़ाई से पाठक को आतंकित करना नहीं है। सीमित धारणाओं में से उठाकर पाठक को असीम में पटक देने जैसी भी इच्छा नहीं है। हमारा वहाँ वश भी नहीं। उद्दिष्ट मात्र यह दिखाना है कि हम अपनी ससीमता जब सत्य पर ओढाते हैं तब मानो अपनी ही तुच्छता स्वीकार करते हैं। यदि हम असीम को और अरूप को स्वरूपवान् बनाकर ही हृदयंगम कर सकते हैं, तो अवश्य ऐसा करें। ऐसा करे बिना गति भी कहाँ? पर हमारा सब-कुछ मात्र इस प्रतीति के पारस-स्पर्श से स्वर्ण बन जाता है कि हम में अव्यक्त ही व्यक्त हो रहा है, हमारे ज्ञान-विज्ञान की यात्रा अनंत-अखंड की ओर है। यह प्रतीति नहीं तो हमारा सब-कुछ मिट्टी ही है।

इसी से जिज्ञासा एक वस्तु है, स्वप्न और। साहित्य मर्यादा-हीनता नहीं है, जिज्ञासा संशय नहीं है। पुस्तक के पात्रों में उनकी अपनी ही एक मर्यादा होती है। उनका तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है।

मनोविज्ञान की किसी प्रवेशिका में से उनका नियामक नियम नहीं निकाला जा सकता। यदि पुस्तक के चरित्र हमारी इस दुनिया के अनुरूप चलते दीखते हैं तो इस हेतु नहीं कि वैसी अनुरूपता उनका लक्ष्य है, प्रत्युत केवल इसलिए कि उस अनुरूपता के सहारे लेखक अपने को दुनिया के उन सहृदयों के निकट और उनके हृदयों को अपने निकट पहुँचाना चाहता है। किन्तु साहित्य की उत्पत्ति अनुभूत में से हो, प्रेरणा अननूभूत आदर्श में से है। जब तक वह है, और वह तो सर्वथा सनातन है, तब तक चरित्र आदर्शानुगामी होंगे, जगदनुगामी नहीं भी हो सकते हैं। उनका हक है कि वे सामान्य पथ पर न चलें, सामान्यतया साधारण न हों, किसी भी परिचित पद्धति का समर्थन न करें, और दुस्साहसिक हो कर भी ऊर्ध्वगामी बनें।

इस स्थल पर वे शब्द दोहराये जा सकते ह जो 'सुनीता' पुस्तक की प्रस्तावना में आ गये हैं। वे यहाँ प्रसंगोपयुक्त हो सकते हैं। "···पुस्तक में रमे हुए लेखक को जैसे चाहे समझो। किसी पात्र में वह अनुपस्थित नहीं है और हर पात्र दूसरे से भिन्न है। पात्रों की सब बातें लेखक की बातें हैं, फिर भी कोई बात उसकी नहीं हैं; क्योंकि उसकी कहां—वह तो पात्रों की है! कहानी सुनाना लेखक का उद्देश्य नहीं। (उन सबका नहीं जो अपने साहित्य में जीवन-लक्ष्यी हैं।) इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर चित्र बनाया जा सकता है। उस खण्ड में सत्य का दर्शन पाया जा सकता हैं और उस चित्र में उसका दर्शन कराया जा सकता हैं। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है।···थोड़े में समग्र ही को दिखाना है···।"

असल बात उस झाँकी को देना और लेना है जिसको लेकर अक्षर शब्द में लीन हो गये हैं, शब्द वाक्यों में और वाक्य पुस्तक के प्राणों में। अपने आप में वाक्य भी निरर्थक है, शब्द भी निरर्थक हैं, अक्षर भी

निरर्थक हैं। वे अपने में गलत भी नहीं हो सकते, सही भी नहीं हो सकते। वे वही हो सकते हैं जो हैं, और वे मात्र सूचक हैं। उनकी सार्थकता उस जीवन-तत्त्व के वाहन होने में है जिसकी सेवा में वे नियोजित हैं।

वह जीवनतत्त्व मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। वह व्यवहार सिद्ध नहीं, लोकस्वभाव से घिरा नहीं है। वहाँ हमारा ज्ञान-विज्ञान लय होता है, जैसे नदियाँ समुद्र में लय हो जाती हैं। वही इन सब को फिर पोषण भी देता है। पर वह इन सब से अतीत है, इनकी रक्षा के दायित्व से वह परिबद्ध नहीं है, क्योंकि वह तो उन की आत्मा है।

पुस्तक के भौतिक विवरण भी इसी भांति स्वाधीन समझ लिए जाएं जैसे सजीव पात्र। पुस्तक का हरिद्वार (प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' का) भूगोल वाला हरिद्वार नहीं है। ह्यूगो का पैरिस फ्रांस से अधिक ह्यूगो का है। वह नकशे का नहीं हो सकेगा क्योंकि, वह ह्यूगो के मन में ही होने लायक था। किन्तु नामों में क्या धरा है, पैरिस का वर्णन देने वाली हर कोई पुस्तिका तो अपने लेखक को ह्यूगो नहीं बना सकती। इस से उचित है कि पाठक इन पर अटके नहीं। इस प्रकार की नाम-धाम की प्रमाणिकता कोई बहुत अंतिम वस्तु नहीं है।

ये ऊपरी बातें हैं। वैसी त्रुटियाँ तो होती ही हैं। कहाँ वे नहीं होतीं? खण्डित करके देखा गया चित्र धब्बों के अतिरिक्त क्या दीखेगा? प्रत्येक लेखक अपने लेख में शिल्पकौशल के ऐसे अनेक दोषों को आलोचक के हाथों स्वयं गिरफ्तार करा दे सकता है। सच पूछा जाय तो इस दृष्टि से सब-कुछ दोष ही है। ठीक निगाह (Perspective) न हो तो कौन चित्र असुन्दर नहीं है? पर इस प्रकार की त्रुटियां लेखक की चिन्ता का विषय नहीं हैं। आलोचक के लालच का विषय भी उन्हें नहीं होना चाहिए। जिसके लिए आलोच्य विषय कलेवर है, लेखक का हृदय उसकी ओर भूखी निगाहों से देखता रह जाता है। कलेवर

के भीतर से तो झांक हृदय रहा है। वह हृदय अपनी स्वीकृति चाहता है, वह अपने को पहिचनवाना चाहता है। जो कलेवर लेकर उसी के साथ शल्य-क्रिया करते और हृदय को छूछा समझ छोड़ देते हैं, उनको कृतज्ञ दृष्टि से देख सकने के लिए वह हृदय तरसता ही रह जाता है।

एक आलोचक ने रविबाबू के 'घर और बाहर' का जिक्र किया। मुझे इससे खुशी हुई। दिन हुए मैंने वह पुस्तक पढ़ी थी। तब मेरा लिखना आरम्भ न हुआ था। मुझे अब भी उसकी याद है। निस्संदेह जो 'घर और बाहर' में है वही 'सुनीता' में भी है।—वही समस्या है। अन-जाने ऐसा नहीं हो गया है, जानबूझ कर ऐसा हुआ है। किन्तु 'घर और बाहर' की समस्या रविबाबू की समस्या तभी तो बनी जब कि वह जगत् की समस्या है। उसे उस रूप में रविबाबू से पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया, और पीछे भी लोग लेंगे। जग की केन्द्रीय समस्या को व्यक्ति-हृदय की परिभाषा में रखकर जब भी देखा और सुलझाया जायगा, तब उसका वही रूप हो रहेगा।

समस्या सदा तिखूंट है। जगत् में मूल पक्ष दो हैं—'स्व' और 'पर'। 'स्व' यानी 'मैं'। 'मैं' अर्थात् भोक्ता। भोक्ता मानकर अपनी भोग्य बुद्धि के परिमाण के अनुसार मैं 'पर' को फिर दो भागों में बांट डालता हूं—पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्थान पर समस्या बन खड़ी होती है। जिसे 'मेरा' माना उस पर मैं कब्जा चाहता हूं, जो 'मेरा' नहीं है उससे विरोध ठानता हूँ। इस भाँति, 'मैं' जीता और बढ़ता हूँ।—यही जीवन की प्रक्रिया है।

असल में 'स्व और 'पर' का विभेद माया है। जीवन की सिद्धि उन के भीतर अभेद-अनुभूति में है। पर अभेद कहने ही से तो सम्पन्न नहीं हो जाता,—उसी के लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ । जाने-अनजाने

प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धि की ओर बढ़ रहा है। कुछ लोग वस्तु-जगत् को अपने भीतर से पाना चाहते हैं, दूसरे उसे बाहर से भी ले रहे हैं। संसार में इस प्रकार की द्विमुखी प्रवृत्तियाँ देखने में आया ही करती हैं। उन सबके भीतर से 'स्व' विशद ही होता चलता है, 'मेरा' का परिमाण संकीर्ण न रहकर विस्तृत ही होता जाता है। जितना वह 'मैं' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहंकार के भूत का जोर उस पर से उतना ही उतर कर हल्का होता है।

'मैं' और 'मेरा' इन दोनों को मिलाकर व्यक्ति अपना घर बसाता है। उस घर में व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्व से आहरण लेता है। बाकी दुनिया में से कमाता है, घर में खर्च करता है। जगत् से लड़ता है, घर में प्रेम का दान करता है। घर उस के लिए हाट नहीं है। इस 'घर' का ही नाम विकास क्रम से परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

इसलिए, अगर समस्या को आब्जेक्टिव विज्ञान की राह से नहीं सब्जेक्टिव कला और हृदय की राह से अवगत और आयत्त करना है, तो उसका यही तिखूंट रूप होगा—मैं, मेरा, पराया और बाहरी।

अब यहाँ एक और तत्त्व ज्ञातव्य है। जिसे मैं अपना मानता हूँ, अर्थात् मेरी संपत्ति, मेरी चीज़ आदि—वह भी अपनेआप में निजत्वशून्य नहीं है। उसमें भी स्व-भाव है, अपनापन है। फिर भी जो जितना मेरा बन चुका है उसकी निजता कुछ मेरे निकट अनुगत हो रहती है। इसी से, समस्या के चित्रण में मानव-सम्बन्धों की अपेक्षा मेरे अविकृत स्वत्व का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घर का केन्द्र है। वह 'मेरी' है, पर स्वयं भी है। अनुगत है पर जड़ पदार्थ नहीं है,—सांतःकरण है और उस में भी व्यक्तित्व है।

इन स्वामी और पत्नी के साथ ही, किसी कदर उनके बीच में, आता

है तीसरा व्यक्ति जो 'पर' का प्रतीक है। वह भी एक दम अपरिचित नहीं है (अपरिचित कैसे हो सकता है भला ?) प्रत्युत संगत है, और वह उनकी सम्मिलित इकाई, दाम्पत्य, से स्वतन्त्र है यद्यपि सापेक्ष है।

कवि रवीन्द्र ने 'घर' में 'वाहर' का प्रवेश दिखाया। 'घर' इस से विक्षुब्ध है, चंचल है। वहाँ 'वाहर' संदीप के रूप में अनिमंत्रित है, पर प्रवल है। 'घर' की विक्षुब्धता गहन होती जाती है, मानो वाहर के धक्के से घर टूट जायगा। वाहर का धक्का दुर्निवार है, सर्वग्रासी है। समस्या घोरतर से घोरतम होती जाती है। तव क्या होता है ?—तव कुछ होता है जिससे समस्या वन्द हो जाती है! संदीप पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पति के प्रति क्षमा प्रार्थिनी वनती है और फिर पत्नीत्व में अधिष्ठित होती है। ऐसे मानों निर्णीत होता है कि 'घर' को 'वाहर' के प्रति निरभिलाषी एवं विमुख होकर ही अपने को निष्पन्न करना होगा।

कवि की लेखनी की समता ही क्या! वह अतुलनीय ही है। पर मेरे मन को समाधान नहीं मिला। 'घर' सयत्न-साग्रह अपनेको 'वाहर' के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल वनाकर वैठे और उस 'वाहर' को सर्वथा वहिष्कृत और निषिद्ध वनाये रक्खे,—क्या यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है ? यहां अभेद कहां है, यहाँ तो भय है। प्रेम कहां है, यहां तो अप्रेम भी है। यही होना हो तव तो सुलझन ही क्या हुई? ऐसा कुछ समाधान क्या चिर-प्राप्त अहंसिद्ध स्थिति-रूढ़ समाज-नीति में से भी नहीं प्राप्त हो सकता ?

सो मन के इस तरह के असंतोष का भी 'सुनीता' के जन्म में प्रभाव है। मैंने 'सुनीता' में अपनी वुद्धि के अनुसार दुस्साहस पूर्वक भी समस्या को ठेलकर आगे वढ़ाया है। मैंने इस में अपने को वचाया नहीं है और वहां तक मैं उसके साथ चला हूं जहां तक समस्या ने चलना चाहा है।

क्या 'सुनीता' का 'घर' टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा। क्या उस

'घर' को 'वाहर' के प्रति बन्द किया गया है ? नहीं, ऐसा भी नहीं। दोनों में से कौन किस के प्रति सहानुभूति से हीन है ? शायद कोई भी नहीं।

दोनों सचमुच शाश्वत रूप में क्या परस्परापेक्षाशील ही नहीं है ? मैंने समस्या के निरूपण में भी तदनुरूप भिन्नता देखी और रखी है। 'बाहर' को निरे आक्रमण के रूप में 'घर' के भीतर नहीं प्रविष्ट किया है। हरिप्रसन्न (पुस्तक में वही 'वाहर' का प्रतीक पुरुष है) किंचित् प्रार्थी भी है। वह निरी अपनीं अहंतां में वहां नहीं पहुँचा, प्रत्युत वहां मानो उसकी अभीष्टता है। उसके अभाव में 'घर' एक प्रकार से प्रतीक्षमान है। वहां अपूर्णता है, वहां अवसाद है, मानो उस 'घर' में 'वाहर' के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न स्वयं अपने आप में अधूरेपन के बोध से मुक्त नहीं है और वह जैसे एक पुकार के उत्तर में और एक नियति के निर्देश पर ही एक रोज अनायास 'घर' के बीच में आ पहुंचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नहीं, अपने से विवश होकर ही जो है सो है।

कवीन्द्र का 'घर' भिन्न है और 'वाहर' भी भिन्न है। वह 'घर' आत्म-तुष्ट है, मानो 'वाहर' उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। 'वाहर' का आगमन वहाँ एक रोज अप्रत्याशित-अयाचित घटना के रूप में होता है। वह संदीप मित्र है; पर, यह मित्रत्व उसके व्यक्तित्व का अप्रधान पहलू है। मानो सहानुभूतिशील वह है ही नहीं। घर की रानी का संदीप की ओर खिचना स्पष्ट गिरना है। जैसे संदीप अहेरिया है, जाल फैलाता है, और मधु-रानी फंसने को ही उस ओर खिच रही है। संदीप इस तरह कुछ अतिमानव, अप-मानव हो उठता है !

तदनुकूल भिन्नता सुनीता और कवि की मधुरानी में भी है। मधुरानी बीच में मानो स्खलन मार्ग पर चलकर अन्त में प्रायश्चित्त-पूर्वक पति-निष्ठा में पुनः प्रतिष्ठित होती है। संदीप का गर्व खर्व होता है और

मधुरानी की मोह-निद्रा भंग होती है। संदीप के लिए पलायन ही मार्ग है, क्योंकि मधुरानी अब पति-परायणा है !

सुनीता को पति-परायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नहीं हुई है कि प्रायश्चित्त का सहारा उसे दरकार हो। पति में उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्न के प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होने का बल देती है। आरम्भ से ही उसकी आंख खुली है और अन्त तक जो उसने किया और उससे हुआ है, उसमें वह निपट मोहांध नहीं है। शुरू से वह जागरूक है और गृहिणी-धर्म से च्युत नहीं है। उस 'घर' में अन्त तक इतना स्वास्थ्य है कि हरिप्रसन्न को हठात् स्मृति से दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत, हरिप्रसन्न के प्रति सदा वह 'घर' अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रक्खेगा।

असल में 'घर' और 'बाहर' में परस्पर सम्मुखता ही मैं देखता हूं। उनमें कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं चल पाता।

रवीन्द्र कवि हैं। अपनी भाव-प्रवणता में मानव को उसके मानवीय संदर्भ से उठाकर उसे अतिमानुषिक बना देने की उनमें क्षमता है। यह उनकी शैली की विशेषता है। यही उनकी कला-दक्षता उपन्यास-पाठक के बूते से बड़ी चीज़ भी हो सकती है। नित्य-नैमित्तिक जीवन के दैनिक व्यापार की संकीर्णता से कवि के उपन्यास का पात्र सहज उत्तीर्ण है। दुनिया के धरातल से उठकर कवि के हाथों वह दार्शनिक भावनाओं के धरातल पर जा पहुंचता है। वहाँ उसके लिए विचरण अधिक बाधाहीन और उसकी संभावनाएं अधिक मनोरम बनती हैं।

पर हर किसी को वह सामर्थ्य कब प्राप्त है ? उपन्यासकार को तो कदाचित् वह अभीप्सित भी नहीं। 'सुनीता' के पात्रों के पैरों को मैं इस धरती के तल से ऊंचा नहीं उठा सकता। न वहाँ मेरी क्षमता है, न कांक्षा है। अतमच उनके चित्रण में सामान्यता के सम्मिश्रण की कमी

नहीं है । इससे 'सुनीता' पुस्तक अतिशय भावनात्मक नहीं हो सकी,—उसके अवयवों में पर्याप्त मात्रा में स्थूल साधारणता है ।

खैर, वह जो हो । याद रखने की बात यह है कि हमारा ज्ञान आपेक्षिक है । वह अपूर्ण है । जगत की विचित्रता उसमें कहाँ समा पाती है ? अपने को मानव कब पूरा जान सकता है, जानने को शेष तो रह ही जायगा । इसलिए सदा वह घटित होता रहता है जो हमारे ज्ञान को चौंका देता है । Truth is stranger than fiction के नहीं तो और माने क्या हैं ? Truth को क्या यह कहकर बहिष्कृत करें कि वह ज्ञात नहीं है ? तब फिर बढ़ने के लिए आस क्या रक्खें ? जीवन की टक किसे बनावें ?

आलोचक के समक्ष मैं नत-मस्तक हूं । सविनय कहता हूं कि जी, अवश्य मैं त्रुटिपूर्ण हूं । आपको संतोष नहीं दे सका इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूं । शायद मैं आपकी चिन्ता के योग्य नहीं हूं । पर जब आप जज हैं तब अभियुक्त बने ही तो मुझे गुजारा है । किंतु क्या हम दोनों बराबर आकर मिल नहीं सकते ? मान लीजिए कि आप जज नहीं हैं और भूल जाते हैं कि मैं अभियुक्त हूं, तब उस भाँति क्या आदमी आदमी की हैसियत से हम एक-दूसरे को ज्यादा नहीं पायेंगे ? मैं जानता हूं कि जज की कुर्सी पर बैठकर अभियुक्त को कठघरे में खड़ा करके उसके अभियोग की छान-बीन का काम करने में आपके चित्त को भी पूरा सुख नहीं है । तब क्या चित्त का चैन ऐसी चीज नहीं है कि उसके लिए आप अपनी ऊंची कुरसी छोड़ दें ? आप उस कुर्सी पर मुझ से इतने दूर, इतने ऊंचे, हो जाते हैं कि मैं संकुचित होता हूं । आप जरा नीचे आकर हाथ पकड़कर मुझ ऊपर तो उठावें, और फिर चाहे भले ही कसकर दो-चार झिड़कियाँ ही मुझे दें । क्योंकि तभी मेरे मन का संकोच दूर होकर मुझे हर्ष होगा । और तब आप पायेंगे कि और कुछ भी हो, मैं आपका अनन्य ऋणी बना हूं ।

: १८ :

साहित्य की कसौटी

(१)

एक सराफ की दुकान की वात है। पहलेपहल मैंने तभी कसौटी देखी। उससे पहले शब्द जानता था, वस्तु नहीं जानता था।

एक सज्जन सोने का कण्ठहार लेकर आये। वह उसकी ठीक कीमत मालूम करना चाहते थे। सराफ ने पहला काम यह किया कि एक पत्थर की वटिया निकाल कर उस पर माल को घिसा। उसके वाद तोल आंक कर ठीक कीमत बता दी।

फिर एक स्त्री पत्ती, आरसी और कानों की वालियां आदि लाई। सर्राफ़ ने उन्हें भी पत्थर पर घिसा और दाम हिसाव करके कह दिये।

इसी तरह अपनी विवाहयोग्य कन्या के साथ एक माता वहां पहुंचीं। उनके पास कड़े थे। कड़े देकर वह कंगन लेना चाहती थीं। सर्राफ़ ने उन्हें भी वटिया पर कसा और वहां वनी लकीर को जांच से देखा, और तव उसके मूल्य का हिसाव लगाना शुरू किया

इस पत्थर की वटिया को कसौटी कहते हैं।

(२)

यहां कुछ वातें सहसा ध्यान में उठती हैं—

कसौटी :

१. आभूषणों की जांच के लिये कसौटी वह हो सकी जिसे उनके आभूषण होने का पता नहीं था।

२. कसौटी में आभूषण अथवा उसके स्वर्ण के प्रति आसक्ति नहीं

है । सोना मन भर है कि तोला भर है, समाकार है कि तिर्छा है, राजा का है कि चोर का है, सुन्दर अलंकार के रूप में है कि अनघड़ डले के रूप में है, इससे कसौटी को सरोकार नहीं है । सोना खरा है कि उसमें किञ्चित् खोट है, कसौटी यही दरसाती है ।

३. कसौटी सोने की परीक्षा नहीं लेती । फ़ैसला नहीं देती । अन्वय और विश्लेषण नहीं करती । स्वर्ण के स्पर्श से जो लकीर उस पर बन आती है, उसमें अनायास ही उस सोने के असल रंग की झलक खिल उतरती है । वह उस सोने के अन्तरंग को अपने बहिरंग पर ज्यों-का-त्यों स्वीकार करती और उसकी झलक जगत् के प्रति व्यक्त भर कर देती है ।

४. कसौटी स्वर्ण में अपने स्वत्व का कुछ अंश मिलने नहीं देती, इसका लोभ उसे नहीं है । न किसी प्रकार के निषेध या निरोध की कोई चेष्टा उसमें है । इसी से स्वर्ण के वास्तव गुण-निर्णय में वह काम आती है ।

सर्राफ़ः

५. सर्राफ़ कण्ठहार, आरसी और कड़े के भेद को जानता है । वह आभूषण होने की विशेषता को पहचान और सराह सकता है । असल में उस भेद की जानकारी के आधार पर ही उसका व्यापार चलता है ।

६. लेकिन आभूषणों का असल मूल्य उस सोने का मूल्य है जो उनमें लगा है, यह भी वह जानता है ।

७. वह जानता है कि सोने की असलियत से अतिरिक्त आभूषणों में जो आकार-प्रकार और कला-कारीगरी की विशेषता है, वह कृत्रिम है, अस्थायी है, रुचि-निर्भर है, यद्यपि उससे भी लाभ उठाया जा सकता है ।

८. चीज़ को खरीदते वक्त उसकी कला-कारीगरी और आकार-प्रकार का वह शून्य भी मूल्य नहीं ठहराता । उस वक्त वह उसमें लगे माल यानी सोने की लागत ही देखता है ।

९. बेचते वक्त वह उसी की कला-कारीगरी और रूप-सौन्दर्य पर गाहक की निगाह अटका कर अपनी दुकान चलाता है।

आनुषङ्गिक :

१०. हार के हारपन का मूल्य उसी के लिए है जिसे हार की जरूरत है, अर्थात् आसक्ति है।

११. आसक्त पुरुष जो जिस वस्तु का मूल्य लगाता है उसका वास्तव मूल्य उससे भिन्न है।

१२. आसक्ति एक वस्तु को औरों से खास बनाकर देखती है। किन्तु वास्तव मूल्य वस्तु का उस धरातल पर प्राप्त होता है जहाँ औरों के साथ उसे सम-सामान्य बनाकर देखा जाता है।

१३. तीनों आभूषण जहाँ तीन, अर्थात् हार, आरसी कड़ा अलग थे उस धरातल पर उनके उचित मूल्य का पता नहीं लगाया जा सकता। जब सब एक धरातल पर लाकर देखे गये, यानी सोने के रूप में, तभी उनका सही मूल्य आंकना सम्भव हुआ।

१४. क्रय-विक्रय से अलग होकर आभूषण का मूल्य उतना ही है जितना उसमें लगे सोने का मूल्य है।

१५. सोने में जो कला-कारीगरी द्वारा सौन्दर्य पैदा किया जाता है उसके मूल्यवान् होने के लिये ग्राहक की अपेक्षा है, अर्थात् वह निगाह और समय के साथ बदल सकता है।

(३)

अब जौहरी की दुकान की बात करता हूं।

इतवार का दिन है। कुछ तरुणी नवीनाएं मोटर में से उतर कर उस दुकान पर आती हैं। वे मग्न हैं, और कुलीन और शिक्षित। वयोचित उल्लास और शोभा उनके मुख पर है। उज्ज्वल परिधान है। उनमें

शायद एक का हाल में ही विवाह होने वाला है। सब सहेलियाँ जौहरी की दुकान पर छोटी-मोटी चीजें देखने आई हैं। जैसे रिंग, हेअर-पिन, इयर-टाप्स आदि।

भांति-भांति के नमूने उन्होंने निकलवाये और देखे। दुकान पर आधुनिक से आधुनिक बनाव की चीजें थीं। हरएक पसन्द आती थी, पर एक-एक को नापसन्द भी करना होता था। यह समझ न आता था कि उन आधुनिकों में अत्याधुनिक डिजाइन कौन-सा है। समय तो तेजी से निकला जा रहा है। उसकी अगली से अगली लहर पर जो लहरा रहा है, वही चाहिए। उनकी खुलती वय है, इससे पुराना कुछ नहीं चाहिए।

"देख री देख, यह कैसा सुन्दर है ! मैग्निफिसेंट !!"

कहते-कहते एक सखी ने उस इयर-टाप को कांटे से खोल लिया और सहेली के कान में लटका कर देखा।

उसकी शोभा देख कर सब बहुत खुश हुईं। कोई हंसने और ताली बजाने लगीं और कोई तो इयर-टाप पहनी हुई सहेली को छेड़ने और गुदगुदाने लगीं।

एक तरुणी ने पूछा—इसकी कीमत क्या है ?

दुकानदार ने कहा—पांच रुपये।

लड़की बोली—वह पहले वाला दस रुपये का था और किसी काम का नहीं दीखता था।

दुकानदार—जी हाँ, उसका डिज़ाइन पुराना है, पर उसमें माल भारी लगा है।

दूसरी सहेली बोली—अहं, वह कैसा पुरानी चाल का था ! मैं तो मुफ्त न लूं। और यह कैसा एलीगेंट लगता है !

जिसके कान में इयर-टॉप पड़ा था वह सखी कुछ लज्जा और अपमान के भाव से बोली—इसकी कीमत पांच रुपये हैं, सिर्फ ?

प्रतीत होता था कि वह इस बात पर खिन्न है कि जो इयर-टाप उसके कान में पड़ा है, और सुन्दर भी लगता है, उसकी कीमत सिर्फ पांच रुपये क्यों है ? काफी ज्यादे क्यों नहीं है ?

उसने दुकानदार से कहा—इस डिजाइन का कोई दूसरा नहीं है जिसकी कीमत ज्यादे हो ? डिजाइन यही होना चाहिए।

सहेलियों की सराहनाभरी आंखों से उसे मालूम था कि यह डिजाइन उसे बहुत फबता है। उससे चेहरे की शोभा जाने कितनी न बढ़ जाती होगी उससे !

पूछा—है ? दूसरा है ?

दुकानदार—होना तो चाहिए, देखता हूं।

थोड़ी कोशिश के बाद दुकानदार ऊँचे मोल का पर ठीक उसी डिजाइन का दूसरा इयर-टाप पाने में कामयाब हो गये। अन्दर से निकाल कर उसे लाये, वह अलग मखमल की डिबिया में था।

"इसकी कीमत ?"

"जी, पैंतीस रुपये।"

तरुणी ने पहले के इयर-टाप्स उतार कर इस नये जोड़े को पहना और आयने के सामने जाकर देखा। ओह, क्या खूबसूरत मालूम होता था। सखियां ठोड़ी से पकड़ कर उसके चेहरे को इधर-उधर घुमा कर देखने लगी। सचमुच, कानों से लटक कर वहां कपोल-भाग पर झूमता हुआ वह झुमका बड़ा मनोहर दीखता था। सखियाँ कोई उस अपनी सहेली को छेड़ती, कोई गुदगुदाती, और कोई खिल-खिल हँसकर अपनी सराहना प्रकट कर रही थीं।

ऐसे वह पैंतीस रुपये का इयर-टाप लेलिया गया और बालाएं चली गईं।

(४)

सर्राफ़ और जौहरी में फर्क है। जौहरी ऊंचे किस्म का व्यापारी माना जाता है।

लेकिन यह लिखते-लिखते मित्र टोकते हैं कि जी नहीं, साख बाजार में सराफ की ही अधिक समझी जाती है।

वह जो हो, सर्राफ़ उपयोगिता से चिपटता है, जौहरी कला तक उठती है। उपयोगिता और कला विरोधी नहीं हैं, पर उनके अंतर से सर्राफ़ और जौहरी में अंतर है।

सराफ़ सोने की क़ीमत से चीज की कीमत लगाता है। लेकिन जौहरी का काम बारीक है। वह ग्राहक की पसंदगी के उतार-चढ़ाव भांपता है। वह चीज की सूरत की खूबी पर लाभ उठा सकता है। चीज की असलियत का वह मोहताज नहीं। असलियत कम भी हो, उसमें लुभाव खूब है तो जौहरी खुश है। सोने की ईंट का वह क्या बनाए, जिसकी कीमत अपनी चतुराई से वह कुछ नहीं बढ़ा सकता। अचतुर के पास सोने की डलीं का जो मोल है, जौहरी भी उससे अधिक दाम उसके नहीं उठा सकता। तब जौहरी की जौहराई को भला उसमें क्या रस हो सकता है!

नवीना वे तरुणियां असलियत से अधिक आधुनिकता को मूल्य दें, इसमें मुझे कुछ अन्यथा नहीं मालूम होता है। सच्चे तर्क से चला जाय तो यह कहना कठिन होगा कि रूप की कीमत स्वर्ण की कीमत से घट कर है, या कम तथ्य है। सोने की कीमत को सच्चा हम-तुमने मिल कर बना रक्खा है। सिवाय इसके कि ज्यादे लोग सोनें को क़ीमती मान बैठे हैं, उसके फिर गिनाने के लिये कुछ कारण भी हो सकते हैं, दूसरा उसकी कीमत का समर्थन क्या है?

हो सकता है कि अफ्रीका के जंगल का आदमी रंगीन कांच के टुकड़े के बदले खुशी से सोने के कितने ही टुकड़े फेंक दे। यह कहने से कि

जंगली जंगली है और हम सभ्य हैं, सोने की कीमत की कृत्रिमता का खंडन नहीं हो सकता।

पर जंगलियों को छोड़ें। उन बेचारों के जंगलीपन के कारण ही स्वर्ण का पक्ष कहीं अपने सभ्य महत्व के गर्व में खंडित न हो रहे। इसलिए उन अपनी इयर-टाप वाली सुन्दर तरुणियों पर ही ध्यान दें।

वे तरुणियां सोने की कीमत को तुच्छ करके आकृति और रूप के सौंदर्य की कीमत को कहीं ऊंचा चढ़ा कर देख सकीं। उनकी दुनिया में सोने का महत्व काल्पनिक और आकृति-सौंदर्य की शोभा वास्तविक है।

उम्र के वड़े लोग ठोस सोने की तोल में कीमत तोलते हैं। जवान लोग, जिनमें प्रेम की दृप्तता है और तवियत की रंगीनी है, रूप-सौंदर्य के मान में वस्तुओं को मूल्य दे सकते हैं।

वड़ों को हक है कि जवानों को नादान समझें। और जवान लोग वुजुर्ग की दानिशमन्दी को जिंदगी की मुर्झाहट समझ सकते हैं। मैं दोनों से दूर नहीं हूं। मुझे शंका है कि जवानी मुझ से पूरी तरह खिसक नहीं रही है तो वुजुर्गी भी मुझे आ नहीं रही है।

हो सकता है कि साहित्य की कसौटी पाने का सवाल कृत्रिम और अनावश्यक हो। सर्राफ की कसौटी के फैसले को तरुणी और तरुण अनायास पददलित करके समाज को हरियाला वनाये रखते हैं। उनके विना दुनिया विधि-निषेध के अंकुश के जोर से नहीं तो वीरान रेगिस्तान ही कहीं वन जाय। इसलिए हो सकता है कि साहित्य की कसौटी इसी तरह जीवन की उमंग में पददलित की जाया करे, और उसके इन्कार पर ही साहित्यिक प्रतिभा अपनी सृष्टि खड़ी किया करे।

आखिर तो जिन्दगी एक प्रवाह है। हर प्रकार के वैचित्र्य को इसमें अवकाश है। नीति-नियम और आईन-कानून क्या उस जीवन को कसते

और जकड़ते ही नहीं है, कि उन्मुक्ति ही जिसकी सार्थकता है और बन्धनों का निषेध ही जिसका लक्षण है !

फिर भी दुनिया का काम यदि चलना है; एक को दूसरे से यदि मिलना है और बोलना है; यदि यह आवश्यक है कि हम आपस में प्रेम करें, और प्रेम द्वारा सृष्टि करें; यदि आवश्यक है कि मनुष्य जाति प्रयोग और परीक्षण करती चले, लड़ती चले, झगड़ती चले, और उसमें से भी आगे बढ़ती चले; अगर जिन्दगी को व्यक्तिगत से सामूहिक और सामूहिक से समष्टिगत होने की ओर उठते चलना है; अगर संघर्ष में से समन्वय, संकट मे से विकास, युद्ध में से व्यवस्था और क्रान्ति के कोलाहल में से शांति का संगीत निर्माण करना है—अगर ये सब करना है तो कुछ वह भी करना होगा जो सौ फी सदी शुद्ध साहित्यिक कर्म नहीं है।

हम लोग जो यहाँ करने आये हैं वह सौ फी सदी शुद्ध साहित्यिक कर्म नहीं है। साहित्य परिषदों और सभाओं में नहीं तैयार होता है। वह अकेली प्रेम की व्यथा में से उपजता है।

लेकिन अकेलापन ही सब नहीं है और सच नहीं है। इसी तरह साहित्य भी सब नहीं है और सच होने के लिए उसमें कर्मतत्परता के संयोग की आवश्यकता है।

सभाएं, कान्फ्रेन्सें, उसी कर्मतत्परता को सफल बनाने के रास्ते में आ जाती हैं।

(५)

इसलिए कसौटी चाहिए। सोने के लिए नहीं, सोना परखन के लिए।

सोने को चिन्ता नहीं है कसौटी की। यह तो दुनिया के लोगों ने

कसौटी का आविष्कार किया है, जिन पर सोने का मोह सवार है। उन्हें जरूरत हुई है कि स्वर्ण को अस्वर्ण से जांच कर अलग करें। और मूल्य के निश्चित मान कायम कर वाजार की दरें विठाएं।

हम सोना वन चलें तो हमें कसौटी की जरूरत नहीं है। जिन्होंने मृत्यु के बीच अमरता और बंधन के मध्य मुक्ति की साधना की है, ऐसे पुरुष स्वयं ही जीवन की कसौटी वन रहे हैं। उनकी उपमा से ही हम जीवन सत्य को समझा करते हैं।

पुराने ग्रंथों की संस्कृत में जहां व्याकरण का व्यतिरेक मिले वहां पाठक को याद रखने को कहा जाता है, 'आर्षं वाक्यं प्रमाणम्।' यानी मत देखो व्याकरण, देखो कि ऋषि के वाक्य की आत्मा क्या है। तुम तो उस आत्मस्फूर्ति को ले लो, वाकी को उसकी ही चिंता पर छोड़ दो।

लेकिन हम स्वीकार करें कि हम लोग स्वयं कसौटी नही वन सके हैं। हम स्वयं में जीवन की उतनी शुद्ध अभिव्यंजना नहीं है। हम उसकी पूर्णता में जीवन नहीं जीते हैं।

हम वह नहीं हैं जिनमें से नीति स्वयं विकीर्ण हो, जिनका चरित ही उदाहरण हो, जो आदर्श में इतने तन्निष्ठ हों कि स्वयं आदर्श वन गये हों।

हम साहित्य द्वारा अपने से अलग, फिर भी मुख्यता से अपने लिए, आदर्श की मूर्ति गढ़ने का प्रयत्न करने वालों में से हैं। यह हमारी मर्यादा है। साथ ही यह हमारी विशेषता है।

तव यह उचित और योग्य है कि हम वुद्धिपूर्वक, अपने लिए और सवके लिए, स्थिर करने चलें कि साहित्य की कसौटी क्या है?

साहित्य में रचनाओं के विविध प्रकार हैं। काव्य है, नाटक है, उपन्यास है, कथा है, चम्पू है, निवन्ध-प्रवन्ध हैं। और अभिव्यक्तियां हैं

जिनका निश्चित वर्गीकरण कठिन है। विविध वर्ग की रचनाओं के लिए विभिन्न रीति-शास्त्र भी बन गये हैं। छंद अलंकार पर अनेक ग्रंथ ह, उसा प्रकार इतरवर्गीय रचनाओं के लिए भी काफी कुछ विधान-विधेय और तक्नीक प्रस्तुत मिलता है। स पर मनुष्य की पर्याप्त मेधा-बुद्धि व्यय हुई है। उस संबकी भी उपयोगिता है।

लेकिन क्या कसौटी के लिए उस वर्गीकरण और भेद-विभेद को भूल जाना भी जरूरी नहीं है ? भूलने का मतलब सांकर्य उपस्थित करना न समझा जाय। सब में अपनी-अपनी विशिष्टता है। काव्य की शक्ति यदि कल्पना है, तो गद्य यथार्थ होकर प्रबल है। सबको गडमड करने की इच्छा हमारी नहीं है। पर कसौटी पाने के लिए यह तो अनिवार्य ही प्रतीत होता है कि उनके परस्पर के अंतर से किंचित गहरे जाकर वहाँ से हम उनकी सत्यता को प्राप्त करें कि जहाँ सब की विविधता एकता में बीज-भूत और रसलीन है।

वैसी ही कसौटी हमें पानी है। आकार कुछ हो, प्रकार कुछ हो, खरे-खोटे की परख के लिए साहित्य सब उस पर कसा जाय।

(६)

तो मैं यह मानता हूं कि—

१—जीवन एक है। जीवमात्र एक है।

२—वह एकता हमें अगोचर है, बीच में अहंकार का पर्दा है।

३—जाने-अनजाने हमारे 'अहं' की परिधि बढ़ती जा रही है। परिधि बढ़ती उतना ही अहंकार हलका होता है।

४—अहंकार विग्रह, विद्वेष, मद और मत्सर आदि विकारों को जन्म देता है।

५—अहंकार की क्षीणता में स्नेह, बंधुता, नम्रता, सरलता आदि गुण प्रगट होते हैं।

६—स्व-राग और परालोचन की वृत्ति अहं-जन्य है।

७—साहित्य इस वृत्ति को मंद करता और मन को उदार बनाता है।

३—वह लोक-हितैक्य की भावना में से आता है और उसी भावना को जगाता है।

४—इसलिए साहित्य की कसौटी वह संस्कारशीलता है जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्त मुदित करता है वह साहित्य खरा। संकुचित करता है, वह खोटा।

सहृदय का लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। जो परदुखकातर है उसका जीवन अनायास सेवापरायण होता है।

: १६ :

समालोचन के मान बदलें

आलोचना का मान क्या हो, यह जानने के लिए आलोचना की आलोचना करनी होगी। उसकी मर्यादाएँ बनानी होंगीं। उसको किसी ऐसे तत्त्व से जोड़ना होगा जो अपेक्षाकृत नित्य हो, स्वयं सिद्ध और स्वयंसाध्य हो, और आलोचना से परे हो। ऐसा नहीं, तो आलोचना वाग्जाल है। वह क्षोभ है, आरोपण है, वह माया है। ऐसी आलोचना अपने को खा जायेगी। वह वन्ध्या है, वाचालता है।

इसी से आलोचना को विशेषण लगाकर समालोचना कहने की जरूरत होती है।

विवेक के बिना आदमी का काम नहीं चलता। विवेक में आलोचना गर्भित है। किसको छोड़ें, किसको लें? छोड़ने का प्रश्न ग्रहण के निमित्त से है। यदि कुछ अंगीकार करना नहीं है, तो छोड़ने का प्रश्न नहीं उठता। अर्थात् विवेक किसी उपलब्धि को सामने रखकर ही त्याग और निवृत्ति की साधना बतलाता है। उपलब्धि फल नहीं, तो त्याग व्यर्थ है। अर्थात् विवेक में गर्भित ही जितनी आलोचना है, उससे अतिरिक्त निषेध की आकांक्षा उसमें नहीं है। विवेकशील प्राणी गतिशील है। वह प्राप्तव्य की ओर बढ़ रहा है। उस बढ़ने में जो आलोचना दरकार होती है, उतनी ही आलोचना वह स्वीकार करता है। शेष आलोचना उसके लिए वासना है।

ऊपर के शब्दों से पहली तो आलोचना की मर्यादा यह बनती है कि वह सोद्देश्य हो। अङ्गीकरण की आवश्यकता उसके मूल में हो और उसी आधार पर अस्वीकरण का आदेश हो। उपादेय को प्रकट और उपा-

र्जित करने के अर्थ ही हेय की छान-बीन है। उपादेय को अपनाने की लगन नहीं है, तो हेय को निर्धारित करने चलना एक झूठा अहंकार है।

यथावश्यक विवेक और प्राणियों में तो उनके स्वभाव में ही समाया रहता है। उनके संवेदन इंस्टिक्ट ही उन्हें चलाये चलते हैं। सोच-समझ कर कुछ तजने और कुछ अपनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। अतः उनके लिए पाप-पुण्य की व्यवस्था नहीं है। कहो, विवेक ही नहीं है।

पर मानव-प्राणी की बात और है। विवेक शब्द उसके ही लिए उपयुक्त है। जो स्व-भाव में सहज हो चुका, उसके लिए तो विवेक शब्द अनावश्यक हो जाता है। जिस सत्-भाव के लिए अभी स्व-भाव बनना हम में शेष है, उसी के लिए विवेक शब्द का उपयोग है।

अर्थात् समालोचना का मूलाधार सत्-(की)-वृत्ति होगी। जो सत् है फिर भी अपना स्व-त्व नहीं बन पाया है। उसी को पाने, अपनाने और अपने भीतर रमाते जाने के लिए आलोचना दरकार है।

आग्रह स्व-त्व पर होता है। इसलिए आलोचक निराग्रही होगा। जिसको सत्य पर आग्रह करने का अधिकार मिला है, अर्थात् जो सत् के प्रति ऐसा तल्लीन है कि उससे अलग उसका कोई स्वत्व ही नहीं है, उस व्यक्ति को आलोचक होने का अधिकार नहीं है। क्योंकि वह अपनी पूरी निर्ममता से अपना ही आलोचक होता है।

आशय कि आलोचना अपूर्णता में से आती है और पूर्ण होने की इच्छा में से आनी चाहिए। इसलिए वह सदा विनयपूर्ण और जिज्ञासा के मार्दव से ऋजु और मृदु ही हो सकती है।

ज्ञान के बारे में वही पुरानी कहावत सच्ची है। जो जानता है कि वह जानता है वही नहीं जानता है। अखिल के समक्ष अज्ञता की स्वीकृति ही विज्ञता है।

अगर ज्ञान की सच्ची प्रकृति के बारे में ज्ञानियों का यह अनुभव सही है, तो कंटीली आलोचना ज्ञान नहीं बढ़ाती। वह लिखने या पढ़ने वाले मे आग्रह बढ़ाती है, यानी अस्मिता बढ़ाती है। अस्मिता ही अज्ञान।

इसी बात को जरा खोल कर समझेंगे तो मालूम होगा कि आलोचना युक्ति-तर्क की क्रीड़ा उतनी नहीं है जितनी कि वह आत्माभिव्यञ्जना है। अमुक पुस्तक कैसी है यह बतलाने के प्रयोजन में हमारा वश इतना ही है कि कह रहें हमें वह कैसी लगी। अर्थात् उसके प्रति हमने जो कुछ अपने अन्दर अनुभव किया हो और हम पर जो छाप पड़ी हो, वही सामने रख देने के हम अधिकारी हैं। फैसला देने का काम जिनका है उनका रहे। साहित्य-समालोचक का वह जिम्मा जब तक नहीं है तभी तक भला है। और मैं मानता हूं कि साहित्य-समालोचक इतना समर्थ प्राणी है कि वह जजी के कृत्रिम दायित्व को कभी अपने ऊपर नहीं ओढ़ेगा। मोटे वेतन के एवज में जो किसी बने-बनाए दण्ड विधान के अधीन बन कर जज की कुर्सी से अनुशासन की व्यवस्थाएँ देते हैं, साहित्य-समालोचक को मैं उस श्रेणी में नहीं मानना चाहता। वह गरीब से गरीब हो, समाज की निचली-से-निचली श्रेणी में माना जाता हो, लेकिन मानव-ता में उसे ऊंचा रहना होगा है। वह हार्दिक होगा, फिर चाहे समाज के हाथों वह त्रस्त भी रहे। ऊंची कुर्सी के नीचे जो है, उधर उसकी निगाह है। फिर उस कुर्सी के ऊपर होने की स्पर्द्धा उसमें कैसे हो ?

हम देखें कि फैसला देने का काम करने लगने से आदमी की समाज-दर बढ़ती है। हल्की चीज ऊपर आती है, भारी नीचे बैठती है। लेकिन ऊपर आती चीज को ऊपर आते देख कर भारी वस्तु को हल्का बनने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जज ऊपर हो, लेकिन सहृदय समालोचक नीचे रह कर भी अपनी सहृदयता संजोए रखेगा। क्या सहृदयता का मूल्य ही यह नहीं है ?

अंग्रेजी में दो शब्द हैं : Subjective और Objective. ऊपर के कथन में यह अभिप्राय आजाता है कि आलोचना में कुछ ऐसा नहीं होना चाहिए जिसके पीछे अनुभूति का बल यानी Subjective Sanction न हो। आलोचक की मनोभूमिका सर्वथा दायित्वशील यानी अन्तर्मुखी हो तभी तटस्थ भाव से Objective आलोचना संभव है। हृदय को बाद देकर आलोचना Objective या यथार्थ हो सकती है, यह भ्रान्ति है।

अब यह प्रश्न कि साहित्यालोचन के मान क्या हों ?

इस सम्बन्ध में इधर आकर मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि साहित्य जीवनान्तर्गत धर्माधर्म परीक्षा का प्रकट फल है। उसमें अन्तर्निहित शोध यही है—धर्म क्या, अधर्म क्या ?

धर्म-अधर्म की जगह दूसरा शब्द रखना मुझे प्रिय न होगा। सत्-असत् का निर्णय दर्शन शास्त्र करें। वह व्यापार जीवन के व्यवहार-पक्ष से अलग रह कर भी चाहे किया जा सकता हो। लेकिन धर्माधर्म परीक्षा के लिए तो जीवन ही क्षेत्र है और कोरी बुद्धि से वह काम होने वाला नहीं है। उसमें तो कल्पना और भावना दोनों सापेक्ष होकर चलती हैं।

धर्माधर्म-परीक्षा की मुख्य कसौटी क्या ? क्या, तर्क ? युक्ति ? विवाद ? आगम ? विज्ञान ?

मालूम होता है कि ये सब उपकरण उपयोगी तो हो सकते हैं, पर कुञ्जी उनके हाथ नहीं है। धर्माधर्म की खरी परीक्षा तो आत्मानुभव में होती है। संत-जनों की वाणी जैसे धर्म के रहस्य को धारण करती है, वैसे ही संस्कारी हृदय साहित्य-रस को धारण करता है।

साहित्य की परख के लिए हृदय की संस्कारिता जैसी अचूक कसौटी है, शास्त्रीय पाण्डित्य वैसा नहीं है। और साहित्य-समालोचना का योग पाण्डित्य से हट कर हृदय की संस्कारिता से होते चलना चाहिए।

धर्माधर्म शब्द के व्यवहार से यह भी ध्वनित करने का मेरा अभिप्राय

है कि साहित्यालोचन के मान को हमें किंचित लोक-मंगलीकरण से भी अविच्छिन्न रखना चाहिए।

अभी साहित्य का समाधान देखा जाता है कला की अपेक्षा में अथवा नीति की अपेक्षा में। वहीं से साहित्य का समर्थन और औचित्य प्राप्त किया जाता है। लेकिन यह अपर्याप्त है। कला इतनी वारीक चीज हो चलती है कि सहज वुद्धि के लिए दुर्लभ हो। उसी तरह नीति कुछ अपने से और अपने अन्तरङ्ग जीवन से अलग जा पड़ती है। 'नीति' पर हम विवाद खड़े कर सकते हैं। एक वार नीति को जीवन की भूमिका से अलग करके और उसे अपने आप में यथार्थ मान कर देखना आरम्भ किया कि वह एक शव्द की उलझन और आग्रह की ओट वन जाती है। इससे इन दोनों शव्दों के सहारे साहित्य में दम्भ को भी प्रश्रय मिलता है।

अतः मेरी राय है कि साहित्य-समालोचन के यथार्थ मान को अव हमें सीधे धर्म-दृष्टि में से प्राप्त करना चाहिए। धर्म का मतलव मतवाद नहीं। धर्म को लोक-नीति के तल पर उतार लाते हैं तभी वहाँ वाद-विवाद और मतभेद पैदा होता है। तव वह जीवन की न रह कर पण्डित की वस्तु वन जाता है। अन्यथा तो धर्म सहज वुद्धि से कभी दूर नहीं जा पड़ता। उसी धर्म से मेरा मतलव है जो शास्त्रों को भी अगम है, लेकिन वालक को भी सुगम हो सकता है।

जो मान अन्तःप्राप्त सहज वुद्धि से दूर जा कर साधारण व्यक्ति के लिए दुर्गम वन सकते हैं, उनके द्वारा साहित्य-समालोचन का व्यापार चलाने से साहित्य-रस प्राप्त नहीं होता, उल्टे दुष्प्राप्य वनता है। अगर समालोचना इष्ट है तो इसीलिए कि साहित्य में जो गूढ़ है वह उपलव्ध वने और उसका रस अधिकाधिक सुलभ और व्यापक होता जाय। कला और नीति के जो शास्त्र वन खड़े हुए हैं, उनकी शव्दावलि का सहारा लेकर साहित्यालोचन अव कृत्रिम, क्लिष्ट और हृदय-शून्य होता जा रहा है। वे मान अव साहित्य-रस के आदान-प्रदान में हल्के

साबित हो रहे हैं। डाक्टर (पी० एच० डी०, डी० लिट० आदि) उग रहे हैं, साहित्य सूख रहा है। इसलिए जरूरत मालूम होती है कि हम आलोचना के मान बदलें। जीवन के उन्हें अन्तःस्पर्श में लावें। वह दिङ्-निर्देश आलोचन को दें जिससे कि जीवन की प्रतिच्छवि अधिक परिपूर्णता में हमारे सामने आवे। प्रगति के वाद ने जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं और इधर हिन्दी की आलोचनाओं में जहाँ-तहाँ प्रयोग में आने लगी हैं, वे जीवन को गहराई पर छूने से मानों बचना चाहती हैं। वह दृष्टि एकदम अधूरी और ओछी है। समूचे जीवन को अपनाने और आकलन करने की तैयारी जिन शब्दों में नहीं है उनमें साहित्य के रथ को अटकाने से काम नहीं चलेगा।

: २० :

मान क्या : संघर्ष कि समन्वय ?

कुछ दिन हुए साहित्य-सन्देश में लिखते हुए मैंने आलोचना के मान की बात उठाई थी। मेरी समझ से वही मान साहित्य के भी होंगे। साहित्य एक और आलोचना दूसरी वस्तु है, क्या ऐसा मानना होगा ? अन्तर तो है, पर शायद प्रकृतिगत वह नहीं है। साहित्य में स्फूर्ति विशेष चाहिए, तो आलोचना में किंचित् कम से भी काम चल जाता हो। वह कदाचित् गति की अपेक्षा स्थिति के अधिक निकट हो। वहाँ बुद्धि को और बुद्धि के हिसाव को अधिक अवकाश हो, और विहरणशील कल्पना की उतनी माँग न हो। फिर भी आलोचना सृजनशील न होगी ऐसा तो नहीं ठहराया जा सकता।

छोड़िए, ये बातें कभी मेरे लिये अपनी थीं, और मैं उनका था। आज तो लगता है मैं उस सबसे बाहर आ पड़ा हूँ। साहित्य में आवारा की तरह घूमा किया हूँ, यह मुझे याद है। पर और भी अच्छी तरह याद है कि वहाँ मुझे बसेरा नहीं मिल पाया है। पैर टेक कर साँस ले पाऊँ ऐसी धरती वहाँ कोई मिली है, यह मुझे पता नहीं चला। मतवादों की ऐसी भीड़ रही है और इतना कोलाहल कि उनमें से किसी स्वर या किसी वाद में मन लगाने की सुविधा नहीं हो पाई।

साहित्य से जब बाहर हो भटका उसके बाद का भी अपना हिसाब मेरे पास नहीं है। अगर पाता कि पाँव के नीचे धरती आगई है तो आपके खत पर झट लिख डालता कि 'साहित्य-सन्देश' में कुछ भी लिखने से अब मेरा छुटकारा है, पीठ की तरफ मुझे नहीं देखना है। हक्सले (आलडस) महाशय जाने कहाँ लिख गये हैं, "Life is lived

forward, not backward" । यह वाक्य पढ़ने के साथ ऐसा मन में बैठ गया है जैसे हक्सले से कम वह मेरा अपना न हो । चाहता रहा हूं कि पीछे न सोचूं, आगे का होकर बस जीता चलूं । पर जीवन की गति तीर सी सीधी तो है नहीं । समस्त जीवन सरीसृप है । सिकुड़ कर बढ़ना होता है, और बढ़ कर और बढ़ने के लिये फिर कुछ सिकुड़ना चाहिए । यानी आगे जाना पीछे सोचने के बिना न होगा । इस तरह देखता हूँ कि आपके 'साहित्य-सन्देश' के लिये पीछे हटकर, स्फुट विचारों के रूप में ही सही, मैं कुछ फिर लिखने को तैयार हो बना हूं ।

आलोचना के मान की बात उठाई तो जान पड़ा था कि वह बहुतों की बात है । उस बारे में कई और लेख लिखे गये थे, और वह विषय कुछ काल चर्चा का और ध्यान का बना रहा था । मेरे लिए वह विषय व्यावहारिक आवश्यकता का था, निरा मानसिक न था । उस पर चर्चा हो और उद्वेलन हो, इतने भर से क्यों इति मान ली गई ? प्रश्न काम का होने से चर्चा को आगे बढ़ाये जाना और उसमें से परिणाम निकाल कर रहना था । काम न सधे तब तक आप उस प्रश्न को बराबर पीटते ही जाते, यह मैं पसंद करता । इसलिए 'साहित्य-सन्देश' के कालमों में फिर उस प्रश्न को खोलने की सुविधा के बतौर यह पंक्तियां भेंट कर रहा हूं ।

प्रश्न की अनिवार्यता पहले से बढ़ गई है । उस वाद से हम-आप परिचित हैं जो प्रगति के नाम से चला था । सहारा जिस शब्द का लें, वाद अन्त में आग्रह होता है । कट्टरता में उपजता और कट्टरता उपजाता है । कर्म सहज की जगह दलबद्ध उसे इष्ट होता है । वह साम्प्रदायिकता मजबूत करता है । उससे तू-तू मैं-मैं शुरू होती है, जो कलह में और वैमनस्य में निष्पन्न होती है । एक विग्रह और दूसरे के बीज बो जाता है और ऐसे वह दुष्ट-चक्र तीव्र और दृढ़ होता है जो हमको परस्पर के द्वेष में जकड़े रखता है ।

प्रश्न है कि साहित्य के लिये, फलतः उसकी आलोचना के लिये, मान के तौर पर, सङ्घर्ष जरूरी होगा कि समन्वय ? जिस मूल श्रद्धा को लेकर

साहित्य को चलना है, वह युद्ध है, कि शान्ति ? साहित्य में हम ललकार चाहेंगे, कि स्वागत ? यह बहुत बड़ा प्रश्न है और हर एक को अपने-अपने लिये इससे निपट लेना होगा। शायद यह प्रश्न साहित्य का ही नहीं, राजनीति का भी है; बल्कि साहित्य बनाम राजनीति का है।

राजनीति, समूह-कर्म और राज की नीति होने की वजह से, समग्र को पक्ष में, और अखंड को खंडों में बँटा हुए देखे, और समाधान को परस्पर की हार-जीत की भाषा में सोचे तो समझ में आ सकता है। कारण, उसका तल भेद है। उसको काम-काज के और संख्यागत अनेकता के बीच रहना-बसना है। उसका वही जिम्मा है। यद्यपि राजनीति में भी उससे ऊंची कल्पना यदि न होगी तो वह विधायक हो सकेगी, इसमें सदा संदेह है।

लेकिन स्वयं नीति का ही विचार उस तल पर रहकर नहीं चल सकता। यदि पक्ष ही हैं, और यदि एक की कीमत पर दूसरे को चुन लेना ही उपाय है, तो ऐसे समग्रता नहीं साधी जा सकती। समग्र जीवन को यदि साधना है तो मूल मान द्वैत नहीं ऐक्य ही हो सकता है। कम-से-कम साहित्य, जिसे कोई पक्ष रखना नहीं है, और किसी अमुक को गिराना नहीं है, इसके सिवा किसी दूसरे मूल्य को नही अपना सकता।

इस स्थापना में से हमें सहज ही कुछ सूत्र हाथ लग जाते हैं, यथाः—

१—साहित्य-रचना में मताग्रह को स्थान न होगा। आग्रह जितना है, या जितना तीव्र है, रचना उतनी निकृष्ट है। एकमत के आग्रह में दूसरे मत का अनादर समाया है। यह एक विकृत वृत्ति है और असांस्कृतिक है, फलतः साहित्य से विपरीत है।

२—विरोध और विग्रह के सहारे प्रभाव उत्पन्न करना साहित्य के लिये अनिष्टकर है। यह प्रयत्न जहाँ जितना उभरा हो वहाँ उतना ही हल्कापन है।

३—घृणा, प्रति-स्पर्धा और विद्वेष की शक्ति, क्योंकि अन्त में वह

चेतना को जलाती है उजलाती नही है, जिस रचना से उद्भूत हो वहाँ रचना में उतना ही विकार मानना चाहिए।

४—जगत्-कर्म सब चैतन्य से सिद्ध और संपन्न होते हैं। अतः साहित्य मनश्चेतना से अलग कर्म-सिद्धि में सीधा आसक्त नहीं हो सकता। ऐसे कर्म-जड़ता फलित होगी। साहित्य मूल चेतना के अवरोधों और विकारों को हटाता और प्रवाह को मुक्त करता है। इस तरह वह चेतना का परिष्कार करता, उसे जागृत और विकसित करता है। इस विधि सब प्रकार की कर्म-सिद्धियों में उसका अनायास योग होता है। जो सीधा कर्म साफल्य की ओर जाता है, चाहे फिर वह देश का स्वराज्य ही क्यों न हो, उसका अत्यन्त सामयिक मूल्य है। शायद वह साहित्य ही नहीं है।

५—कर्म-जगत के व्यक्तियों को ऊँचे चढ़ाने या नीचे गिराने की चेष्टा जहाँ है वहाँ समदर्शिता, या उसकी श्रद्धा, नहीं है। साहित्य समदर्शी होगा। अर्थात् कुछ व्यक्तियों पर किन्हीं दूसरे व्यक्तियों का आतंक चढ़ाना साहित्यिक रचनाकार को इष्ट नहीं हो सकता। अन्तर-व्यथा में सब एक से निरीह हैं। इसलिए साहित्य में बड़ा वह दीखेगा जो खुशी के साथ छोटा है।

ऐसे सूत्रों की संख्या और बढ़ाई जा सकती है, पर उससे लाभ नहीं है। रियलिज्म के नाम पर एक रोमांटिक वृत्ति चल पड़ी है। नाना व्यक्तियों और कर्मों के बीच वह वैज्ञानिक समकक्षता देखने से डरती है और भावुक भेद-भाव में रस लेती है। कोई कैसे मानें कि स्टालिन सिर्फ नाम की वजह से आदमी से कुछ और है, या रॉकफैलर सिर्फ व्यवसाय-पति होने की वजह से इन्सान से कुछ अन्य है। उनके भेद को पकड़ने के लिये एक को देव और दूसरे को दानव बनाकर जो दृष्टि चलना चाहती है, उसे अवैज्ञानिक और अयथार्थ न कहें तो क्या कहा जायगा? अवश्य ही उसमें अधैर्य और सरागता है।

राजनीति के क्षेत्र में आवेशों से खूब काम लिया जाता है। उनमें

हराना गिराना जो लक्ष्य रहता है। जय-पराजय ही लक्ष्य हो तब आयुध कोई ओछा नहीं रह जाता। इस उत्कटता में आदमी, उलटे गर्व-भाव में, पशुता पर उतर आता है और इसी धरती पर नरक रच उठता है। यह तो आये दिन की बात है। साहित्य में हठात् वह आवेश पहुंच कर उछल-कूद मचा आवें इसमें तो अचरज नहीं है। संगठित दलवद्ध अहन्ताओं पर मर्यादा कोई डाले तो कैसे ? लेकिन उस उत्पात को प्रतिष्ठा प्राप्त हो, गंभीर स्वीकृति उसे मिलने लगे, तब तो सब कुछ गया ही मान लेना होगा।

: २१ :

समीक्षा समन्वयशील हो

हिन्दी नाटकों की आलोचना में अक्सर यह पढ़ने को मिलता है कि यह अभिनय के योग्य नहीं है, या अपेक्षाकृत अधिक योग्य है, इत्यादि। यानी नाटक की अच्छाई और उसकी सफलता की एक जरूरी कसौटी उसकी अभिनेयता मानी जाती है। इसमें कुछ असंगति नहीं है।

पर नाटककार तो अपने मन का चित्र पात्रों द्वारा मूर्त बनाता है। अगर पढ़ कर वह चित्र पाठक के लिए मनोगत और प्रत्यक्ष हो जाता है तो यहीं उसकी सिद्धि है। अगर स्टेज उसके साथ न्याय करने तक नहीं उठ पाता तो उसकी चिंता स्टेज को हो, नाटककार पर उस चिन्ता का दायित्व नहीं डालना चाहिए।

सच यह है कि स्टेज की कसौटी मुझे प्राप्त नहीं है। असल में स्टेज ही नहीं है। जिस दिशा में हमारी जिन्दगी बढ़ती जा रही है उससे आशा कम है कि स्टेज फिर लौट कर आयगा। अब तो द्रुत-चित्र के दिन हैं। वे होंगे तो द्रुततर होंगे। स्टेज आयगा तो तभी आयगा जब हम अपनी सामूहिक और नागरिक जिन्दगी को क्षिप्र से धीमा और जटिल से सरल बनाने की ओर बढ़ेंगे। लेकिन यह बात यहां अप्रासंगिक है।

स्टेज नहीं है, फिर भी नाटक लिखे जाते हैं तो क्यों ? यह कुछ मेरे लिए अचरज की बात रही है। 'प्रसादजी' के बारे में मेरी धारणा है कि जो ऐतिहासिक कथाचित्र उनके मन में उदय होते थे उनकी अभि-व्यञ्जना के लिए नाटक ही उचित स्वरूप था। उनके दो उपन्यास एतत्कालिक सामाजिक विवेचन हैं। ऐतिहासिक चित्रों को प्रसादजी उतने विवेचन-भाव से नहीं, जितने आकर्षण के भाव से देखते थे। इनके प्रति

'प्रसादजी' की वृत्ति ही नाटकीय थी। कुछ मुझ को ऐसा भी मालूम होता है कि हिन्दी में 'द्विजेन्द्रलाल' के अभाव का उन्हें ध्यान था। अर्थात् उनके अनुकरण नहीं तो समीकरण का उन्हें मोह था। फिर जिस युग से उन्होंने साहित्य में प्रवेश पाया था, वह युग नाटक और अभिनय से अछूता नहीं था। विशेषकर काशी की उनकी मण्डली में नाटक की चर्चा का खासा रङ्ग था। तिस पर क्लास-रूम में या साहित्य-जगत् में उनके नाटकों की चर्चा चल पड़ी थी। इससे नाटक लिखते जाना 'प्रसादजी' के लिए प्रकृत ही हो चला।

लेकिन हिन्दी में और नाटक क्यों लिखे गये, क्यों लिखे जाते हैं ? इस बात का ठीक-ठीक उत्तर मेरे पास नहीं है। [क्या वे अनुकरण के लिए या कोर्स के लिए मुख्यता से लिखे जाते हैं ?]

मैंने खुद कहानी लिखी है, उपन्यास लिखे हैं। प्रश्न हो कि कहानी का रूप एकाङ्की क्यों नहीं हुआ और उपन्यास नाटक के रूप में क्यों नहीं लिखा गया ?—तो इसका जवाब यह है कि उसकी जरूरत ही नहीं आयी। एक एकाङ्की लिखा है, क्योंकि 'हंस' वालों ने तय किया कि 'हंस' का एक खास एकाङ्की-अङ्क निकालेंगे। मुझे उसमें लिखना था ही। सो चलो एकाङ्की बन गया। लेकिन तब से अब तक मुझे समझ नहीं आ सका है कि एकाङ्की क्यों लिखे जाते हैं और नाटक क्यों लिखे जाते है ?

एक मित्र ने कृपापूर्वक अपना लिखा एक नाटक मुझे दिया और कुछ रोज बाद मिलने पर पूछा कि वह नाटक क्या मैंने पढ़ा ? पढ़ा, तो कैसा लगा ?

मैंने कहा—पढ़ने में बुरा नहीं लगा।

लेकिन वह नाट्यकला की दृष्टि से जानना चाहते थे। नाट्यकला की दृष्टि कोई दृष्टि होती है, यह मुझे नहीं मालूम। एक ही दृष्टि की बात मुझे मालूम है, और मेरे लेखे सब दृष्टियां उसमें समा जाती हैं। कोई उससे भिन्न बचने के लिए अलग दृष्टि नहीं रह जाती।

'टेकनीक' के बारे में कइयों ने चर्चा की है। मुझे उस टेकनीक नाम की चीज का अ-आ भी नहीं आता। फिर भी कहानी तो मैं लिख गया हूं, और कोई ऐसी कहानी भी बन गयी है, जिसे 'टेकनीक' में उत्तीर्ण समझा गया है। आलोचनाओं में अक्सर 'टेकनीक' की बातें पढ़ा करता हूं। जैसे कि मित्र ही पूछने लगे कि नाट्यकला की तौल पर मैं बताऊं कि उनका 'नाटक' कैसा तुलता है ?

सच यह है कि कहानी, नाटक, उपन्यास (और मैं तो कहूंगा कविता भी) तौलने के लिए मेरे पास अलग तराजू और अलग बांट नही हैं। और इधर आकर मेरी इच्छा होने लगी है कि आलोचक-गण उन पक्के बांटों से और उस 'धर्मतुला' पर साहित्य की हर चीज को तोलें, जो अचूक है और जिसे हर जिन्स के साथ बदलना नहीं पड़ता है।

इस लिहाज से वह सब आलोचना जो वस्तु के आकार-प्रकार में उलझ कर और अटक कर रह जाती है, और अंतर्गत रस की ओर से वस्तु में मूल्य-भेद करने की ओर नहीं बढ़ती है, मुझे अतृप्त छोड़ती है। मैं लाचार होता हूं कि कहूं कि वह उथली है और उस प्रकार का श्रेणि-विभाजन उलझन है।

अभी एक अनुभवी विद्वान् की हिन्दी काव्य-समीक्षा की एक पुस्तक निकली है। मैंने उसे देखा नहीं है, जहां-तहां उसके उद्धरण देखे हैं। उसमें भी आकार-प्रकारगत भेद निकाल कर तदनुसार कविता और कवियों में वर्गीकरण कर दिया गया है। अधिकांश हिन्दी आलोचना इस सस्ती प्रवृत्ति से छूटी नहीं है।

कुछ पहले आपके ही 'साहित्य-संदेश' में मैंने लिखा था कि हिन्दी में अब हमारे आलोचना के मानों को गहरे जाने की जरूरत है। शरीर की नाप-जोख हो, लेकिन उसी हद तक, जहां तक वह आत्मतत्त्व तक पहुंचने में सहायक हो। वह आलोचना जो शरीर का व्यवच्छेद करती और

उसी में गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, सफलता-असफलता का निर्णय देखती है, सच्ची नहीं है। पाण्डित्यपूर्ण तो वह हो सकती है, जीवन-संवर्द्धक वह नहीं हो सकती।

'प्रेमीजी' के 'स्वप्नभंग' के शुरू में शुक्लजी के कुछ शब्द उद्धृत थे। मैं उन शब्दों में से किसी एक पर भी कुछ नहीं कह सकता हूं। शायद वह सभी उचित हों। लेकिन यह मेरे मन में तो होता है कि क्या श्रीरामचन्द्र शुक्लजी भी अन्तरात्मा की ओर से साहित्य को कम परख कर उसके आकार-प्रकार से अधिक परखना चाहते हैं ? क्या वह साहित्य में इस प्रकार के वर्गीकरण को मान्य बनाना चाहते हैं ?

मैंने 'मित्र' को कहा कि मेरे पास साहित्य के लिए एक ही दृष्टि है और वह पाठक की दृष्टि है। नाटक देखूं, तब दर्शक की दृष्टि भी शायद मैं रख सकूं। लेकिन पाठक से अधिक ज्ञाता की दृष्टि मेरे पास नहीं है। और पाठक के लिहाज से मुझे यही समझने योग्य रहता है कि मन की किस गहराई में जाकर मेरी सहानुभूति का सम्बन्ध पुस्तक के पात्रों के साथ स्थिर हो सका है। पात्र के और घटनाओं के वैचित्र्य पर मैं सहम सकता हूं, लेकिन अभिन्नता तो व्यथा की वेदना के साथ होती है। इसलिए रसग्राही पाठक की हैसियत से मुझे यही देखना रह जाता है कि पात्र की कितनी गहरी व्यथा मुझ तक पहुंचाई गयी है, अर्थात् स्वयं मेरा कितना गहरा मर्म उस पुस्तक से छिड़ सका है।

नाटक एकदम बोलचाल की भाषा में हो तो मुझे क्या ? गीत अच्छे हों या छंद के लिहाज से बुरे भी हों तो मुझे क्या ? इसी तरह और ऊपरी बातें भी मुझे अपने से दूर की लगती हैं। नमूने से नाप कर नाटक मैं नहीं देखता, नहीं देखना चाहता। यह तो सुविज्ञ का काम है। मैं सीधा-सादा पाठक हूँ और अधिक नहीं होना चाहता। इसमें मैं तो उसे अपना दर्पण देखना चाहता हूँ। मेरे ही मनोभाव उसमें जितने स्पष्ट और गहरे अंकित दीखें उतनी ही मुझे तृप्ति है। उतना ही मुझे कृतज्ञता का कारण

है। उससे अतिरिक्त नाटक की सफलता-असफलता मेरे निकट नगण्य है।

ठीक बात है। स्टेज पारसी हो कि बंगाली हो, वह कसौटी नहीं है। रवीन्द्र के लिए और गेटे के लिए खास धरातल का स्टेज हो सकता है। अगर उस धरातल तक स्टेज नहीं पहुँच पाता, तो गेटे और रवीन्द्र के लिए यह कोई कलंक की बात नहीं है।

असली कसौटी मन का स्टेज है और देखना यह है कि किताब के पन्नों पर चलने वाली मूर्तियाँ मन में कितनी गहरी पहुँच कर किस स्थायी भाव से वहाँ चलती-फिरती रहती हैं।

यह बात जैसी नाटक के विषय में वैसी कहानी और उपन्यास तथा कविता के भी विषय में मान ली जाय।

जरूरत है कि हम ऐसे पक्के और असली मान आलोचना के पाएँ और उन्हीं के आधार पर आलोचना-व्यापार चलाएं जो रस-ग्रहण और रस-निरूपण में सहायक हों और व्यर्थताओं के बंधन से छुटकारा दें। अन्वय द्वारा जो समन्वय की ओर हमें गति दें। हमें समन्वयशील आलोचन-मानों (Synthetic Critical Values) का विकास करना होगा जो अन्तःकरण की ओर से विश्वसनीय और सच्चे हों।

: २२ :

छायावाद का भविष्य

अभी कालिज के विद्यार्थियों के बीच जाना हुआ था। वहाँ हिन्दी पढ़ायी जाती थी और विद्यार्थियों ने कुछ ऐसे प्रश्न किये जो मेरी आशा से बाहर थे। उन्हीं में से कुछ प्रश्नों को यहाँ लेता हूं।

१—छायावाद का भविष्य क्या है ?

२—कला क्या उपयोगी होने के लिए नहीं है ?

३—भाषा के विषय में क्या ध्यान रखना चाहिए ?

४—कहानी का महत्व क्या है ? और उसका लक्षण क्या है ?

५—कहानी और कविता में सम्बन्ध है ? है, तो क्या ?

प्रश्न और भी थे लेकिन इस बार मैं 'साहित्य-सन्देश' के पाठकों का ध्यान पहले प्रश्न की ओर आकर्षित करूंगा।

पहले प्रश्न के उत्तर में मैंने कह दिया कि भविष्य को जानने की जरूरत नहीं है। वह अज्ञेय है इसी में उसका रस है। भविष्य होता नहीं है, उसका हमें निर्माण करना होता है। यही हमारी मनुष्यता है। भविष्य जान जाएं तो वर्तमान के प्रति हमारी तत्परता शिथिल हो जाय। इससे भविष्य की बात मैं नहीं जानता हूं, नहीं जानना चाहता हूं। लोग हैं जो भविष्य की तस्वीर उतारते हैं। पर वह तस्वीर भविष्य की नहीं होती, उनकी अभिलाषाओं की होती है। इसी से ऐसे चित्र Utopia कहलाते हैं। उनमें अपने मन की ही साध पूरी की जाती है। लोग उनसे बहल जाएं, पर किसी यथार्थता का बोध उनसे नहीं जागता।

यानी छायावाद के प्रति मेरी रुचि-अरुचि ही मेरे भविष्यानुमान में

व्यक्त होगी। व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के आधार पर किसी वस्तु को तोल फेंकना ठीक नहीं। अतः मैं भविष्य को भविष्य यानी अज्ञेय रहने दूंगा।

भविष्य से अलग होकर छायावाद को समझूं तो पहला प्रश्न मन में यह होता है कि छायावाद किसी वस्तु का नाम ही क्यों पड़ा ?

स्पष्ट है कि जिसने वह नाम दिया उसे उसमें असलियत की और ठोसपन की कुछ कमी मालूम हुई होगी। मुझ से मेरी छाया कम वास्तव है। इसीलिए वह मैं नहीं हूं, वह मेरी छाया है। छाया शब्द में ही असलियत के किसी कदर अभाव का बोध अनिवार्यता से समाया हुआ है।

अर्थात् देने वाले की ओर से छायावाद नामक विशेषण थोड़ा-बहुत अभाव-सूचक और नकारात्मक रहा होगा।

वह विशेषण एक बार सामने आने पर सहज भाव से अपना लिया गया, इसी से यह सिद्ध है कि वैसे कुछ अभाव का बोध जन-सामान्य में भी उस सम्बन्ध में अनुभव होता होगा। अन्यथा वह पद इस भांति आम प्रचार में न आजाता। जैसे वह शब्द पाठकों के मन की ही अनकही बात कह देता हो। ऐसा था, तभी छायावाद शब्द उतनी बहुलता से चल सका।

जो उस प्रकार की कविता करते थे उन्होंने भी उस अभाव-सूचक शब्द को अपने सम्बन्ध में सहज स्वीकार कर लिया। यह कुछ अचरज की बात हो सकती है, लेकिन बड़े महत्त्व की बात है। और मैं मानता हूं कि इस स्वीकृति के मूल में, चाहे वह अनजान में ही हो, उन कवियों के मन के गहरे में उस कविता के विषय में एक अभाव-जनित भाव था।

छायावाद विशेषण से जिस एक आधुनिक हिन्दी कविता-धारा का सामान्यता से बोध होता है, मैं मानता हूं कि अभाव उसकी विशेषता है और किसी प्रबल सद्भाव का बल उसमें ध्वनित नहीं होता है।

अभाव स्थायी वस्तु नहीं है। स्थायी सद्भाव है। छाया में प्रत्यक्ष का, स्थूल का अभाव है। नतीजा यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष और स्थूल ऐसे उभार में आवें कि सूक्ष्म का ध्यान उसके नीचे दब जाए।

और आज हिन्दी कविता के क्षेत्र में यह परिणाम आ गया है। अनन्त की रागिनी की जगह देह की मांसलता की प्रतिष्ठा की जाने लगी है। नहीं चाहिए अब कवियों को हृत्तन्त्री की मूर्च्छना, अब तो भुज-बन्धनों में गाढ़ालिङ्गन की उन्हें जरूरत मालूम होती है।

छायावाद छायामय है, इसीलिए उस में से कायामय कायावाद का उदय होगा और हो रहा है। बहुत अधिक आत्मा की गाओगे और शरीर को भूल जाओगे, अनन्त के इतने हो चलोगे कि ऐहिक किञ्चित भी न रह जाओ—तो इसका परिणाम सिवा इसके क्या होगा कि ऐहिकता उच्छृङ्खल हो जाए और शरीर आत्मा की प्रभुता को इन्कार करके उन्मत्त लास्य की इच्छा करने लग जाय।

छायावाद में अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए मानों एक Cult (इष्ट) ही हो गया। आंसू मानो छिपाने की चीज नहीं सजाने की वस्तु हो चला। व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना संजोई जाकर बल बनती, वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छाया मात्र रह गयी।

यह सब मैंने उन कालिज के विद्यार्थियों को कहा। लेकिन यह भी कहा कि कविता को किसी वाद से मत देखो, स्वयं कवि की ओर से देखो। अर्थात् रस चाहते हो तो किसी धारा या श्रेणी में बिठा कर किसी कवि को पढ़ने की जरूरत नहीं है। समझो कि कवि अपने को व्यक्त करता है, वह कोई वादी नहीं है, वह केवल स्वयं है। ऐसी हालत में प्रश्न अति सामान्य न होकर विशिष्ट बन आएगा और तब छायावाद की चर्चा न होगी, प्रसाद, निराला और पन्त की चर्चा हो सकेगी। अच्छा यही

है कि प्रश्न को विशिष्ट से आगे सामान्य नहीं बनाया जावे और कवियों को अपनी निजता में पढ़ते हुए छायावाद की याद हम भूल जाएं। भविष्य में वादों की वादिता नहीं रहने वाली है, उनका सार मात्र ही रह जायगा और उस लिहाज से छायावाद एक फैशन है जो जाने के लिए आया है।

: २३ :

गद्य-विकास और कथा उपन्यास

भाषा का उद्गम समाज के आरम्भ के साथ मानना चाहिये। इससे गद्य को उसी दिशा में विकसित होना है जिधर समाज के आदर्श की प्रतिष्ठा है। मनुष्य को ही भाषा प्राप्त हुई है, पशु-पक्षियों को नहीं। इससे स्पष्ट है कि भाषा जीवन-विकास के प्रयोजन में से आई है। उस विकास के लक्ष्य को परस्पर में एकता की प्राप्ति कहा जा सकता है। अतः भाषा का उत्कर्ष इसमें है कि मनुष्य अपनी निजता उसमें इस तरह उतारे कि उसके द्वारा वह शेष से तत्सम हो सके। आपस के आदान-प्रदान की आवश्यकता में से उत्पन्न होकर जीवन की भाषा धीरे-धीरे परस्पर सहानुभूति को इतना व्याप्त और सघन करती जा रही है कि एक दिन हम सब आपसी भाव में एक बन सकेंगे, यह असम्भव नहीं दीखता। यों तो भाषा में गाली भी है, लेकिन वह भाषा की शोभा या सार्थकता नहीं है। साहित्य में उसके लिए स्थान नहीं है, और साहित्य में से भाषा अपनी सहज श्री और सफलता प्राप्त करती है। कारण, साहित्य किसी एक की निजता को चहका कर दूसरे की अस्मिता को दबाता नहीं है। प्रत्युत सब की अहन्ताओं को गला कर उन्हें मिलाने का प्रयास करता है।

इतर प्राणियों को वाचा प्राप्त नहीं है, सो नहीं। आवाजें वे भी करते हैं। कह सकते हैं कि वे बोलते भी हैं। लेकिन उनकी बोली भाषा नहीं होती, उसमें शब्द और अर्थ नहीं होते। उस बोली द्वारा नाना प्रकार से वे अपनी वासनाएं ही एक दूसरे पर प्रकट करते हैं। वासना वैयक्तिक है, उससे समाज नहीं बनता। शब्द और अर्थ निर्वैयक्तिक हैं।

भोग से बाहर इतर सम्बन्धों में उनका उपयोग है। शब्दों में बंधी उन धारणाओं से समाज बनता और थमता है। वे शब्द परस्परता के सूचक हैं। इससे माना जा सकता है कि भाषा की सृष्टि उस स्थल पर हुई कि जब प्राणी निजता की वासना से उठ कर परस्परता की भावना के तट तक आया।

भाषा के उदय के साथ ही साहित्य नहीं उपज आया होगा। निश्चय ही प्रथमतः भाषा का प्रयोग काम-काज में होता रहा होगा। काम-काज वह कि जहां शब्द अपने अर्थ का ही बोध देता है। शुरू की भाषा में क्रिया-पद के साथ केवल वस्तु-वाचक संज्ञायें ही रही होंगी। भाव-वाचक शब्द काफी पीछे मनुष्य ने रचे होंगे। साहित्य के जन्म का काल स्यात् वहीं से आरम्भ हुआ माना जा सकता है।

अर्थात् सुन्दर गद्य का सौन्दर्य शब्दार्थ में नहीं होता। शब्द के अर्थ तक जो रहता है, अधिकांश वह गद्य विचारणीय नहीं बनता। रोजमर्रा की बोल-चाल की बात को कौन मन तक लेता है ? बोलचाल की भाषा यों कम महत्वपूर्ण है सो नहीं, पर महत्व उसमें तब पड़ता है जब उसके द्वारा बात नहीं, व्यक्ति समक्ष आता है। यानी जब बोली गई भाषा का सम्बन्ध किसी के निरे सीमित प्रयोजन से नहीं बल्कि मानव-स्वभाव की ही व्यंजना से होता है। उपन्यास और कहानी में किसी पात्र के मुंह से निकली अशिष्ट भाषा भी, हो सकता है कि, जुगुप्सा नहीं अपितु आनन्द की अनुभूति दे। कारण, उस प्रकार की भाषा के ऊपर से कुल मिलाकर जो भाव वहां से प्राप्त होगा वह उदात्त और सुन्दर है। इसी से कहते हैं कि साहित्य की भाषा कभी सीधे नहीं सदा व्यंजना द्वारा ही अपना अभिप्राय देती है। यों भी कह सकते हैं कि वहां भाषा कह कर इतना नहीं कहती जितना अनकहा छोड़ कर कहती है। संक्षेप में साहित्य की भाषा की शक्ति मौखर्य न होकर मौन है। व्यक्ति की स्पर्द्धा नहीं बल्कि व्यथा उसकी शक्ति है।

हिन्दी गद्य के विकास में, जैसे कि मेरी धारणा है इतर भाषाओं के विकास में भी, यह गति देखी जा सकती है। सफलता के लिए हर गद्य को वाग्मिता से सरलता और बनावट से सहजता की ओर बढ़ना होता है। ज्ञान से जीवन की ओर, या कहिये कि पाठशाला के अनुशासन से घर के घरेलूपन की ओर, उसे आना होता है। और गद्य की इस इष्ट प्रगति का दायित्व सर्वाधिक कहानी और उपन्यास पर है, यह कहने में अत्युक्ति नहीं है।

काव्य की भाषा इतनी आगे जा सकती है कि उसका भाव ध्वनि में से सीधे मिले और बीच में से अर्थ का लगभग लोप ही हो जाये। ध्वनि और छन्द की लय में अर्थहीनता और निरर्थकता तक पहुंची हुई कविता के उदाहरण मिल सकते है। कविता गद्य में हो नहीं सकती सो नहीं। गद्य-काव्य अर्थ-मर्यादा को लांघ कर लय की लीनता में ही अपनी कृतार्थता देखने तक बढ़ सकता है। नाटक की भाषा में भी भाव और अर्थ का ऐक्य उतना अनिवार्य नहीं है। भाव तक पहुंचने के लिए वहां आंख के उपयोग की सुविधा है। अभिनय के माध्यम से नाटक का भाव मूर्त होता है। इसलिए हो सकता है कि अभिनय के अभाव में केवल भाषा द्वारा नाटक का मूल भाव प्रत्यक्ष न भी हो। पर कहानी-उपन्यास में भाषा सिर्फ अर्थ देकर सार्थक नहीं हो सकती। भाव को भी उसे युगपत् चित्रित और जागृत करते जाना होगा। इस आवश्यकता में से कहानी एक ऐसी कला बनती जा रही है जिसे सिद्ध करना मुश्किल है। बोधतत्व और चित्तत्व का समीचीन समन्वय-साधन परम दुर्वह कार्य है। उसमें बुद्धि के लिए अपने सहज दर्प का परिहार करना अपरिहार्य होता है। हृदय के सहज रागों में बुद्धि की विश्लेषणशीलता का सन्निवेश हंसी खेल का काम नहीं है।

बहुत ज्यादा जानकारियों और खबरों से लदकर, या आत्यन्तिक निश्चिति पहन कर, भाषा लहरीली कैसे रहेगी ? और जीवन कायदा-

कानून का लवादा ओढ़कर निस्पंद कभी नहीं हो पायगा। ऐसे निस्पंद हो रहने वाली चीज तो मृत्यु है। लहराना जीवन का धर्म है। परिणामतः हम देखते हैं कि ज्ञान-गरिमा से युक्त भाषा उत्कृष्ट कहानी का साथ नहीं दे पाती है, जैसे कि वह समर्थ जीवन को भी ढंक नहीं पाती है।

विद्वान् का गद्य इतना गरिष्ट होता है कि वेग की संभावना वहां क्षीण हो रहती है। पर लेखन के लिये लाचारी है कि वह ठोस और दुरुस्त चाहे कम भी हो, पर वेगवान और गतिशील अवश्य ही हो। निश्चय ही वेग उच्छृङ्खल होकर कहानी के प्रभाव को कम ही कर सकता है। कारण, उच्छृङ्खलता वह है जहां भाव की तेजी अर्थ की मर्यादा को पीछे छोड़ रहती और भावना की निर्वैयक्तिकता वासना की निजता बन रहती है। भावना जब कि व्यक्ति को व्यापक करती है तब वासना उसे सीमित बनाती है। उससे सहानुभूति पर सीमा चढ़ती है और पाठक प्रभावित होने से अधिक चमत्कृत होकर रह जाता है। आवश्यक है कि गद्य अपने उत्कर्ष में स्थूल से सूक्ष्म के आकलन की ओर बढ़े। कारण, जीवन की यही गति है। आलम्बन तो सदा ही स्थूल होगा, अन्यथा हो नहीं सकता। किन्तु आकलन उत्तरोत्तर सूक्ष्म का हो इसी में भाषा का विकास समाया है।

सूक्ष्म अपेक्षाकृत अव्यक्त है, वह रूप और वर्ण से अतीत है। एक शब्द में उसका गुण निर्गुणता है। मेरी मान्यता है कि भाषा की श्रेष्ठता का भी सबसे बड़ा लक्षण यह निर्गुणता ही है। भाषा मानो स्वयं में कुछ रहे ही नहीं, केवल भाव की अभिव्यक्ति के लिये हो। भाव के साथ इतनी वह तद्गत हो कि तनिक भी न कहा जा सके कि भाव उसके आश्रित है। अर्थात् भाव उसमें से पाठक को ऐसा सीधा मिले कि बीच में होने के लिये कहीं भाषा का अस्तित्व रहा है यह तक उसे न अनुभव हो।

अब तक जो कहा उसमें काल की अपेक्षा नहीं है। विकास को काल

की अपेक्षा में देखने में मैं असमर्थ रहता हूं। जो इतिहास के क्रम से देखा जाता है वह दूसरे प्रकार का विकास हो सकता है। राजनीतिक और सामाजिक वह होता हो तो मुझे आपत्ति नहीं। लेकिन साहित्य म व्यास और कालिदास को केवल इस कारण अविकसित माना जाय कि वह आज के सन् १९५० ईसवी से कुछ सैंकड़ा या कुछ हजार वर्ष पहले हुए, यह तर्क मेरे मन नहीं उतरता है। अर्थात् भाषा समय के अनुसार चाहे अदलती-बदलती जाये, गद्य की शैली का विकास काल क्रम के अनुसार मैं नहीं देख पाता हूं। प्रेमचन्द की शैली आज के दिन के लिये इसलिये झूठी है कि वह स्वयं व्यतीत हो चुके हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। अर्थात् साहित्य में गद्य के विकास का मान लेखक के मनोभावों के उत्कर्ष की दृष्टि से देखना होगा। कदाचित् गद्य को यह उसकी आत्मा की ओर से देखना माना जाए। पर मेरी दृष्टि से वह दृष्टि उचित ही है क्योंकि वह गुणापेक्षी है।

लेकिन हो सकता है कि उस शीर्षक के नीचे मुझसे कुछ दूसरी बातें सुनने की भी अपेक्षा हो। कुछ वह बातें जिनका सम्बन्ध काल क्रमागत इतिहास से हो।

हिन्दी अब भारत की राजभाषा है। अब कहने से मतलब कि कानूनन ऐसा है। प्रकृत में तो हम उसको राष्ट्र भाषा भी कह सकते हैं। कारण, अंग्रेजी, जिसके माध्यम से अभी तक भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोग अपना मिला-जुला काम-काज चलाते रहे हैं, राष्ट्र की भाषा नहीं है, और न हो सकती है। उसके अभाव में हिन्दी के सिवाय दूसरी क्या भाषा राष्ट्रीय कही जा सकती है? या तो ऐसा कहो कि हिन्द कोई राष्ट्र ही नहीं है। पर राष्ट्र हो और उसकी भाषा न हो, यह तो नहीं हो सकता। ऊपर से ऐसा इस कारण लगता है कि भारत का जीवन कट-फट गया है। ऊपर का ऊपर है, नीचे का नीचे, और दोनों अलग हैं। नीचे तो राष्ट्रभाषा बिना बनाये बनती ही गई है। जीवन के तर्क में से

अनिवार्य और अमोघ रूप से उसका निर्माण निरन्तर जारी ही रहा है। इस भाषा को जैसे हिन्दी वैसे हिन्दुस्तानी कहा जा सकता है। उसमें सब तरफ के प्रभाव, शब्द, शैली और व्यक्ति आ रहे हैं। हिन्दी के लेखक अब केवल उत्तर प्रदेश से ही नहीं आते, इतर प्रान्तों से भी बड़े मजे में चले आते हैं। हिन्दी गद्य की शैली पर इसका खूब असर है। जान पड़ता है कि एक अराजकता ही फैली है और शुद्ध हिन्दी और अशुद्ध हिन्दी में विवेक बढ़ाने वाली पुस्तकें और संस्थायें भी बन और चल निकली हैं। वह जो हो, हिन्दी गद्य इन चारों ओर से आने वाले प्रभावों से अस्पृष्ट नहीं रह सकता। अनिवार्य है कि वह भारत के समन्वित जीवन को व्यक्त करने के लिये इन प्रभावों को आत्मसात् करके यथेष्ट सामर्थ्य सम्पादन करे। कहानी और उपन्यासकारों में अपनी गद्य की विशिष्ट शैली के लिये जिनके नाम लिए जा सकते हैं, वे दूर-दूर फैले हुए हैं। उनकी न एक जाति है, न एक धर्म, न समान उनकी अपनी निजी बोली है। किसी के घर भोजपुरी बोली जाती है, कहीं पंजाबी कहीं बुन्देली, कही ब्रज इत्यादि। इन सभी प्रादेशिक बोलियों या भाषाओं का उन लेखकों के गद्य पर प्रभाव रहना अवश्यम्भावी ही है। इस तरह हिन्दी की गद्य शैली को किसी निश्चित परम्परा में बिठा कर बखान देना सम्भव नहीं है। सियारामशरण गुप्त और वृन्दावन लाल वर्मा के लिखने में बुन्देलखंडी शब्द और मुहाविरे आयेंगे तो निश्चय ही वे हिन्दी गद्य के अपने हो रहेंगे। अज्ञेय में अंग्रेजी की भरमार है, तो क्या किया जाय ? उस शैली में से अंग्रेजियत को खुरच कर अलग तो नहीं किया जा सकता। यशपाल संस्कृत के शब्दों को पंजाबी लिबास में पेश करेंगे तो संस्कृत की कितनी भी दुहाई देने से पाठकों का चाव उनके प्रति कम न होगा। जैनेन्द्र की गद्य की अशुद्धियों को स्वयं जैनेन्द्र की अशुद्धि मान कर उसे समाज बहिष्कृत रखा जा सकता है, पर उसके गद्य का क्या कीजियेगा ? यदि जैनेन्द्र स्वयं शुद्ध नहीं है, और अशुद्ध होकर भी हिन्दी लिखने या बोलने के सम्बन्ध में कानूनन उस पर कोई रोक थाम नहीं

डाली जा सकती है, तो सिवा इसके क्या उपाय है कि हिन्दी गद्य का विकास ऐसी अशुद्धियों को भी पेट में लेकर और रक्त में रमाकर बढ़ता ही चले।

इधर कुछ कृत्रिम गद्य भी पैदा हुआ है, यद्यपि वह उल्लेखनीय नहीं होना चाहिए। वह अमुक धारणाओं और आग्रहों के प्रतिपादन अथवा पूर्ति में हुआ है, जीवन की आवश्यकता एवं अनुभूति में से नहीं खिलकर आया है। हिन्दी कहीं 'हिन्दुस्तानी' न बन जाय, अथवा कि हिन्दी अवश्य 'हिन्दुस्तानी' प्रतीत हो—ऐसी अतिरिक्त चेतना रख कर भी जहां-तहां हिन्दी गद्य लिखा गया है। वह गद्य की शोभा अधिक बन सका है कि विडम्बना, इसके सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता नहीं है। राजनीति की ओर से लिए गए ऐसे मताग्रहों के अतिरिक्त कुछ और भी ग्रहीत मान्यतायें रही हैं जो भाषा पर सवार होकर उसके प्रवाह को रोकती या उस पर आरोप लाती गई हैं। उस सबके उदाहरण यहां देना आवश्यक नहीं है। यह गद्य ऊपर से शालीन और गंभीर होकर भी भीतर से पोच और पीला होकर रह गया है।

गद्य का वह विकास, जो हिन्दी के कथा साहित्य में से व्यक्त होता है, बतलाता है कि उसमें पालिश की कमी है, घिसा मंजा वह काफी नहीं है। उस किस्म की लोच और नजाकत उर्दू में खूब देखी जा सकती है। लेकिन हिन्दी की ओर से उस वास्तविकता पर अधिक खिन्न होने की आवश्यकता भी मैं अनुभव नहीं करता। जिस खूबी को मजलिसी कहा जा सकता है, जो दूसरे को रिझा कर इतनी खुश है कि उसको पाने की जरूरत उसके लिये फिर नहीं रहती है, उस मजलिसी खूबी के हक में हिन्दी गद्य को लानत देना मैं जरूरी नहीं समझता हूं न उस पर जरूरत से ज्यादा उर्दू की पीठ ठोकना ही मैं मुनासिब मानता हूं।

: २४ :

उपन्यास में वास्तविकता

कलकत्ते में गुजराती भाषा भाषियों का एक साहित्य-समाज है। हर पखवाड़े वे लोग मिलते हैं। इधर एक उपन्यास मिल-जुल कर पूरा किया जा रहा है। उसका आरम्भ एक सदस्य ने किया, अगला खण्ड दूसरे ने लिखा और सुनाया, इस तरह सात या आठ बार में वह उपन्यास पूरा होगा। और उतने ही व्यक्ति क्रमशः उसे आगे बढ़ायेंगे।

यह संवाद मुझे बहुत रुचिकर हुआ। देखा कि इससे सजीवता रहती है। ऐसे एक ही सूत्र के सहारे सब अलग रह कर भी एकत्र और अनुबद्ध होने का रस पाते हैं।

उस समाज में एक सदस्य ने पूछा कि उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए? यह सवाल इस ढंग से पहले सामने नहीं आया था। इससे अपने को टटोलने की जरूरत हुई।

वास्तविकता से मतलब इन्द्रियगम्य तथ्य ही न? जो हमें आँखों से दीखता है, स्पर्शादि से जान पड़ता है, और तर्क बुद्धि से मान्य होता है, उतना ही हमारे लिए वास्तव है।

स्पष्ट है कि हमारे वास्तव से आगे और परे भी कुछ तो है ही। उसे हम अवास्तव कह सकते हैं, पर क्या उसे असत्य भी कह सकते हैं? असत्य कहें तो जिन्दगी हमारे लिए व्यर्थ हो जानी चाहिए और भविष्य कुछ न रहना चाहिए। भविष्य, व्यतीत, उन्नति, विकास इत्यादि शब्द हैं तो इसका यही मतलब है कि वास्तव पर सत्य की सीमा नहीं है। वास्तव से परे भी सत्य है। इसलिए हमारे वास्तव की सीमा असल में हमारी ही सीमा है, सत्य तो असीम है।

अक्सर दो शब्द एक दूसरे के सामने यहाँ तक कि विरोध में रखकर देखे जाते हैं। वे हैं यथार्थ और आदर्श(The real & the ideal)। आदर्श यथार्थ में नहीं है, वह उससे बाहर होकर ही है । और यथार्थ आदर्श का निषेधक होने को लाचार है. क्योंकि उसके पास कोई साधन नहीं है कि अपन से परे.किसी अस्तित्व को वह जाने अथवा मान सके।

इस द्वैत के आधार पर दो दर्शन बने। एक वह जिसके लिए ब्रह्म ही सत्य और संसार सब माया है। वास्तव जो है झूठ है, और जिसका कोई प्रमाण नहीं, जो सब युक्तियों और साक्षियों से अतीत है, वह पर-ब्रह्म ही सत्य है। यह आध्यात्मिक दर्शन है।

दूसरा भौतिक दर्शन है। उसके लिए यह रूपाकारमय जगत् न केवल हैं, बल्कि वही है। इससे अतिरिक्त और भिन्न होकर किसी अज्ञेय तत्त्व को मानना वहाँ कोरा भ्रम और जड़ता है।

पहले के लिए जगत् स्वप्न है और ब्रह्म ही सत्य है। दूसरे के लिए जगत् सत्य है और आत्मा-परमात्मा वहम है।

इन दोनों के बीच की सचाई आँकने की ओर जाने की मेरी वृत्ति नहीं है । वह मेरा वश भी नहीं। व्यक्ति स्वभावानुसार वरतता है। मौखिक चर्चा-विवाद से अदलता-बदलता कोई विरला ही होगा। अक्सर चर्चाएँ आवर्त-चक्र ही रचती हैं और हर पक्ष को अपने माने हुए सत्य के आचरण से दूर डालती हैं।

भक्त अपनी भक्ति से अपनी मूर्त्ति बना लेता है। मूर्त्ति का सत्य भक्त का आत्मार्पण है। उपासक के स्वार्पण से अलग होकर मूर्त्ति पत्थर है। इसीलिए नास्ति को दृढता से मानने वाला नास्तिक परम आस्तिक की भाँति व्यवहार करता दीखता है। और जिनके जीवन में तत्परता नहीं ऐसे अनेक आस्तिक जन नास्तिक आचरण करते देखे ही जाते हैं। नास्तिक शहीद हो गये हैं और आस्तिक कलदार बटोरने में लगे हुए हैं।

इससे प्रश्न यह मानने अथवा वह मानने का नहीं, बल्कि जो मानो तो उसे पूरी सच्चाई और तत्परता से मानने का ही है। सच्चा भक्त शून्य की उपासना से भी फल पा जाएगा। जबकि उपासना ही शंकित हो तो कोई उपास्य उपासक को तार नहीं सकेगा।

इसलिए केवल बौद्धिक धारणाओं को छोड़ दिया जाय। बौद्धिक प्रयोजन ही उनसे सध सकता है, जीवन का कुछ काम नहीं निकल सकता। एक धारणा दूसरी धारणा से अपने आप में गलत या सही नहीं होती। उसे मानने वाले के जीवन की सच्चाई अथवा झुठाई की अपेक्षा ही उन धारणाओं में सत्यता या मिथ्यात्व आता है।

पर हमें तो यहाँ उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए—इसी बात से मतलब है।

इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास से हम क्या चाहते हैं—यह जानें। उपन्यास से क्या हम गति चाहते हैं? उत्कर्ष चाहते हैं? क्या हम उसे व्यक्तिगत और लोक-जीवन के विकास का साधन बनाना चाहते हैं?

या यह हम उससे नहीं चाहते? तो क्या सामाजिक धरातल की स्थिति-पोषक वस्तु चाहते हैं? यानी खबरें चाहते हैं? अनुरंजन चाहते हैं? अपने परिचय की विस्तृति चाहते हैं?

उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि वह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की नहीं। पीठ की ओर से धक्का दीजिए तो उसमें व्यक्ति आगे की ओर बढ़ता तो जरूर है, पर बिगड़ता भी बहुत है। तीव्र और आकस्मिक धक्के हों तो औंधे गिरने की सम्भावना है। इसीलिए गति को चैतन्य के अर्थ में कहा। अर्थात् आगे के रास्ते को साफ-साफ आँखों में उँगली डाल कर बताने वाला

उपन्यास उपन्यास नहीं और साहित्य साहित्य नहीं । गति की सेवा उपन्यास इस पद्धति से नहीं करता । जिसे इस ओर लोभ हो उसको फिर प्रचार-वादी साहित्य [Propagandist literature] कहना होगा। प्रोपेगेंडा बढ़ाता है, गति देता है, लेकिन परिणाम में उससे प्रतिक्रिया भी होती है । इसीसे सत्साहित्य से प्रचार-साहित्य कहीं गर्वीला होता है, अधिक प्रभविष्णु और कुछ अधिक स्पष्ट भी मालूम होता है । क्योंकि तरह-तरह की मान्यताओं के बीच सबको गिराकर किसी एक को प्रतिष्ठित करने की चुनौती की चमक उसमें है। सत्साहित्य में वह आवेश नहीं । उसमें नम्रता की लचक है । उसे तो समभाव और सहानुभूति का प्रसार करना है न । अतः, विग्रह में जो एक गर्मी और तेजी होती है, वह उसे नहीं चाहिए । विग्रही भाव गमक तथा चमक ले आता हो और प्रभाव को तात्कालिक भी बना देता हो, फिर भी साहित्य उससे लाभ नहीं उठाता । क्योंकि सच पूछिए तो यह प्रभाव एक प्रकार के अहंकार के उत्तेजन से आने के कारण स्थायी नहीं होता ।

तब रह जाती है वह गति जो आदमी उत्तेजनावश नहीं, बल्कि स्वतः स्फूर्ति से करता है। उस गति का वह स्वयं स्वामी होता है। साहित्य को वही गति इष्ट है । अर्थात् साहित्य चैतन्य को ही उद्बोधन पहुँचाता है । उस उद्बोधन के प्रकाश में, अपनी परिस्थितियों की अपेक्षा, व्यक्ति फिर स्वयं अपना मार्ग पाता और उस पर बढ़ चलता है । सब के लिए एक रास्ता तो नहीं है; क्योंकि सब एक जगह नहीं हैं। पर साहित्य सब के लिए है । अतः, साहित्य उन दिशाओं से संबंध नहीं रखता जो परस्पर विपरीत हो सकती हैं, बल्कि उसका उस चैतन्य के विकास से संबंध है जो किसी भी दिशा में गति करने की सामर्थ्य को समृद्ध करता है । इसी से बाहरी बातों में साहित्य की रुचि-अरुचि तनिक भी बँटी हुई नहीं देखी जाती ।

जीवन की गति को इस प्रकार चहुं ओर प्रवृत्त करने का काम

साहित्य से अनायास संपन्न होता है। कारण वह व्यक्ति के अंतश्चैतन्य को तीव्र करता है। दृष्टि-गोचर होने वाले सब जगद्-व्यापार वास्तव में उसी भीतरी प्राणों की अभिव्यक्ति होने के कारण स्वयमेव साहित्य के बल से मुखरित और उद्भासित होते हैं।

यही कारण है कि साहित्य गति देते हुए भी स्थिति का भंग नहीं करता। उससे गति को वेग मिलता है तब स्थिति को समर्थन भी प्राप्त होता है। दुनिया में स्थिति पालक और सुधारक नाम के दो पक्ष परस्पर समक्ष खड़े होकर एक दूसरे को ललकारते देखे जाते हैं। साहित्य दोनों के लिए सहारा है। देखा जाता है कि जिन शास्त्रों को लेकर पुराणवादी अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं, अधुनातनवादी भी अपने समर्थन में उन्हीं शास्त्रों का प्रमाण देते हैं। बेशक उन दोनों के हाथों शास्त्र का अपलाप होता है। तो भी यह शास्त्र का गुण है कि उसमें दोनों को अपना-अपना अभिमत समर्थित दिखायी दे। इस विशेषता के कारण शास्त्र को निकम्मा ठहरा सकते हो, तो भी वह ऐकान्तिक नहीं है। एक वर्ग या एक पक्ष को दूसरे की तुलना में नीचा या गलत बतलाने का सीधा काम शास्त्र या साहित्य नहीं करेगा।

कर्म-पक्ष के लोगों में साहित्य तथा शास्त्र के लिए जो उपेक्षा और अवहेला देखी जाती है उसका कारण भी यही है। राज-नीति भेद पर चलती है। एक की विजय वहाँ दूसरे की पराजय पर ही होती है। शक्ति-संपादन की पद्धति ही कुछ ऐसी है। पड़ोसी अपेक्षाकृत निर्धन न हो, तब तक धन में सुख कहाँ ? दायें-बायें करोड़पति हों तो अपने लाख में लखपति को संतोष किसी तरह न हो सकेगा। कर्म-संकुल सतह पर जो एक फेन दिखायी देता है, वह यही है। अहंकारों का एक घमसान चल रहा है। सब बढ़ाबढ़ी में लगे हैं। नौ को पीछे डाल जो दसवां आगे दीख सकता है, वही कुछ है। पर चूंकि कोई ग्यारहवां उससे आगे है

इससे नों की पराजय में उसे संतोष नहीं रहता। सांसारिक गति इसी परस्पर की स्पर्धा से उत्तेजना पाकर आवेगमयी दीखती है।

पर वह भ्रमित गति है। वह कहीं पहुंचाती नहीं, भरमाती ही है। मुक्ति उससे पास नहीं आती, जगजाल ही बढ़ता है। यद्यपि इस तरह संसार में चकराता प्राणी प्रतिक्षण अपने को चलता हुआ अनुभव करता है, पर जरा सोचे तो देख पाये कि वह कोल्हू के बैल की तरह से चलता हुआ भी वहीं का वहीं है।

इसी कारण यह कह कर भी कि उपन्यास का इष्ट गति है, यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि इस गति का सम्बन्ध बाहरी किसी दिशा से नहीं है। स्थूल दृष्टि से कहें तो उपन्यास का लक्ष्य बाह्य गतियों को मन्द करना भी कहा जा सकता है। वासनाओं के वशीभूत होकर जो अहंकृत दौड़-धूप की जा रही है, उपन्यास उसकी तो व्यर्थता ही प्रगटाता है। एक आदमी ने जिन्दगी के तीस-चालीस बरस बिताकर इस दुनिया में खूब रुपया बनाया और इज्जत बनायी। आस-पास के लोग उसकी उन्नति पर चकित हैं। पर उपन्यास तो उसे इन्सानियत के तराजू पर ही तौल कर बतलायेगा। तब बिलकुल सम्भव है कि जगत् में जो लखपति होने के कारण आपकी आकांक्षा का विषय था, उपन्यास में इन्सानियत में दिवालिया होने के कारण वही आपकी करुणा का पात्र बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट रहे कि गति-विरोधी स्थिति का समर्थन भी उपन्यास में नहीं है। मात्र स्थिति जड़ता है। पत्थर, सौ दो सौ पांच सा वर्ष हो जायंगे, वैसा का वैसा ही पत्थर रहेगा। इसी से तो वह पत्थर यानी जड़ है। आदमी पैदा होगा और बढ़ेगा। वह क्षण-क्षण बदलेगा। यहाँ तक कि गिनती के पचास-साठ-सौ सालों के निरंतर परिणमन के बाद उसकी चरम परिणति होगी, मृत्यु। इस मृत्यु के कारण ही वह सजीव है। जो मर नहीं सकता, वह जीवित भी नहीं है। फूल आज

खिला है, कल मुर्झा जायगा। वह मुर्झाने की शक्ति ही फूल की असलियत है। नहीं तो दो साल से कागज़ी-फूलों का गुलदस्ता ज्यों का त्यों मेरे आले में रखा है। जो है उससे वह कुछ भी और नहीं हो सकता। इसी से वह फूल नहीं है, छल है। सच्चाई उसमें नहीं है, सिर्फ कला उसमें है।

इस ढंग से देख सकते हैं कि मात्र स्थिति सदोष है। चैतन्य को प्रबुद्ध और गहन करने की वृत्ति जिस उपन्यास में नहीं है और जो सिर्फ मनोरंजन करता है, वह स्थिति-तुष्टि देता है। स्थिति-तुष्टि तामसिक है। इसलिए स्थिति के प्रति एक प्रकार का असंतोष तो साहित्य के फल-स्वरूप व्यक्ति में जागना ही चाहिए। केवल मनोरंजन से असंतोष उल्टे सोता है। अनुरंजन साहित्य की शर्त तो है, क्योंकि नीरस कोई वस्तु हमारी वृत्तियों की जड़ों तक नहीं पहुंच सकती। नीरस तत्त्व-शास्त्र से हमारी चेतना का संस्कार नहीं होगा। यदि हमारी सद्वृत्तियों को चेताने वाला कोई प्रभाव होगा तो वह हमें थकाने और उकताने वाला नहीं हो सकता। जरूर वह प्रभाव बौद्धिक से गहरे तल तक जानेवाला होना चाहिए। रस वह है जो बुद्धि के स्तर पर चुक नहीं जाता, वह उससे नीचे के स्तरों को भी छूता और भिगोता है। इसी से शास्त्र निरे प्रति-पादन नहीं है, वरन् उन में प्रसाद है, ऋत है, ऋजुता है, और वर्णन का सौन्दर्य भी है।

इस प्रकार उपन्यास स्थिति से परिबद्ध नहीं होना चाहिए। स्थिति का भंग उसमें इष्ट हो सो नहीं। समाज की रीति-नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रांतिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य का नहीं हो सकता। क्योंकि स्थिति उखड़ी तो गति ही औंधी गिरी। क्रांति इस तरह साहित्य के निकट एक आलंकारिक [Romantic] शब्द से अधिक नहीं है। उसके पीछे चलना मृग-तृष्णा के पीछे भागना है। उसमें उपलब्धि नहीं है, सिर्फ तृष्णा है। पर आज की प्रचलित रीति-नीति में बन्द होकर

बैठना भी नहीं हो सकता। उसके प्रति आलोचना और अतृप्ति की वृत्ति जरूरी है। जिसमें यह नहीं वह उपन्यास अपना दायित्व पूरा नहीं करता।

इस जगह आरम्भ के प्रश्न को लिया जा सकता है। अगर उपन्यास जीवन के विकास-साधन के लिए है, तो वास्तविकता उसकी मर्यादा नहीं हो सकती। वास्तविकता का धरातल उठेगा उससे जो स्वयं उससे ऊंचा होगा। इससे उपन्यास को वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊंचे पर होना होगा। मैं मानता हूं कि यह आवश्यक है। उपन्यास वास्तविक होने के लिए नहीं है। वह वास्तविक होना नहीं चाहिए। वास्तविक होने की कोशिश करके वह अपने को निरर्थक ही कर सकता है। उपन्यास के पात्र भी यदि हम-आप की तरह डेढ़-डेढ़ दो-दो मन के होने लगेंगे तो इससे दुनिया का कुछ नहीं होगा। उनसे सच्चे अर्थ में हमें लाभ तो तभी कुछ होगा जब वे हमसे कम मांसल और अधिक मानसिक होंगे। उनमें आत्मा अधिक होगी और पंचभूत कम होगा। इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास के पीछे एक आदर्श की प्रेरणा हो। आदर्श की प्रेरणा को कोई रोमांटिक कहे तो मुझे आपत्ति नहीं। आसानी से मैं यह मान लूंगा कि उपन्यास के लिए रोमान्टिक-वृत्ति आवश्यक है। यानी वास्तविकता से परे, अलग, ऊंचे जानेवाली वृत्ति। उसे बचाव (Escape) तक कहा जाय तो मुझे भय नहीं। उस अर्थ में पलायन-वृत्ति भी उपन्यासकार में नितान्त आवश्यक है। जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है—फिर चाहे वह कितना भी बड़ा आदमी माना जाता हो—सफल उपन्यास नहीं लिख सकता। एक दम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, मिस्टिक हो। ज्ञात और वास्तविक के प्रति किंचित उपेक्षाशील वह हो सके और अज्ञात के प्रति उन्मुख। कर्तव्य के साथ वह कुछ स्वप्न भी रखता हो। जरूरी है कि स्वप्न के लिए वह वास्तव को बलिदान कर सकता हो। ऐसा नहीं, तो उपन्यास चित्र-विचित्र घटनाओं या पात्रों का

आकलन भर हो जायगा। यह स्वप्न-शील आदर्श-प्राणता न होने पर कितनी भी तत्व-चिंता अथवा मनः-समीक्षा का चातुर्य उपन्यास में डाला जाय, वह लोगों के मन को नहीं जीत सकेगा, न कोई, उत्कर्ष-साधन कर सकेगा।

इस दृष्टि से मैंने उन भाई को खुले कह दिया कि उपन्यास में वास्तविकता नहीं चाहिए। अब यह व्यक्ति के ऊपर है कि वह वास्तव से किस हद तक छुट्टी पा सकता है। असमर्थ व्यक्ति देवताओं की कथा नहीं लिख सकता। ऐसे असमर्थ को वास्तविकता की धरती नहीं छोड़नी चाहिए, पर जिसमें सामर्थ्य है और अपनी कल्पना के जोर से देवताओं को मनुष्य से भी अधिक प्रबल और प्रभावक रूप में चित्रित कर सकता है, वास्तविकता के नाम पर उसे इस काम से रोका नहीं जा सकेगा। हमको जानना चाहिए कि हम से अधिक हमारे देवता जीते हैं। उनकी आयु अधिक है, उनकी शक्ति अधिक है। केवल उनमें शरीर कम है। वे आदर्श-प्राण और भावनामय होने के कारण ही क्या अधिक सत्य नहीं हैं ? तुलसी से तुलसी के राम कहीं अधिक सत्य हैं। क्योंकि तुलसी इतिहास द्वारा खोजे और पहचाने जा सकते हैं, पर उनके राम के संबंध में तो ऐसा मालूम होता है कि उनके पिता दशरथ, माता कौशल्या और पत्नी सीता कथा-लोक के ही प्राणी हैं, स्थूल जगत् के हैं ही नहीं। राम अनैतिहासिक, अनाधिभौतिक हैं। लगभग वे पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। तभी तो वे इतने अधिक सत्य हैं कि आज हिन्दुस्तान का जीवन उनके नाम के विना चल ही नहीं सकता।

यहाँ वास्तव और सत्य के अन्तर को चीन्हना होगा। वास्तव है Fact, और सत्य Truth. उपन्यास सत्य की शोध है। उसकी लगन सत्य की दिशा में है। वास्तव (Factual) से उपन्यास आगे सत्य (Truth) की ओर गति करता है। अर्थात् वास्तव पर केवल उपन्यास के पैर चाहिएं। उसकी अभिलाषा वास्तव में नहीं हो सकती। उपन्यास

का हार्द सत्य है, केवल उसका शरीर वास्तव है। जीने के लिए बेशक शरीर चाहिए, पर वह आत्मा के मन्दिर के रूप में हो। अर्थात् शरीर आत्माभिव्यक्ति के साधन रूप में ही सह्य है। यों वह अपने आप में बाधा है। शरीर की अधिकता जीवन के उत्कर्ष को रोकती है। शरीर को जिसने लाड़ लड़ाया, वह जीवन में महत्व सम्पादन नहीं कर सका। इसी तरह वह उपन्यास जिसने जगत् के यथार्थ और वास्तव के आगे माथा झुकाया, उसी कारण हीन रह गया। सिर तो हवा में ही रहता है, हाँ, पैर जरूर धरती पर चाहिए।

इसलिए मैंने वहाँ उन भाई से कहा कि उपन्यास में वास्तविकता यथावश्यक से अधिक बिलकुल न होनी चाहिए। यथावश्यकता का कोई परिमाण नहीं, जितनी न्यून हो उतना भला। वह तो सिर्फ सत्य-प्रतीति को पाठक तक वहन करने के लिए है। वह वाहन है, उसकी पीठ पर अधिष्ठित होना चाहिए सत्य। उदाहरण और रूपक से नीति-शिक्षा और अध्यात्म-सार लोगों के हृदयों में डालना है। वह उदाहरण जितना अधिक आडम्बर से हीन हो और अपने समूचेपन में उस सार को ही व्यक्त करता हो, उतना ही श्रेष्ठ है। रूपक की अपनी सत्ता ही नहीं है। जो पात्र वहाँ सामने आते हैं, वे व्यक्ति नहीं व्यक्तिकरण हैं। वे प्रतीक भर हैं। सामाजिक मनुष्य के निकट सत्य-तत्व की प्रतीति पहुंचाने में सुविधा सामाजिक पात्रों को वाहन बना कर कथा रचने से होती है, इसलिए उसके चारों ओर सामाजिकता का वातावरण भी रचा जाता है। ताकि पाठक को ऐसा न लगे कि कुछ बताने के लिए मेरे आगे गढ़न्त गढ़ा जा रहा है। उसे ऐसा लगे कि यह सब कुछ उसके सामने किया नहीं जा रहा है, बल्कि सचमुच हो ही रहा है।

इसी में से यह परिणाम हाथ आता है कि रचनाकार को अपनी रचना के पीछे एकदम लुप्त रहना चाहिए। उसे अपनी ओर से कुछ नहीं कहना है। सारे पात्र उसी को तो कह रहे हैं। उनसे अलग होकर उप-

न्यास में यदि और कुछ कहा जाता है तो वह उपन्यास की श्रेष्ठता को नहीं बढ़ाता, किंचित् उसको ऋण ही करता है। पात्रों का कार्यकलाप ही बस है। उस द्वार के अतिरिक्त जैसे लेखक स्वयं पाठक के हाथ में आने को उद्यत नहीं। कला की इस आवश्यकता के कारण सामाजिक उपन्यास के बाह्य रूप को बेशक अत्यन्त वास्तविक होकर सामने आना चाहिए। ध्यान रहे कि वास्तविक होने की यह आवश्यकता कला की आवश्यकता ही है। वह स्वयं वास्तविकता की आवश्यकता नहीं। शरीर स्वच्छ, नीरोग और पुष्ट चाहिए। इसलिए नहीं कि वह पंचभौतिक है, अथवा उसे सुन्दर दिखाना है, बल्कि केवल इसलिए कि आत्मा उसमें स्वस्थ रहे। एक तरह से देह धारण करके देही को अलक्ष्य रहने में सुविधा होती है। शरीर है, इसी से उसके भीतर हृदय प्रकट होकर भी छिपा रह सकता है। माया की यही सार्थकता है कि वह ईश्वर को छिपा कर धारण करे।

जैसे अंगूर पर छिलका होता है, वैसे ही उपन्यास पर वास्तविकता का परिधान चाहिए। छिलका केवल रस की सुरक्षा के लिए है। जिसे रस चाहिए वह छिलके को देखेगा भी नहीं। रस पीना है तो उसे छान कर छिलका फेंकने के लिए तैयार होना होगा। यह सही है कि छिलका न होने पर रस एकत्र होने का अवसर ही न पायगा। लेकिन बस, इससे अधिक उस छिलके का प्रयोजन नहीं। वास्तविकता का प्रयोजन भी इससे अधिक नहीं है।

यह भी मुझे जान पड़ता है कि कार्य के पीछे के कारण को और घटना के पीछे के हेतु को पकड़ने के लिए, बाहरी बहुत कुछ छोड़ते जाना होगा। अशर्फी के लिए कौड़ी छोड़नी होगी। अमरता के लिए शरीर को मरने देना होगा। इसी तरह जो ऐक्य इस तमाम अनेकता को धारण कर रहा है उसको पाने के लिए एक-एक को छोड़ते भी जाना होगा।

तभी तो है कि नित्य-नैमित्तिक जीवन की स्थूल घटनाओं का लेखा

उपन्यास में नहीं मिलता। उपन्यास के पात्र रोज सवेरे सात बजे ही स्नान करते नहीं दिखाये जाते, न उनके दांतुन करने और भोजन करने आदि का जिक्र है। उपन्यास अपने चरित्र को जानने और जतलाने के लिए इन सब स्थूल व्यापारों के पार देखेगा। इन सब व्यापारों की सम्भावना और उद्भावना को धारण करनेवाली जो उस चरित्र की मानसिकता है, उसके व्यक्तित्व की भीतरी व्यथा और सत्यता है, उसे दिखलाने का उपन्यास प्रयासी होगा।

पत्तों की गिनती में वृक्ष का सत्य निहित नहीं है। उसकी शोध में गहरे जाना हो, तो उसका रस लेना होगा। उस रस की बूंद में ऊपर से यह भी पता न चलेगा कि यह किस वृक्ष का है और इसके कैसे पत्ते रहे होंगे। रस की बूंद में पेड़ की लम्बई-चौड़ाई और उसकी विविधता का कुछ भी प्रभाव नहीं रह जाता। उस रस के पृथक्करण से इसीलिए वृक्ष का अधिक सत्य प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ उसकी रूपाकारमय बृहत्ता एक दम गौण वस्तु रह जाती है।

उपन्यास में वास्तविकता का भी यही स्थान है। सुधी पाठक के लिए वह वाहन भर है। रसोपलब्धि की दृष्टि से वह परिहार्य तक ठहरती है। धरती पर का आदमी जिन तरह-तरह की लाचारियों के कारण उभर नहीं सकता, क्या उन लाचारियों में उपन्यास के नायक को भी बाँधना ही होगा? मैं मानता हूं कि उपन्यास के नायक हमारे भीतर की सम्भावनाओं के चित्र अधिक हैं। वे हमारी अपूर्णता की पूर्तियाँ हैं। वे हमारे फोटोग्राफ नहीं हैं, उससे अधिक हैं। चित्र फोटोग्राफ से अधिक होता है। उपन्यास का लेखक भी फोटोग्राफर नहीं है—वह चित्रकार है, यानी उसमें विवेक है। इस विवेक द्वारा वास्तव के पर्याप्त अंश को वह छोड़ देता है।

जानता हूं कि आजकल यथार्थ का एक वाद भी है। तो भी मैं नहीं मानता कि आदर्श को हक नहीं है कि यथार्थ को अस्वीकार करे। उप-

न्यास वास्तव में उस आदर्श की ओर उठने के प्रयास में ही बनना चाहिए। यथार्थ से उठना और यथार्थ को उठाना नहीं है तो उपन्यास का प्रयोजन ही क्या ? हाँ, प्रयोजन खोज ला सकते हैं और उन पर उपन्यास लिखे भी जा सकते हैं, पर क्या सचमुच उनको उपन्यास कहना ही होगा ?

: २५ :

व्यक्ति और टाइप

इधर आलोचना में दो शब्द मिलने लगे हैं : 'टाइप' और 'व्यक्ति'। कहा जाता है कि इसके पात्र 'टाइप' हैं, उसके पात्र व्यक्ति हैं। यह व्यक्ति और टाइप क्या ?

उपन्यास दो एक मेरे नाम पर भी हैं। उनके पात्र टाइप हैं, कि व्यक्ति ? किसी आलोचक से इस बारे में प्रकाश मिले तो मैं कृतज्ञ होऊँ। क्योंकि मैं ठीक तरह जानता नहीं हूं। वे पात्र गर्भ में कैसे आये, किस प्रकार जनमे और जैसे जिये वैसे किन कारणों से जिये, इस विषय में मेरे मन में आभास तो है, बोध नहीं है। जनक हूं तो क्या, उनका जानकार मैं नहीं हूँ।

पहले एक शब्द बहुधा आता था, चरित्र। वह शब्द अब भी मिलता है। पर घिस चला है।

एक बार दिल्ली-सम्मेलन के मौके पर प्रेमचन्द जी को कुछ लोग घेरे बैठे थे। वे जिज्ञासु थे और उपन्यास के बारे में पूछ रहे थे। उनमें महिलाएँ अधिक थीं। प्रेमचन्द जी ने बताया—क्या बताया, सो मुझे ठीक याद नहीं। पर कुछ चरित्र के बारे में कहा।

तब तक एकाध किताब मेरी छप गयी थी। लोग जानते थे कि मैं जानता हूँ। पर मैं क्या जानता था ? इससे मैंने पूछा कि बाबू जी, चरित्र क्या ?

शायद आस-पास के लोग और प्रेमचन्द जी कुछ झिझके। कहीं मैं सिली सींवन उधेड़ना तो नहीं चाहता हूँ !

पर मेरी जिज्ञासा निपट थी और मैं 'चरित्र' को समझना चाहता था।

अपने पात्र में मैं चरित्र कैसे भरूं ? समझ ही न आता था कि चरित्र के नाम पर उनमें मुझे क्या डालना होगा। पर अपनी विवाई की पीर दूसरा कैसे जाने ? यहां तक कि प्रेमचन्द जी के चेहरे पर मैंने अपने प्रश्न के लिए सहानुभूति न देखी तो मैं कुछ पछताया। मुझसे अनौचित्य बन गया है इस भाव से, जो उन्होंने उत्तर दिया, मैं सुनता गया। पर ग्रहण नहीं कर पाया कि क्या उत्तर था।

प्रेमचन्द जी कुछ कह कर फिर उन्हीं विद्यार्थियों की ओर मुखातिब हो गये थे। और तब से मैं अब भी भटक रहा हूँ कि जानूं कि चरित्र क्या ?

लेकिन चरित्र पिछडा. अब तो 'टाइप' सामने आ गया है। 'टाइप' और 'व्यक्ति'। हमारे विद्वान् भाई हजारीप्रसाद जी इन दो बाँटों से भारी-भारी बोझ तोलते हैं। रवीन्द्र के पात्र अधिक 'व्यक्ति' हैं, प्रेमचन्द के पात्र अधिक 'टाइप' हैं। याद पड़ता है कि कुछ इस आशय की बात उनकी मैंने कहीं देखी थी।

हजारी बाबू के अलावा भी इन बाँटों का चलन मिलता है। आधुनिक तुला में वे खासे काम आते हैं। मेरे पात्रों की आधुनिक तौल हो तो उस बारे में कुछ मुझे भी पता चले। पर तब तक ?

दिन हुए एक कहानी मैंने लिखी थी 'एक टाइप'। जाने किस संग्रह में वह दब गयी। खोज कर उसे उघाड़ना तो नहीं चाहता, दबी है तो अच्छा ही है। सतह से ऊपर उठ कर संभ्रमित प्रकाश में दिखायी देने की स्पर्द्धा रखनेवाली सुन्दरताएँ यहां कम नहीं हैं। इसमें कुछ चीजें जनमते ही धरती में मुँह गाड़ कर सो जायें तो कोई बुराई नहीं। गिच-पिच इससे कम होगी। सोचता हूं कि आदमी मरते जाते हैं, यही भला है। नहीं तो कुछ बरसों में भला यहां सांस लेने को मिले ? ऐसे ही कहानियां अनगिनत उपजती हैं और अपनी कृपा से वे मरती भी चलती हैं। हिन्दू

लोग कवर नहीं बनाते कि जगह घिरे और कोई पटिया मरे की याद को जीता रखने की नाहक कोशिश करे। वे तो भस्म करते और छुट्टी लेते हैं। जीते के लिए मुर्दे की याद का भी एक काम बढ़ाना अदया है। जीते को यों ही अनेक काम हैं। इससे मेरा 'एक टाइप' आया वैसे चला भी जाय, यह अच्छा ही है।

पर, आप माफ कीजिएगा, कमजोरी माफ होने के लिए है। आलोचक के हाथों खेलता हुआ यह जो टाइप सामने आया है, उसे देख कर मुझे उस पुराने अपने टाइप की याद हो आयी है। यह शायद कुछ और हो, वह कुछ और था। पर, ठहरिये, यह कुछ और ही है, यह भी मुझे नहीं मालूम। हाँ, मेरा वह कुछ क्या था, सो याद करता हूँ।

वे सम्भ्रान्त इज्जतदार आदमी हैं। दुरुस्त कपड़े, दुरुस्त नीति, दुरुस्त सब कुछ। जैसे ज्यामिति के चतुर्भुज। सब समकोण, विषमकोण कहीं भी नहीं। वह खुद इतने नहीं जितने कि औसत हैं। अपने वर्ग के दूसरे आदमी जैसे काट के कपड़े, उसी तर्ज के विचार, उसी सांचे की नीति, हूबहू वही राय। शंका उन्हें नहीं छूती। सदा राजमार्ग पर वे चलते हैं। वे वही मानते हैं जो मानना चाहिए, वही चाहते हैं जो चाहना चाहिए। वह अपने भीतर नहीं जायँगे। बना-बनाया बाहर क्या कुछ नहीं मिलता? फिर अपने को व्यर्थ क्यों सताया जाय? अपने को धुन कर और कात कर और फिर उसी तार को बुन कर अपना कपड़ा आप बनाने का आग्रह क्यों? फिर उसे काट-सी कर अपने नीति-नियम भी स्वयं तैयार करो। यह कहां की बुद्धिमानी है? भला सोचिए, मिलें इतनी खुली हैं, और वहां इतने लोग काम कर रहे हैं, सो क्या फिजूल? चाहिए हमें कि उनकी मेहनत को सार्थक करें। अपना कपड़ा बनाना मिल के धंधा करनेवालों को बेकार करना है कि नहीं? आखिर जो लोग ये स्मृति-श्रुति बना जाते हैं सो इसीलिए तो कि हम उसे बनाने के झंझट में न पड़ें। अतः, अपने पूर्व-जन चल-चल कर जिस रास्ते को पक्का कर

गये हैं, चलने के लिए वही रास्ता है। बस, हमारे टाइप बेखबर उस पर चलते चले जाते हैं। बँधी-बँधाई विधि है। एक-एक क्लास चढ़ते दसवीं तक पहुँचे; इतने में व्याह की उम्र हुई और व्याह किया और हौले से लगे। बीस, पच्चीस, तीस बरस नौकरी की। बच्चे पैदा किये और उनकी परवरिश की। लड़कों को दसवीं तक लाकर दो पैसे के काम से लगाया। और तेरहवां लगते लड़की के हाथ पीले किये। तनखाह ली और वैध रूप से ऊपर से जो और मिला वह नतमस्तक स्वीकार किया। समझदार के लिए ऊपर की आमदनी के आगे तनखाह की क्या गिनती है। तिस पर किफायत से चले और ढंग से निबाह किया। ऐसे चौवापन आ गया। तब भगवद् भजन में चित्त लगाया। इस तरह सधे शान्त भाव से इस किनारे से उस किनारे तक जिंदगी को पार किया।

इस बीच गांधी आये, सत्याग्रह मचा, उथल-पुथल हुई, जेलें भरी और खाली हुई और फिर भरीं। पर गर्मी में ऐसे तो काली-पीली आंधियां आया ही करती हैं। साबित कदम क्या हिलते हैं? हाथी चलता है, कुत्ते भौंकते हैं। यह नहीं कि कहानी के औसत महाशय अखबार नहीं पढ़ते, या अध्यात्म में उनकी पहुंच नहीं है। जी नहीं, सो सब है। उनके बदन पर की देशी मिल की बनियाइन गांधी महात्मा के ही लिए नहीं तो और किसके लिए है? और अध्यात्म—उसमें तो वे गद्-गद् हो जाते हैं, पर राज-मार्ग नहीं छोड़ सकते। तभी चारों ओर चाहे प्रलय ही होता रहा है, पर उनकी निगाह पेन्शन की ओर एकाग्र रही है। लक्ष्यवेध का क्या यही मन्त्र नहीं है? रेल-कम्पनी ने ही अपने नियमों से लाचार होकर उन्हें छुटकारा दिया तो दिया, वे कर्तव्य पालन को अब भी तत्पर थे। जन्म अनेक होते हैं, पर रेल-कम्पनी की सेवा का अवसर इसी जन्म में मिला है। उससे विमुख होना क्या सेवाव्रती को शोभा देता है. ऐसे ही स्थिति-निष्ठ, निस्स्व-भाव सत्पुरुष समाज का रीढ़ होते हैं। वे देखते सब हैं, पर करते कर्तव्य

ही हैं। तभी तो जहां कच्चा मकान था वहाँ अब पक्की ईंटों का मकान दीखता है; लड़कियां सब अपना कुनबा लेकर बैठी हैं, लड़के दो पैसे के हीले से लगे हैं, और सब परमात्मा की दया है।

ये हमारी उस कहानी के टाइप हैं। टाइपों में पौइंट होते हैं, जाने के पौइन्ट के ये टाइप हैं। लगता है कि लोकाचार इसी टाइप पर छप कर चलन में आता है। यह टाइप निःसन्देह कम घिसता है; टिकाऊ है और पक्का है।

क्या आलोचक का टाइप भी यही है? या कि वह कुछ और वस्तु है?

'टाइप' क्या वही कि जिसमें चरित्र की निजता नहीं है? और व्यक्ति वह कि जिसमें निजत्व है? व्यक्ति औरों से भिन्न है और टाइप मिलता-जुलता है—क्या यही उनमें रहस्य या अन्तर है?

पर वह भेद यही है और आलोचक अपनी बात से यही कुछ कहना चाहता है, इसका मुझे विश्वास कौन दिलाए?

(२)

व्यक्ति को क्या दूसरे के विरोध में रख कर उसे अपने में विशिष्ट, स्पष्ट और पृथक् बनाना होगा? उपन्यासकार से टाइप की जगह व्यक्ति मांगते हैं, तो क्या हम यही मांगते हैं?

और वह पात्र जो अपनी निजता खोकर सर्वांश में अपने शरीर में हो रहता है, इतना कि उसे छूना मानो उस सारी श्रेणी को छू लेना है—ऐसे टाइप का चित्रण हलकी कला समझी जायगी?

यह समझने के लिए व्यक्ति की पृथकता अथवा समाज के साथ उसकी अभिन्नता को समझना होगा।

गहरे में जाय तो पृथकता भ्रम है। हमारे आपके बीच में जो व्यवधान

दीखता है, सच पूछा जाय तो हम दोनों का समन्वित सत्य उसी में है। यानी अपने आप में मुझ में वन्द कुछ नहीं है, उधर खुद आप में वन्द भी कुछ नहीं है। हम दोनों की जो परस्परता है, क्रिया-प्रतिक्रिया है, राग-विराग सम्बन्ध है—सच पूछिए तो चैतन्य की पीड़ा भी वहीं है। अर्थात सत्य व्यक्तियों में नहीं, उनके सम्बन्धों में है, और जीवन-विज्ञान को व्यक्ति के वृत्त में नहीं, वल्कि पारस्परिकता के अनुवंध में देखना होगा।

अर्थात् व्यक्ति का वाह्य-स्वरूप, या उसका कर्म-व्यापार, वहुत अधिक सुनिश्चित और सुनिदिष्ट रूप में हमारे सामने आ उटता है, तो उसमें हमारी परितृप्ति कुछ कम हो जाती है। जिसको जान लेते हैं उसे हम प्रेम नहीं करते। इसी से उपन्यासों के जितने महान पात्र मिलेंगे मालूम होगा कि उन्हें हम जान नहीं पाते हैं। जानने को उनमें सदा कुछ शेष रह ही जाता है। उनकी रूप-रेखा मन के अगोचर में प्रत्यक्ष होकर भी अप्रत्यक्ष रहती है।

मानिए कि उपन्यास में एक पात्र का रूप-रंग, कपड़े-चेहरे की वना-वट, आदि, सव आपके सामने पूरी तरह खींच कर रख दिए जाते हैं। वह किस अन्दाज से छड़ी टेक कर चलता है, यह भी आपको मालूम हो जाता है। वीच-वीच में खखारता है; रह-रह कर शायद किसी पुरानी वीमारी की वजह से आंख के पास की खाल सिकुड़ आती है और तव वाई आंख विचित्र वन जाती है; उसका तकिया कलाम है, 'क्या समझे ?' और वह वाक्य पूरा होते-होते 'क्या समझे ?' पूछ ही वैठता है। ये सव व्यौरे आपको मालूम हैं।

कल्पना कीजिए कि यह पात्र जव-जव आता है, तव-तव आंख के पास की उसकी सिकोड़, चाल का अमुक ढंग, उसकी खखारने की आदत, और वार-वार उसका 'क्या समझे ?' कहने का चित्र फिर-फिर कर आपके सामने प्रत्यक्ष किया जाता है। तव आपको कैसा लगेगा ?

शायद आपको अच्छा भी लगेगा। छड़ी की टिकटिक सुनते ही आप

की आँखों के आगे वह मूर्ति आ जायगी। अर्थात् उस ढंग से व्यक्ति अनायास आपका जाना-पहचाना हो जायगा और आपके बीच तकल्लुफ मुतलक न रहेगा।

पर ये बातें पात्र को व्यक्ति बनाती हैं, कि टाइप ? इन आदतों से वह एकदम और सबसे अलग हो रहता है, उसका खाका ऐसे पूरा बनता है। लेकिन क्या इस तरह उसमें गहराई आती है ? और क्या उसमें किसी व्यक्तित्व का निर्माण होता है ?

अंग्रेजी का एक शब्द है, Idiosyncracy, आशय है सनक। हर एक में सनक होती है। उस सनक को लेकर हम सबका एक सस्ता चित्र झट दे सकते हैं, जिसमें वह सनक ही उस व्यक्ति की पहचान हो। कार्टून की कला का इसी भेद से विकास हुआ है। पर क्या यह भी सच नहीं है कि व्यक्तित्व को पाने के लिए उसकी Idiosyncracy की सतह से हमें नीचे उतरना होगा।

कुछ ऐसा मालूम होता है कि अगर हम आदमी की असलियत को पाना चाहते हैं तो ऊपरी विषमताओं से, यानी रंग-रूप रहन-सहन आदि के ब्यौरों से गहरे में जाकर उसे खोजना होगा।

इस लिहाज से जिसमें विशद आकृति वर्णन मिलता है और पात्र को मानसिक से अधिक शारीरिक अथवा सामाजिक बनाया जाता है वहाँ वह पात्र और दृष्टियों से सुनिर्दिष्ट भले हो जाय, प्रभावकारी उतना नहीं हो पाता। इतना अधिक वह जाना-पहचाना हो जाता है कि उसमें अन-पहचाना कुछ न रह जाने के कारण उसके प्रति आकर्षण की अनिवार्यता भी नहीं रहती।

दूसरी ओर ऐसे पात्र जिनका ऊपरी वर्णन नहीं मिलता, आँख कैसी थी और नाक कैसी थी अन्त तक इसका पता नहीं चलता; साड़ी रेशमी थी अथवा दूसरे तरह की थी, इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला जाता; उसकी Idiosyncracy को बहुत उघार कर नहीं पेश किया जाता।

पर उन पात्रों के भीतर का मानसिक व्यापार ऐसी सघन सहानुभूति से चित्रित होता है कि हमारे मन में वह पात्र गहरा बस जाता है। हम अपने मनोनूकूल उसकी शरीरयष्टि और मुख-मुद्रा की कल्पना कर सकते हैं; मन मुताबिक सिल्क या सूत के कपड़े पहना सकते हैं। जैसे लेखक बहुत अधिक जाना-पहचाना उसे आपके निकट बनाना ही नहीं चाहता है। वह मात्र आपकी कल्पना को सचेष्ट कर के उसे स्वतन्त्र छोड़ता है। वह आपके निकट कुछ रहस्यमय, दुर्बोध और तटस्थ रहकर ही तुष्ट है। ऐसा पात्र यत्किंचित ज्ञात होकर भी आपको अज्ञेय है, और आपका होकर भी वह स्वयम् है।

महान् पात्र सब लगभग ऐसे ही होते हैं। पाठक की रुचि और कल्पना को वे बांधते नहीं, बल्कि उन्हें स्फूर्त करके मुक्त करते हैं। उनके प्रति आप में बराबर एक चाह, एक उत्सुकता बनी रहती है। वे आपके भीतर गहरे आकर आप से स्वतंत्र रहते हैं। मानों वे मुट्ठी में समाने के लिए नहीं हैं।

व्यक्ति की दृष्टि से ऊपर गिनाये दो पात्रों में हम किस को सम्पूर्ण और सफल कहें ? एक ओर वह है कि मिलते ही जिसका सब कुछ आपके सामने आ जाता है; उसका चेहरा, उसके कपड़े, उसका रंग, उसका रूप, उसका प्रयोजन। दूसरा वह है कि जिससे मिलकर मानों यह मालूम भी नहीं होता कि आपने वस्त्र देखे हैं, या कि रूप अथवा आकार देखा है। मानों एक साथ उस देह के भीतर जो है, और जो अगम और अबंध है, उसकी छाप आपको छूती है।

कहने में कठिनाई न होनी चाहिए कि जिसके ऊपरी रूप पर और निवास पर ध्यान अटकता है, जहां रूप तथा परिवेश जान-बूझकर ऐसा मुखर बनाया गया है, वह चित्र उतना ही हलका है। और जहां आकार-प्रकार के सौंदर्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, मानो वह तो निराकार की झलक झलकाने भर के लिए है, वह चरित्र उतना ही गहन है।

इस दृष्टि से आकृति और प्रकृति की अत्यधिक सुस्पष्टता मानों पात्र को पाठक के पास लाकर भी पाठक के मन से उसे दूर डाल देती है। और जहाँ आकृति-प्रकृति के संबंध में कुछ भी उभारदार न बनाकर पात्र के अन्तरंग को अपनी सहजता में हम पर क्रमशः प्रस्फुटित किया जाता है, वहाँ ही मन अधिक गम्भीर होकर प्रसन्नता एवं कृतज्ञता अनुभव करता है।

तभी तो आजकल आकृति का वर्णन यदि है भी, तो रूप की नहीं गुण की विशेषता से ही है। उसके विशेषण ही अब बदल गये हैं। आँखों को कान तक फैली कहने की जगह चपल, मृदु या तीक्ष्ण कहा जाता है। अर्थात् शरीर द्वारा मानसिकता का ही अभिनंदन किया जाता है। साज-सिंगार यदि आज कम है, और उसका वर्णन और भी कम, तो इसलिए कि साज-सिंगार व्यक्तित्व को ढंकता ही है, अथवा प्रगट करने के पक्ष में वह व्यक्तित्व का दैन्य ही प्रकट करता है।

(३)

व्यक्ति और टाइप की चर्चा में मैं नहीं जानता कि इस क्षेपक का क्या सम्बन्ध लिया जायगा। लेकिन मैं जानना चाहता हूं कि व्यक्ति का व्यक्तित्व कहाँ है, और क्या है? और टाइप व्यक्ति से भिन्न है तो किस कमी के कारण भिन्न है?

मुझे प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपने आप में समाप्त और सार्थक नहीं है। इसलिए व्यक्ति-रूप में उसे दिखा कर कोई कला अपने को सफल भी नहीं मान सकती है।

आज मनोविज्ञान का दौर है। एक व्यक्ति के मन को कुएं की भांति लेकर उसके अंधेरे में दृष्टि गाड़ कर नीचे से नीचे उतरने का प्रयास किया जाता है। समझा जाता होगा कि ऐसी मनोवैज्ञानिक रचनाएं टाइप नहीं व्यक्ति देती हैं। मुझे तो ऐसी मनोवैज्ञानिक रचनाओं की तुक

समझ में नहीं आती। अपनी खातिर मन की गुत्थियों का खोलना अव्य-वसाय है, कि व्यसन ? असल से बच कर नकल में जी बहलाने का-सा वह काम है। गोरख-धन्धा ले लीजिए और वक्त को मारे जाइए। मुझे रचनाओं में मनोविज्ञान की यह उपासना अपने बच्चे के अंगूठे चूसने जैसी लगती है। यह तो अपने मुंह में अपनी जीभ मोड़ लेना है। मन की उलझन खोले जाइए, खोले जाइए, पर मन से कोई काम लेने का इरादा हो तब तो उलझन शायद कुछ खुले। वैसा कुछ लक्ष्य पास नहीं है तो उलझन शायद ही तनिक खुले। वैसा कुछ लक्ष्य पास नहीं है तो उलझन खुलेगी कैसे, और खुल कर होगा क्या ? एक बार हाथ का गोरख-धंधा खुल गया। पर यह तो बड़ी बुरी बात हुई। अब मेरी चेष्टा थी कि वह गोरख-धंधा पहले की तरह फंस जाय, ताकि उसके खोलने की कोशिश में कुछ वक्त कटे। मनोविज्ञान को साध्य बनाकर चलने में यही खतरा है। उपन्यास मनोविज्ञान का बंधुआ नहीं है। मनोविज्ञान उसके पीछे लगा चले, यह दूसरी बात है; उपन्यास का लक्ष्य ऊंचा है। जीवन को स्फूर्ति देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाना उसका काम है और यदि जीवन के भीतरी भेदों को सुलझाने का उसमें प्रयास है तो इसीलिए कि जीवन अपनी जकड़ से छूटे और ऊपर उठने में समर्थ हो।

व्यक्ति की नाना भावनाओं को कुरेद और खोल कर एक-एक कर आगे बिछा देने से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है—यह मैं नहीं मानता। आदमी को चीर कर उसकी रगें खोलने से आत्मा का तार नहीं मिलता। ऐसे उस आत्मा के न मिलने, अतः उसमें अविश्वस्त होने, की सम्भावना अवश्य होती है। बुद्धि के तीखे नखों से पात्र के मन की चीर-फाड़ से कला की छीछालेदर की जा सकती है, ऐसे कला से तात्पर्य-सिद्धि तो नहीं होती। अन्वय समन्वय में सार्थक होता है और विश्लेषण यदि कृतार्थ है तो तभी जब वह कुछ संश्लिष्ट भाव उत्पन्न करने में समर्थ है।

अर्थात् वह रचना पात्र के रूप में हमें व्यक्तित्व का दान करती है जो उसके मन को लेकर उघेड़-बुन में रहती है, यह कल्पना भ्रान्त है। जैसे कि वाहरी रूपायोजन के उपादान मात्र से पात्र को सांगोपांग बनाने की स्पर्द्धा करने वाली रचना व्यक्ति नहीं पुतला ही खड़ा करती है, वैसे ही दूसरे प्रकार की यह मनोविश्लेषण के दौरवाली रचना भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को नहीं, वल्कि केवल उसके प्रेत को दिखा पाती है।

यहाँ आकर मैं कहना चाहता हूं कि दुनिया में जितने आदमी हैं उनमें कुछ को व्यक्ति कह कर बाँट देना सम्भव नहीं है और उपन्यास में यदि किसी को टाइप और दूसरे को व्यक्ति कहा जा सकता है तो केवल कलम की खूबी की वजह से। यदि वहाँ से व्यक्ति को स्वयं प्राप्त कर पाठक को उपलब्ध कराया जायगा कि जहाँ से उसके समूचे व्यक्तित्व को ऐक्य मिलता है, तो वह मर्मस्थ होगा। उसी को ऊपरी सतह से दिखाया जायगा तो वही पात्र चपटा, निजत्वहीन और टाइप सरीखा दिखायी दे आयगा।

प्रतीत होता है कि ऊपरी विशिष्टता के वर्णन से जिस पात्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाने की कोशिश की जायगी, वह उतना ही पुतला यानी टाइप रह जायगा और जिसको निर्वैयक्तिक रूप में मानव-जाति के निकट से निकट कर के देखा जायगा, वह पात्र अनायास गहन-चरित्र और पुष्ट व्यक्तित्वधारी बन सकेगा।

व्यक्ति असल में क्या है? क्या वह प्रतीक ही नहीं है? अपने समय और अपनी परिस्थिति में संश्लिष्ट एक प्रश्न-चिह्न को, एक जिज्ञासा को लेकर वह उठा है। उसे उत्तर की खोज है। उसके भीतर कोई बन्द निजता होती तो जगत् से उसका नाता क्या बनता? पर जगत् से वह कुछ लेता और कुछ देता है। इसी में उसका निजत्व और व्यक्तित्व बनता है। सच पूछा जाय तो जो इस आत्म-दान के कर्तव्य में जितना अपने को रोक रखता है, घुल-मिल न जाकर अपने को अलग रखता है, वह

व्यक्तित्व की दृष्टि से उतना ही हीन बनता है। यहाँ यही तो विस्मय है कि जिसने अपने को जितना बनाया और सँवारा वह उतना ही बिगड़ा और जिसने अपनेपन को पास न रख कर दे डाला, वह उतना ही महान बना।

यानी जो अपनी निजता को समेटता नहीं बल्कि इस चारों ओर के विश्व में विकीर्ण करता है, वह संकीर्ण नहीं रह जाता; वह व्यक्ति नहीं रह जाता; वह तो एक ऐतिहासिक युग के साथ तत्सम होता, उसका शीर्षक बनता है। महाकाल का एक बड़ा भाग ही उसका नाम पा जाता है। इस दृष्टि से सच्चा व्यक्ति व्यक्ति होता ही नहीं, केवल प्रतीक होता है।

आजकल जो उपन्यास पश्चिम में और अपने यहाँ लिखे जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश में मुझे इस सत्य की झलक कम दिखलायी देती है। अब तो खैर गनीमत है, लेकिन कुछ पहले व्यक्ति को साध्य मान कर विश्लेषण की बड़ी गहराई में उतर जाया जाता था। मानों व्यक्ति को सम्पूर्ण और एकत्र करना नहीं, उसको बिखराना साहित्य का काम है। पर प्रभाव की एकता यदि रचना की सफलता के लिए अनिवार्य गुण है तो स्पष्ट है कि उसमें मन का पृथक्करण उसके मन के समीकरण की दृष्टि से ही हो सकता है। साहित्य के द्वारा अमुक जानकारी नहीं फैलायी जाती, बल्कि आत्मा की व्यथा को ही विस्तार दिया जाता है। वह आत्म-व्यथा ही है आत्मानन्द। वही है स्फूर्ति का स्रोत।

इस भांति विचार करने से हम जिस परिणाम पर पहुंचते हैं वह यह कि पात्र की निजता को अत्यन्त परिपुष्ट दिखाने के लिए उसे जानबूझ कर औरों से अलग कर लेने की जरूरत नहीं है। उसका निजत्व उसी अंश तक सिद्ध और सार्थक है जिस तक वह पाठक के निजत्व में प्रति-बिंबित होकर उसे चेताता है। साफ है कि इसमें ऊपरी ब्यौरे मदद नहीं देते, चाहें तो वे बाधक भले हो सकते हैं।

एक शब्द है Hard focus, यानी चित्र की रूपरेखा का वेहद दुरुस्त होना। पर कला के लिए "Soft focus" चाहिए। सचेतन-अचेतन में क्या भेद है ? यही कि एक नपतुल जाता है, दूसरा ठीक नाप-तोल में नहीं आता। चैतन्य पर सीमा की रेखा नहीं होती। चित्र विना सीमा के नहीं वन सकता, सही; पर तमाम महान् चित्रों की यह खूबी है कि वहाँ सीमाएं होती हैं, पर मानों वे एक दूसरे को रोकती नहीं, वल्कि एक-दूसरे में खोना चाहती हैं। वहाँ एक प्रकार की झिलमिल अस्पष्टता रहती है। शरीर जैसे रेखावद्ध है, उसके भीतर का तत्व वैसा ही रेखाहीन है। शरीर वास्तव है, पर आत्म उसी वास्तव की असल वास्तविकता है। हमें किसी की उपस्थिति क्यों प्रभावित करती है ? इसीलिए कि व्यक्तित्व शरीर नहीं है, उससे घिरा नहीं है। वल्कि सच पूछो तो शरीर के अलक्ष्य में व्यक्तित्व का जो प्रभाव है, वही उपन्यासकार के लिए विचारणीय है।

राम और सीता, कृष्ण और राधा, या लक्ष्मण और भरत और अर्जुन, युधिष्ठिर और द्रौपदी और सुमित्रा और सावित्री—इन सब में किसी के वारे में क्या हम कह सकते हैं कि उसकी ऊँचाई छः फुट से कितने इंच कम या कितने अधिक थी ? या किसी की आँख और नाक की कितनी नाप थी ? क्या ऐसा कोई भी व्यौरा आज वचा है ? क्या उनका कोई चित्र है ? नहीं है, और न उसका अभाव हमको प्रतीत हुआ है। जिसको उन व्यक्तियों की ऊपरी यथार्थता कहें वह हमको नहीं प्राप्त है, फिर भी भारतीय नर-नारी को अपने अन्तःकरण में वे सव चरित्र आज अत्यन्त यथार्थ रूप में उपलव्ध हैं, यह भी सच है। उनके भौतिक आकार-प्रकार को हमारे प्राचीन कथाकार ने एकदम छूट जाने दिया है, उनके अन्तरंग मानस को ही हमारे संवेदन के आगे प्रत्यक्ष किया है। इसी से वे पात्र अमर हुए हैं और जाति के अथाह में पहुंच कर घुल-मिल गये हैं।

क्या उन साहित्यकार ऋषियों के इन महत्पात्रों को हम आधुनिक परिभाषा के व्यक्ति कह सकते हैं ? उनका मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) वहाँ कहाँ ? कहो कि वे अयथार्थ हैं। वे अति मानव हैं; व्यक्तिगत निजता जिसको कहा जाय उसमें वे संकीर्ण नहीं हैं; फिर भी वे हैं और एक महाराष्ट्र के प्राणों के लिए चिरकाल से अमृत का काम दे रहे हैं।

वे व्यक्ति हैं कि टाइप ? बेशक, वे व्यक्ति कम हैं और प्रतीक विशेष हैं। वे अपने को नहीं, सत्य की एक झाँकी को अपने द्वारा मूर्त करते हैं। उनमें उनके रूपाकार से बहुत अधिक हैं। वे मनुष्यता की एक भूमिका का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे एक वृत्ति के, श्रेणी के, युग के, एक टेक के सूचक हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि आज जो और जितना हम व्यक्ति से समझते हैं, वह और उतना देने के लिए साहित्य नहीं है। किसी सूत्र, मत अथवा नीति के समर्थन के लिए साहित्य नहीं है। वह तो आत्ममार्ग पर मनुष्यता को चलाने में प्रेरक होने के लिए है। और इस काम में वह व्यक्ति से बन्द नहीं है। असल में तो व्यक्ति पर समष्टि का, एक पर दूसरे का, हर एक पर हर एक का जो प्रभाव पड़ रहा है, और जाने-अनजाने उनमें जो एक अभिन्न-अभेद संबंध अंतर्घटित हो रहा है, उसी के उद्घाटन के लिए साहित्य है। उस अनिवार्य संग्रथन के भीतर कारण रूप है प्रेम। एक वियोग है, और संयोग की चाह है। खंड बिछुड़ गया है, और अखण्ड के ऐक्य को तड़प रहा है। कण समुद्र के तट से छूट गया है। इस जगत् के अणु-अणु में जो एक चाह, एक प्यास है और जो उसे भरमा रही है, वही है सत्य। अणु सत्य नहीं है, सत्य व्यक्ति नहीं है, समाज, देश, राष्ट्र कोई सत्य नहीं है। सत्य है, वह चाह। अणु से, व्यक्ति से, जाति, देश या राष्ट्र से वह चाह जितनी व्यक्त हो, उतनी ही उनमें सचाई है। उनसे अलग वे सब इकाइयाँ झूठ हैं। अनेक की अनेकता

सच है तो उनके भीतर की ऐक्यानुभूति के कारण ही, यों कोई एका-एक भला कैसे सच हो सकता है ?

इससे मेरे खयाल में उपन्यास में न व्यक्ति चाहिए न टाइप। न नीति चाहिए, न राजनीति। न सुधार, न स्वराज। उससे तो प्रेम की सघन व्यथा की माँग ही हो सकती है। और वह प्रेम इस या उसमें नहीं है, बल्कि इस-उस की परस्परता ही में है।

आज मैं सोचता हूं कि शायद यही कारण रहा हो कि मैं प्रेमचन्द जी के चरित्र शब्द को नहीं समझ सका। मैं अब भी उसे नहीं समझ पाता हूँ। जंगल में या गुफा में महा तपस्वी कोई हो जिनका चरित्र ऐसा हो कि फौलाद—तो भी मैं क्या करूं? मैं उनको नमस्कार करता हूँ। पर उपन्यास के नाते मैं उनका क्या करूं ? शायद मैं उनका कुछ नहीं कर सकता। प्रीति उनसे या उनमें मैं यदि नहीं पाता हूं तो उनके वज्र-चरित्र को लेकर भला बताइये मैं क्या बना सकता हूं ? इसलिए मैं चरित्र शब्द पर कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ।

ऐसे ही व्यक्ति। व्यक्ति की व्यथा मुझे चाहिए, उसकी महत्ता मुझे नहीं चाहिए। महत्ता तो बड़ी से बड़ी भी छोटी है। एक आदमी इतना बड़ा तक हो जाय कि जितनी दुनिया—पर दुनिया तो यहाँ असंख्य हैं। लाखों तारों से आसमान भरा है। जैसे मोतियों से अंजलि भरी है। और मानों वह अंजलि उन मोतियों का आशीर्वाद हम पर ढुरका देने की राह देखती हो। ओह, तब हमारा दुनिया जितना बड़प्पन भी कैसा तुच्छ हो आता है। इससे व्यक्ति मुझे नहीं चाहिए, उसका बड़े से बड़ा बड़प्पन झूठ है। उसकी तो तुच्छता ही मेरे निकट सत्य है। मुझे वही व्यथा चाहिए जिसमें उसकी तुच्छता का ही प्रत्यक्षीकरण, उसका ही समर्पण हो। मेरे लेखे व्यक्ति विचारणीय बनता है तो तभी जब क्षुद्रता को खोल देकर वह विराट में विदेह बनता है। भीतर प्रीति नहीं तो, भाई ऐसे तो बाँस भी बहुत ऊँचा हो जाता है।

: २६ :

प्रगति क्या ?

आइए, समझें, प्रगति क्या ?

इधर दायें से पुकार आती है—उन्नति कीजिए। हम वही कर रहे हैं। आइए, हम में आ मिलिए।

उधर बाएँ से भी पुकार आ रही है—प्रगति कीजिए। जो हम कर रहे हैं वही है प्रगति। आप प्रगतिशील हैं न ? तो इधर आ जाइए।

स्पष्ट है कि दाहिनी दिशा बाईं से उल्टी है। दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। दाहिनी ओर बाईं वालों के लिए केवल मूर्खता है और ढकोसला है। उसी तरह दाईं तरफ वाले बाईं ओर जहालत और मौत देखते हैं।

किसी ओर आइए, किसी के लिए आप जाहिल और मूर्ख अवश्य हैं। मूर्ख हुए बिना कोई नहीं रह सकता।

और यह शुभ है। इस भय से आप बचें कि कोई आपको मूर्ख कहेगा तभी आप सोचने समझने के लिए ठहर भी सकते हैं कि प्रगति क्या ? नहीं तो कोई न कोई आपको बाँह पकड़कर प्रगति के (यानी, दूसरों की जहालत के) मार्ग पर ले ही बढ़ेगा। ज्यादह सम्भावना यह है कि जिधर अधिक मत-बल और कोलाहल-बल होगा उधर ही आप जायेंगे। और इसलिए उधर ही तरक्की को होना पड़ेगा।

इसलिए यदि आप प्रगति क्या, यह सोचने-समझने में समय लगाने में साथ देना चाहते हैं तो यह तय है कि आप तय्यार हैं कि कोई आपको मूर्ख कहे। और यह भी तय है कि आप खुद किसी को मूर्ख कहने की जल्दी नहीं करना चाहते।

इसके बाद आइए अब प्रगति को मालूम करें।

पर इसमें आगे बढ़ें, इससे पहले एक बात याद कर लें। वह बात हम जानते तो हैं, पर भूल जाते हैं। वह बात यह कि, हम आदमी हैं। यानी दुनिया के अनेकों में से एक किस्म के प्राणी हैं। हो सकता है कि सबसे ऊँचे प्रकार के प्राणी हम हों। पर यह निश्चय है कि वह प्रकार असंख्य में से एक है।

जब हम आदमी हैं तो हमारा सोचना आदमी का सोचना है, वह किसी भी और का नहीं है। हमारा सच बस हमारा ही है; और किसी प्रकार के प्राणी के लिए वह सच सच नहीं है, उसके लिए वह झूठ भी हो जाय तो क्या झूठ।

अतः हम जान लें कि जिसको हम प्रगति कहकर ठहरायें वह हमारे अपने मामलों से आगे उपयोगी नहीं होती। वह शुरू से अन्त तक हम पर ही लागू है। हम से बाहर जाकर वह है ही नहीं। इस अनन्त, अनादि, अपरिमेय विश्व में क्या तो प्रगति और क्या अगति—हम मानव क्या हैं कि जो इस बारे में पक्की खबर दे सकें? इसलिए शुरू से याद रहे कि प्रगति के प्रश्न की हद आदमी के पैदा किये अपने मामलों तक है।

प्रगति शब्द के दो खण्ड हैं—प्र+गति। गति उनमें मुख्य है।

'प्र' विशेषण है। प्रगति का मूल आधार है, गति।

गति अनिवार्य है, यानी जीवन के अर्थ में अनिवार्य है। यह घड़ी बीती कि दूसरी घड़ी आ गई। हम चाहें न चाहें, यह घड़ी तो बीत ही जायगी। यह घड़ी घड़ी भर के लिए है, उसके पार वह नहीं है। उसके पार जो है, वह घड़ी होकर भी दूसरी है। इसी बीतते हुए कायम रहते चलने का नाम है 'गति'।

हमारे जानने के दो रूप हैं—रूप कह लीजिए या रुख कह लीजिए। एक 'हैं', दूसरा 'नहीं'।

जैसे कोई भी क्षेत्र तीन सीधी भुजाओं से कम में नहीं घिर सकता वैसे ही कोई भी ज्ञान व्यक्त होने के लिए 'हाँ' और 'नहीं' से घिरा होना चाहिए। उन 'हाँ' और 'नहीं' से एक समान दूरी पर तीसरा बिन्दु है: 'मैं'। वह हर बात में गर्भित है।

जैसे आदमी दायें और बायें अपने इन दो पैरों पर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हाँ' और 'नहीं' इन दो पैरों पर चलती है। स्वीकार भी चाहिए, निषेध भी चाहिए। जैसे एक पैर टिका रहता है तभी दूसरा पैर आगे बढ़ता है, वैसे ही निषेध के सामर्थ्य के बिना स्वीकृति निरर्थक है, और स्वीकृति रूपी स्वत्त्व के बिना निषेध प्रवंचनामात्र है। दोनों के बिना चलना नहीं होता।

'प्रगति' में 'प्र' उसी निषेध की शक्ति का द्योतक है। उस निषेध के आधार पर एक पैर जमाकर दूसरे को स्वीकृति की ओर बढ़ाते हैं, तभी हम प्रगतिशील होते हैं।

हम काल और देश से घिरे हैं। घिरे हैं, इसीलिए हम हैं। हमारी व्यक्तिगत सत्ता के माने ही परिमित सत्ता है। हमारी बुद्धि चूंकि हमारी है, इससे अपरिमेय नहीं हो सकती। परिमित का भाग और भी परिमित होगा। इसी से न हम काल को समग्रता में जान सकते हैं, न विस्तार को समग्रता में जान सकते हैं। दोनों को हम खण्डित करके इन खण्डों द्वारा ही पहचानते हैं। गज, मील, कोस, योजन के माप में हमारा देश (=अवकाश) बँटा है। मात्र आकाश हमारे लिए कुछ नहीं है। उसे हम 'असंख्य मील' के अर्थ में समझते हैं,—तभी थोड़ा-बहुत समझ पाते हैं। इसी तरह काल को घड़ी, पल, छिन के हिसाब से हम जानते हैं। घड़ियाँ बीतती जा रही हैं,—वे बीतती जायेंगी। न उनका शुरू है, न अन्त है। वे ही अनन्त घड़ियाँ जहाँ आपस में एक सत्व-धारा में पिरोई जाकर अभिन्नतया एक हो जाती हैं वही काल है। इसी तरह असंख्य योजनों का विस्तार हमारे सामने है, हमारे पीछे है, ऊपर है, नीचे

है, दायें-बायें है। सब मिला कर यह जो तमाम शून्याकार अवकाश है, वह आकाश है।

हम परिमित हैं। आकाश अपरिमित है और काल अपरिमित है। हमारी चेतना का स्पर्श और उसका जागरण उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों इन अपरिमेय तत्वों के अवगाहन की ओर बढ़ता है त्यों-ही-त्यों, मानना चाहिए कि, हम प्रगति कर रहे हैं।

अनादि इतिहास में से निकल कर मनुष्य अभी बीसवीं सदी तक आया है। इस तमाम यात्रा में मनुष्य वह मनुष्य ही रहा है। वही दो हाथ, वही दो पैर। पर वह बदला भी है। अनन्त काल में यद्यपि उसके इतिहास के सहस्रशः वर्ष सागर में बूंद के समान हैं, तो भी वह सहस्र वर्ष व्यर्थ नहीं गये हैं। मनुष्य कुछ-न-कुछ पाता आया है, देता आया है, जाने-अनजाने वह प्रगति करता ही आया है।

यदि प्रगति नहीं करता आ रहा है, तो प्रश्न होता है कि हम सब आज ही समाप्त क्यों नहीं हो जाते, कल के लिए क्यों जिन्दा हैं? सब कुछ क्यों चल रहा है? जीना क्यों जारी है? इस 'क्यों' के पीछे क्या कुछ भी नहीं है? क्या भविष्य बिलकुल खोखला है? खोखला मानें, सब कुछ व्यर्थ-निरर्थक मानें, तो जीना एक पल नहीं चल सकता। इससे कैसे इन्कार करें कि लिखने वाला मैं और पढ़ने वाले आप जी रहे हैं? इसलिए मानना ही होगा कि अगर हम हैं तो प्रगति भी है। अधिकाधिक अनुभूति-संचय और उसके द्वारा ऐक्य-संचय की ओर हम बढ़ ही रहे हैं। हम मर जाते हैं तो संतति में जीते हैं। परिवार समाप्त होते हैं तो वंश और जाति में जीते हैं। इस भांति नाना जाति और राष्ट्र इतिहास में एक दिन उदय होकर एक दिन अस्त हो जाते हैं और अपने पीछे अपनी संस्कृति, अपना साहित्य और अपनी कला का अवशिष्ट छोड़ जाते हैं। नष्ट तो कभी कुछ भी नहीं होता; काल के आदि से निरन्तर हो रही प्रगति में बस अपना उत्सर्ग दान कर जाता है।

लेकिन, कहा जा सकता है कि यह क्या बात हुई ? जब जो हो रहा है वही है प्रगति, तब प्रश्न कैसा कि प्रगति क्या है ? क्या हमारा यह वश है कि प्रगति न करें ?

बेशक यह हमारा वश नहीं है,—जैसे जीवित व्यक्ति का यह वश नहीं है कि वह मुर्दा बना रहे। हम मरे जिए रह सकते हैं, तो प्रगति नहीं भी कर सकते हैं। प्रगति सृष्टि का नियम है। नियम तो नहीं बदलेगा, उससे टक्कर लेकर चाहे तो हम अपने को तोड़ खुशी से लें।

इसलिए प्रगति का पहला लक्षण है, मृत्यु के प्रति निर्भयता और जीवन के प्रति मुक्ति। प्राप्त जीवन की सब तरह की पुकारों के प्रति हम खुले रहें, और मौत की तरफ हमेशा बेबाक़ बेफिक्र रहें—प्रगति की हम से यह पहली मांग है।

ऐसे तो प्रगति का प्रश्न भी बेशक असंगत होता है। जैसे अपनी ही पीठ की तरफ हम से नहीं चला जा सकता, वैसे ही प्रगति से उल्टी तरफ इतिहास नहीं जा सकता।

किन्तु फिर भी प्रगति का प्रश्न संगत और अनिवार्य क्यों बनता है? इस कारण कि इस मानव प्राणी से अपनी बुद्धि संभाले नहीं संभलती और वह बुद्धिमान के ही विरुद्ध बगावत ठानती है। तिस पर हम जानते हैं कि मनुष्यता एक नहीं है, वह असंख्य व्यक्तियों में बँटी है। हर व्यक्ति अपने में एक है। उसके बुद्धि अलग है, हृदय अलग। हृदय से वह 'पर' को प्रेम करता है, या द्वेष भी कर लेता है, (क्योंकि द्वेष विकृत प्रेम है) और बुद्धि से उस पर को समझता है, समझाता है, तर्क करता है। जब तक व्यक्ति है, तब तक विवेक है, और तब तक प्रश्न है। भविष्य अज्ञेय है, लेकिन हम वर्तमान में समाप्त नहीं हैं। हमारे स्वप्न, हमारी कल्पना, हमारी बुद्धि उस भविष्य के गर्भ में पैठने को बननी ही है। इसी से विकल्प खड़े होते हैं, और इसीलिए मनुष्य को अपने

विकास में संकल्प की आवश्यकता होती है। संकल्प वह है जो विकल्पों की अनेकता में एकता का स्थापन करे।

इसी संकल्प के बल से बली बना व्यक्ति भविष्य की प्रतीक्षा ही नहीं करता वरन् उस भविष्य का निर्माण भी करता है। भविष्य असंदिग्ध रूप में अज्ञेय है, पर वह अज्ञेय भविष्य भी ऐसे संकल्प के धनी पुरुष के कुछ-कुछ मुट्ठी में आ रहता है। मुट्ठी में वह इसीलिए आ रहता है कि वह पुरुष जबकि भविष्य के सम्बन्ध में बिलकुल निराग्रही दीखता है, तब वह अपने ही विकल्पों का स्वामी भी है। वह स्रष्टा है, वह निस्संशय और निस्वार्थ है। अतः वह क्रमशः अपने साथ सबका भी स्वामी बनने की ओर बढ़ता है। वह मृत्यु को भी जीतता है।

इसे प्रगतिशीलता का दूसरा लक्षण मान लेना चाहिए।

अब यहां उस बौद्धिक विवेक की बात करें जो बुद्धि की तुला पर तत्त्वों को तोलता है और तब हेयोपादेय स्थिर करता है।

उस की बात करते हुए हमें ऐतिहासिक बुद्धि (=Historical Sense) से काम लेना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा गया है, हम आज में ही नहीं रहते। कल भी थे और अगले कल को भी शायद हम देखें। इन अगले-पिछले दोनों कल और आज के आज को हम तीन टुकड़ों में बँटा हुआ देख सकते हैं। देख सकते क्या, देखते ही हैं। हम सभ्य हैं, घर में घड़ी है और हम मानते हैं कि रात को जब बारह बजे थे तभी कल खत्म हो गया था, और फिर रात को जब उसी घड़ी में बारह बजेंगे तब आज खत्म हो जायगा और कल शुरू हो जायगा।

इन दोनों कल और तीसरे इस आज की—इन तीनों की तीन सत्ताओं को अस्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति नहीं है, वह जरूरी भी नहीं है। लेकिन मैं आपसे कल्पना करने को कहता हूँ कि मान लीजिए

हमारे पास घड़ी नहीं है; शनि, रवि, सोम आदि वारों की भी धारणा हमारे पास नहीं है, मान लीजिए कि समय-विभक्ति की कुछ भी आवश्यकता हम में नहीं रही है—तब क्या ये तीनों दिन हम को आपस में ऐसे लड़ी में पिरोए बिल्कुल जुड़े-से अभिन्न नहीं मालूम होंगे कि वे अविभाज्य रूप में एक ही हों ? और सच, वे बीच में कटे हुए कहां हैं ? इसी से मैं कहता हूँ कि काल एक है ।

और सोचिए, दिन भी क्या है ? २४×६०×६० सेकेण्डों का जोड़ ही नहीं है ? लेकिन क्या सिर्फ जोड़ ही है ? क्या सब सेकण्ड अलग-अलग हैं और दिन उनका ढेर ? ऐसा नहीं है । दिन की एक स्वतन्त्र सत्ता है । सेकण्ड उसके २४×६०×६०वें खण्ड की कल्पना-संज्ञा मात्र है । इसी भांति तीनों दिनों की भी एक अखण्ड सत्ता है; शनि, रवि, सोम तो उसी एक के तिहाई-तिहाई कल्पित अंगों के नाम करण मात्र हैं ।

ऊपर के कथन से एक बात स्पष्ट होती है । वह यह कि तमाम गति में एक संगति है । जो तत्त्व आज और कल के बीच फ़ासले की अपेक्षा गति है वही उन दोनों में मध्यवर्ती एकता की अपेक्षा संगति है ।

अतीत का हमारे पास नहीं हिसाब, भविष्य का नहीं ज्ञान, और वर्तमान तो छन-छन रंग बदल ही रहा है । फिर भी हम एक ही बार जान लें कि उन सब में एक अखण्डता है, एक संगति है ।

भूत वर्तमान से विभिन्न नहीं है और वह भूत भविष्य के भी विरुद्ध नहीं है । इन दोनों में परस्पर विरोध देखकर चलना ऐतिहासिक विवेकशीलता (= Historical Sense) के विरुद्ध है ।

पक्षों के संतुलन के समय यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि अतीत के आधार पर वर्तमान को समझना ही जिस भांति बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता है, उसी भांति वर्तमान की स्वीकृति के आधार पर भविष्य को

निर्माण-धारणा बनाना वास्तविक रचना-कौशल है। प्रगति निर्माण में है। प्रगति भूत के ऐसे अवगाहन और भविष्य के ऐसे आवाहन में है जिससे उनका वर्तमान के साथ ऐक्य पुष्ट हो। प्रगतिशील वह है जो निर्माता है और निर्माता वह है जिसके मन में उस ऐक्य की स्वीकृति है। काल के प्रवाह में जो संगति नहीं देखता, जो उस प्रवाह के तल पर उठती हुई लहरों के संघर्ष में खो जाता है, जो उस संघर्ष को धारण करने वाली अनवच्छिन्न एकता को नहीं चाहता, वह किस भांति निर्माता होगा ? निर्माता नहीं तो वह प्रगतिशील भी कहाँ हुआ ?

गति अनिवार्य है। उसके भीतर संगति अनिवार्य है। प्रगति संगति के अनुकूल ही हो सकती है। उसमें प्रतिकूलता टिक नहीं सकती। जैसे बहती हुई धारा के वेग में से उछल कर कुछ पानी के कण मौज से किसी भी दिशा में उड़ते रह सकते हैं, वैसे ही इतिहास की गणना में न आने वाली कुछ बूँद बहक कर इधर-उधर जा सकती है। पर, इतिहास की धारा का प्रवाह तो एक है और एक ही ओर है, और वह 'ओर' स्वय इतिहास में से स्पष्ट है। प्रगति उसी ओर सहयोगिनी होती है।

गति का शिकार होना प्रगति नहीं है। ठीक यही वस्तु है (गति का यह शिकार होना) जो प्रगति से प्रतिकूल है। समय के गम्भीर प्रवाह के ऊपर फ़ैशनेबिल आधुनिकताओं की लहरें भी चलती हैं। आज उनका नाम यह वाद है तो कल वह वाद हो जाता है। किन्तु प्रगति के शरीर पर वाद वैसे ही हो सकते है, जैसे मानव-शरीर पर लोम। पर जैसे उन लोमों में मानव नहीं है वैसे ही 'वादों' में प्रगति नहीं है। प्रगति कभी उन वादों तक सिहर कर, कभी उनके बावजूद, और अधिकतर उनको सहती हुई चलती है। वादों (= 'इज्मों') के बारे में वही बात याद रहे जो लेख के आरम्भ में दांये और बांयें रहने वाले गिरोहों के बाबत कही गई है। एक इज्म है, तो दूसरा भी है। दूसरा है तो तीसरा भी है। इस भांति वह उतने ही अनगिनत हो जायँ जितने कि

आदमी, तो भी चैन हो। क्योंकि तब कोई इज्म का शिकार न होगा, सब अपने-अपने इज्मों के स्वामी होंगे। लेकिन जब तक यह नहीं होता तब तक 'इज्म' के नाम पर जितनी कट्टरताएँ हैं, सब मिथ्याभिमान है।

प्रगति में वाद की कट्टरता बह जाती है, जैसे काई बह जाती है। प्रगति भीतर से आती है और बाहर को होती है। शुरू से ही उसे अपने से बाहर टटोलना और साबित करना निरर्थक है। ऐसी चेष्टा इस बात की द्योतक है कि हमारे ही दिमाग के भीतर जीवन का पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है।

यहाँ तक आकर हम एक प्रयोजनीय क्लास-रूम का सा प्रश्न बना कर अपने से पूछें कि आखिर इधर-उधर का यह सब तो हुआ, लेकिन, लेखक महोदय, हम को मालूम तो यह करना है कि प्रगति के लिए हम क्या करें ?

तो मैं उस प्रयोजनार्थी विद्यार्थी से कहूँगा कि भाई, अब तुम खुद मालूम कर लो कि प्रगति के लिए क्या करो। तुम्हारे लिए जो काम प्रगति का होगा, वह काम तुम्हारे सिवाय किसी भी दूसरे के लिए उसी भांति प्रगति का नहीं हो सकेगा। तुम जो हो, और तुम जहाँ हो, वह न दूसरा है, न वहाँ दूसरा है। इस से हर एक अपना स्वधर्म देखे, अपनी बिसात देखे, अपना जी देखे। तब अपना प्रगतिशील कर्तव्य पाने में उसे अड़चन न होगी।

इस काट का कोट पहनूँ ? यह खाऊँ ? यह पढ़ूँ ? अमुक सभा का सदस्य हूँ,—क्या बना रहूँ ? पत्नी को छोड़ूँ कि माँ को, क्योंकि दोनों आपस में झगड़ती हैं ? घर छोड़ूँ कि नौकरी, क्योंकि मालिक एक बात कहता है, मन दूसरी बात कहता है ? आदि-आदि तुम्हारे प्रश्नों का जवाब यह है कि इन मामलों में जो तुम करोगे बेखटके ठीक वही करो। सब-कुछ करके तुम्हारी प्रगतिशीलता तब तक और उस अंश तक

अक्षुण्ण रहेगी जहाँ तक तुम अपने को उत्सर्ग और दूसरे को प्रेम करते हो। यह है तो सब ठीक है।

इसलिए उँगली उठाकर और गिनती गिनाकर बताना असम्भव है कि अमुक कर्म प्रगतिशील है, अमुक नहीं। हां, लक्षण प्रगतिशीलता की पहचान के निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

प्रगतिशील व्यक्ति

(१) मृत्यु का भय नहीं करता। इसलिए, उसकी आकांक्षा भी वह नहीं करता।

(२) वह पूरे प्राणों से जीता है। छल अथवा क्षुद्रता उसके व्यवहार में इसी कारण नहीं हो सकती कि उसका मन इन चीजों के लिए खाली ही नहीं है, वह विश्वास से और संकल्प से भरा है। अल्प-प्राण व्यक्ति ही क्षुद्र होता है।

(३) वह अपने मत पर दृढ़, पर उसे प्रकट करने में विनीत होता है और दूसरों के मत के बारे में अत्यन्त आदरशील। वह कभी अपने को इतना सही नहीं मान सकता कि दूसरे को गलत कहे बिना न रहे। अपने ऊपर खर्च करने के बाद उसके पास इतनी कठोरता बचती ही नहीं कि दूसरों पर फेंके। वह अपने प्रति निर्मम और सब के प्रति प्रार्थी होता है।

(४) विवाद उसे अप्रिय होगा क्योंकि कर्म से वह छुट्टी नहीं चाहता। बौद्धिक विवाद कर्म के दायित्व से बचने का बहाना है।

(५) बुजुर्गों के प्रति वह सहज श्रद्धालु होगा। घृणा से ही वह घृणा करा सकेगा।

(६) वही बोलता है, वही लिखता है जो जानता है, और वह जानता है कि मैं सब-कुछ नहीं जानता,—बहुत कम, बहुत ही कम मैं जानता हूँ। इसलिए वह सदा जिज्ञासु है।

(७) वह घबराता नहीं है, न गुस्सा करता है, न गाली देता है ।

(८) वह साधारण आदमी की भांति रहता है और अपने को साधारण ही गिनता है ।

लक्षण यों और भी गिनाये जा सकते हैं । पर इतने भी अधिक हैं, क्योंकि अचूक हैं ।

आजकल पदार्थ को समझने की कुछ जरूरत से ज्यादा प्रिय पद्धति हो चली है पदार्थ का विभक्तीकरण । निःसन्देह बुद्धि का अस्त्र ही यह पृथक्करण है । फिर भी, जहां तक हो, संयुक्तीकरण की ओर भी हमारा ध्यान रहना चाहिए । क्योंकि पदार्थ का ज्ञान तो हमारा ही भाग है और अपने ऊपर छुरी चलाकर हम अपने को मारते हैं, भला उस भांति अपने को अधिक कहां समझते हैं ?

आज हवाई जहाज हैं, रेडियो हैं, तरह-तरह की मशीनें हैं । बैठे-बैठे यहीं हम को दुनिया प्राप्त हो सकती है । दस हजार मील की बात क्षण-भर में आजाती है । आदि-आदि ।

पहले एक पास के तीर्थ की यात्रा करने में बैलगाड़ी में दो महीने लग जाते थे । राह में चोर डाकू का डर अलग । जीने का कुछ भरोसा न था, तब भला राजनीति की बात तो कीजिए क्या । समाज की बात पूछिए तो गरीब के भक्षक सब थे, रक्षक अकेला विधाता था, जो उन के प्रति प्रायः अक्षम ही रहता है । बस जिसके हाथ में लाठी थी उस की सेवा में लक्ष्मी भी थी, कीर्ति भी थी । वगैरह-वगैरह ।

इसलिए हमारा जमाना बढ़-चढ़कर है । यह रोशनी का जमाना है । हम ने बहुत प्रगति कर ली है ।

इस तरह की बातें गलत तो बेशक नहीं है, पर सच कहूं तो मन को बहुत तृप्ति नहीं देतीं ।

ताजबीबी के रौज़े सी सुन्दर इमारत [illegible]

यूनान की प्रस्तर-मूर्तियाँ आज भी आदर्श सुन्दर हैं; अगर उपनिषद्-ज्ञान आज के लिए भी अगाध है, अगर राम और कृष्ण, क्राइस्ट और बुद्ध, आज के लिए भी विस्मय-पुरुष हैं और इस समय उनसा कोई नहीं है, तो क्या मैं इससे यह सिद्ध समझूं कि पिछली कई सदियाँ केवल व्यर्थ ही गई हैं और बीसवीं सदी में कुछ भी प्रगति नहीं हुई है ?

ऐसा कहना सही नहीं है। इस लिए पहला दावा भी इतना सही न समझा जाय कि अतीत की श्रद्धा हमें अनावश्यक ठहरे।

प्रगति क्या है ?—इसकी जितनी ज्यादा छान बीन हम करें उतनी ही कम है। लेकिन यह तो सब से पहले हम जान लें कि प्रगति अनादि-कालीन इतिहास के चरितार्थ की संगति से अविरुद्ध है। प्रगति वह गति है जो ऐतिहासिक संगति की सहयोगिनी है।

: २७ :

प्रगतिवाद

हिन्दी में प्रगतिवाद के बारे में आपने मेरा अभिप्राय चाहा है। पर मेरी कुछ कठिनाइयां हैं। पहले उन्हें रख दूं।

लेखक हिन्दी का मैं किसी चुनाव के कारण नहीं हूं। हिन्दी को मैंने अध्ययनपूर्वक नहीं अपनाया। इसलिए हिन्दी-भाषा अथवा हिन्दी-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व मुझ से नहीं हो सकता। प्रगतिवाद जो हिन्दी में है लगभग वही हिन्दुस्तान की कुछ दूसरी भाषाओं में है, वह वाद एक ही साथ कई भाषाओं के क्षेत्र में चलता हुआ दीखता है। हिन्दी में आकर और भाषाओं की अपेक्षा उसमें कुछ विशिष्टता आ गयी हो, ऐसा नहीं लगता।

दूसरी कठिनाई यह कि 'वाद' लगने के बाद शब्द का बहुधा सीधा अर्थ नहीं रहता। प्रगति शब्द तो साफ है। पर प्रगतिवाद वस्तु उतनी साफ नहीं रह जाती। साथ वाद के लग जाने से प्रगति शब्द एक विशेष (वादवादी) वर्ग का स्वत्व सरीखा हो जाता है।

तीसरी कठिनाई मौलिक है। लेखक जीवन को सीधा ग्रहण करने को लाचार है। वाद का माध्यम उसे प्राप्त नहीं। यानी कि वह अमुक दल, मत और सम्प्रदाय के माध्यम से अपने को प्रकट या सत्य को अङ्गीकृत नहीं करता। बल्कि काल-गत सत्य और उसके निज-गत जीवन में परस्पर सीधी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। दार्शनिक, धार्मिक या साहित्यिक मत-मतान्तर सहायक या बाधक होने के लिए उसे बीच में अनुपलब्ध रहते हैं। यह लेखक का दुर्भाग्य है, और यही फिर उसका सौभाग्य भी है।

इस ऊपर की बात को साफ करना होगा। लेखक और आलोचक में क्या अन्तर है? आलोचन-शक्ति से विहीन होकर लेखक हो ही नहीं सकता। उसी तरह आलोचक भी लेखक तो है ही। फिर भी अन्तर है। वह यह कि लेखक जीवन की आलोचना करता है, आलोचक उस आलोचना की आलोचना करता है।

इस बात को उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। सन्त और शास्त्री में, कवि और पण्डित में मूल-गत भेद । पहला अनुभव करता है, दूसरा जानता है। पहला अभिव्यक्त करता है, दूसरा प्रतिपादन करता है। पहले में स्फूर्ति है, दूसरे में प्रयत्न है।

इस तरह किसी वाद के विवाद में पड़ना साहित्यिक कर्म नहीं, 'सेकिंड-हैन्ड' कर्म है। वाद चिन्मय जीवन-तत्त्व नहीं, बल्कि उसके बारे में अहंकृत एवं रूढ़ धारणा है। साहित्य सच्चिदानन्द की प्यास और खोज का प्रत्यर्पण है। बीच में आने वाली मत-मान्यताएं उस प्यास को बहलाती और खोज को बहकाती हैं। इसलिए उन मतवादों में न उलझना ही इष्ट है।

फिर 'प्रगति' की पांक्त में मैं अपने को मानूं, ऐसी सुविधा मुझे नहीं दी गयी है। इसलिए उसका यथार्थ अर्थ तो अपने को अधिकारतः प्रगतिशाली कह सके, उसी से लेना चाहिए, या उसके संघ के मंत्री से लेना चाहिए। 'इस्लाम' की व्याख्या ईसाई या हिन्दू से क्या लाजएगा! इस्लाम का अधिकारी तो मुसलमान ही है। इसलिए मैं प्रगतिवाद के बारे में साधिकार-भाव से कुछ कहने की भूल नहीं करूंगा।

बस अपनी कैफियत दे सकता हूं। वह देने को कुछ है भी। लखनऊ-कांग्रेस के वक्त लखनऊ में ही एक जलसा हुआ, जहाँ प्रगतिशील-संघ की स्थापना हुई। प्रेमचन्द उसके सभापति थे। माना जा सकता है कि प्रगति के वादात्मक आन्दोलन का सूत्रपात वहीं से हुआ।

उसके बाद कान्फ्रेन्स हुई, दफ्तर खुला, संगठन बना, शाखाएँ जमीं, और कुछ नया रंग लिए हुए कहानियाँ, कविताएँ और खास तौर से आलोचना-विवेचनाएँ लिखी जाने लगीं। लखनऊ-कान्फ्रेन्स से पहले प्रेमचन्दजी कुछ इस तरह का जिक्र करते थे। उनकी बात का आशय था कि कुछ एक भाई हैं जो नौजवान हैं, कुछ करना चाहते हैं। वे अच्छे कुलीन, नए शिक्षित और विलायत गये हैं। पुरानी तरह के लोगों से उनका मेल नहीं खाता है। उस अनमेल की कुछ घटनाएँ भी तब उन्होंने सुनाई थीं।

शायद तब उन कुछ लोगों के भीतर जो भावना के रूप में रहा हो वह अब खुले कार्य-क्रम के रूप में दीखता है। तब वह आंतरिक था, अप्रकट था, अब वह आंदोलन है और प्रबल है। पर फल में वही कुछ होता है जो बीज में है। और सचमुच उस समय की भावना और इस समय की योजना में प्रकृत भेद नहीं है।

प्रगतिवाद के प्रचार के विगत और ब्योरों में तो मैं नहीं गया हूँ, पर उन लोगों के साथ का लाभ मुझे काफी मिला है। मैं मानता हूँ कि उनमें असन्तोष है। असन्तोष में ही सदा प्रेरणा है। और उनके असन्तोष का खिचाव उस स्वप्न की ओर है जो रूसी-क्रांति के आस-पास के रूसी साहित्य से उनके मन में झाँकी दे आया है।

इस जड़ की बात को जानकर प्रगतिवाद और प्रगतिवादियों के साथ समझौता और सहानुभूति आसान हो जाती है। मुझ पर छाप है कि रूसी 'साम्यवाद' के उत्तर या अनुकरण में हिन्दुस्तान की राजनीति में जो आन्दोलन चल रहा है प्रगतिवाद साहित्य के प्रति उसी का एक मोर्चा है। इसमें सहसा कोई बुराई भी नहीं देखी जा सकती। बल्कि यह तो आंदोलकों की तत्परता का प्रमाण है।

मार्क्सवाद के सहारे रूस में जो विचार-क्रांति और उससे लगी हुई

राजनीतिक क्रांति हुई वह अनोखी घटना थी। उसमें हम सब के लिए सबक है।

इतिहास ज्यों का त्यों अपने को दुहराता तो नहीं है, पर कुछ-न-कुछ सिखा जरूर जाता है। शायद इतिहास की पहली बड़ी सीख यही है कि उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती !

इस आंदोलन का साहित्य के सहज प्रवाह पर निश्चय ही असर पड़ा है। पर राजकारण में प्रकट होने वाले आग्रहशील आंदोलनों का परिणाम संस्कृति के अर्थ में मूल्यवान या स्थायी होता है, इसमें सन्देह है।

प्रचार, संगठन और मुखर शब्द के जोर से सत्ताएँ बिखरती और बनती दीखती हों, पर सत्य की सेवा उतनी उनसे नहीं होती। यानी मानव विवेक में कोई विकास नहीं सधता। कारण, उन आंदोलनों में अपने मत का आग्रह इतना होता है कि दूसरे के मत का आदर समुचित नहीं रहता। आग्रह में से आंतक उपजता है और आंतक विकास को उभारने के बजाय दबा ही सकता है।

मैं मानता हूँ कि साहित्य का मानव जाति के प्रति यदि कुछ उपकार या दायित्व है तो यह कि वह व्यक्ति में समूह की गतानुगतिकता के विरोध में विवेक को जगाता है। बेशक उससे व्यक्तिवाद (Individualism) के बढ़ने का खतरा है। पर इस खतरे को उठाकर भी साहित्य को राजनीति की दर्जाबंदी (Regimentation) की प्रवृत्ति पर पहरा देते रहना होगा। सामूहिक द्वेष और स्पर्द्धा को उभार कर राजनीति बड़ी उथल-पुथल कर दिखा सकती है। पर मानव संस्कृति के प्रहरी साहित्य को इस उत्पात की भीमता के बीच भी अपनी टेक रखनी होगी। नहीं तो राज-कारण का संशोधन फिर हो ही न सकेगा और इस तरह एक दिन दंडधारी सम्राट् कह उठेगा कि मैं ही ईश्वर हूँ।

नहीं, साहित्य राजनीतिक प्रयोजनों का वाहक नहीं होगा, प्रत्युत संशोधक रहेगा।

प्रगतिवाद के पीछे की मूल-दृष्टि मैं मानता हूँ कि कुछ दूसरी तरह की है। उसके लिए राजनीतिक प्रयोजन साध्य और सांस्कृतिक हेतु साधन है। साहित्य की वहाँ आवश्यकता है तो इस लिए कि राजनीति पुष्ट हो। मनुष्य वहाँ समूह के लिए है। आदि और अन्तिम लक्ष्य वहाँ शासन या शासन में परिवर्तन है। व्यक्ति अपने में नहीं बल्कि समूह में लय होकर सार्थक है। उस दृष्टि से मेरा मत-भेद है, यह कहना अधिक अर्थकारी नहीं। पर जो कहना चाहूँगा वह यह कि यह दृष्टि असाहित्यिक है, क्योंकि विधान के पीछे होकर मानव-चित्त और मानव-हित से वह असंलग्न हो जाती है।

साहित्य की एक मर्यादा है। सब में अपना-अपना मन है। उस सुख-दुःख अनुभव करने वाले मन को बाद देकर साहित्य का काम चल ही नहीं सकता। इसलिए वह और सब बातों को उस मनुष्य के अंतस्थ चित्त की तुला पर ही तोल सकता है। स्टेट उसके लिए अपदार्थ है, यदि वह व्यक्ति-चित्त से अनपेक्षित है। स्टेट का समर्थन वहाँ अपने में नहीं, बल्कि मनुष्य में है।

मैं मान लूंगा कि साहित्य इस तरह एकांगी है; कि व्यक्ति में ही सत्य नहीं, सत्य समाज में भी है। पर साहित्य की वह एकांगिता राजनीति की त्रुटि-पूर्ति के लिए आवश्यक हो जाती है।

असल में व्यक्ति को छोड़ कर सत्य-विचार या हितोपाय के लिये दूसरी कोई इकाई हमारे पास नहीं रह जाती। यही कारण है कि उस पक्की इकाई को कभी न भूलनेवाला साहित्य चिरस्थायी होता है और उस इकाई को बाद देकर चलने से राजकारण क्षण-स्थिर भी नहीं रहता।

भेद के उस स्रोत से चलने पर आगे भी कुछ इसी तरह के विषम परिणाम प्राप्त होते हैं। मसलन प्रगतिवाद संघर्ष की भाषा अपनाता है। विग्रह में से उसे गति चाहिए। विग्रह के बोध में से असन्तोष और क्रोध को जन्म मिलेगा, उसमें से कर्म-संकल्प और कर्म-तत्परता जागेगी। प्रगतिवादी लेखक कुछ इसी पद्धति पर चलता है।

उस विग्रह को तीक्ष्णतर बनाने की चाह में लेखन के टेकनिक ने भी तदनुरूप रूप पकड़ा है। कुछ चित्र होते हैं, जहाँ रंगों के वैपरीत्य से भाव को मूर्त किया जाता है। रंग वहाँ तेज होते हैं और एक दूसरे से झगड़ते जान पड़ते हैं। इस टैकनिक से निस्संदेह भावोदय कुछ सुगम होता है, और यदि प्रभाव ही उसकी सार्थकता समझी जाय, तो यह पद्धति सफल है। पर साहित्य प्रभावक होकर ही चरितार्थ नहीं होता। वह प्रभाव इष्ट दिशा में भी होना चाहिए। इष्ट से तात्पर्य कि सामंजस्य की दिशा में होना चाहिए। नहीं तो तीर-तलवार के अलावा कलम की जरूरत ही क्या थी ?

ऊपर जिस विग्रह की बात कही, वह समाज के भीतर वाला श्रेणी-विग्रह है। क्योंकि मन के भीतर के उससे कहीं मौलिक विग्रह को पकड़ पाना और उसे अंकित कर सकना तो कला की सिद्धि ही है। वह हर किसी के अन्दर चल रहा देव और दानव का विग्रह है; वह जड़-चेतन, भोग-योग, सत्-असत् का द्वन्द्व है।

प्रगतिवाद, किन्तु, उस गहरे द्वैत तक न जाकर गति और ऐक्य के लिए बाहर समाज में स्तर-विग्रह खोजकर उसे गहरा करने में लगता है। इसके समर्थन के लिए उसके पास मार्क्स-दर्शन है।

समाजवादी और साम्यवादी साहित्य न कम है, न कम पढ़ा गया है, कि उस बात को यहाँ दुहराने की आवश्यकता हो। समाज में निम्न श्रेणी है और उच्च श्रेणी है। उच्च में आलसी और

विलासी पूंजीपति हैं, निम्न में मेहनती और बेबस जन हैं। वे मुट्ठीभर हैं, ये करोड़ों हैं। वे प्रभु हैं, ये चाकर हैं। कोई वजह नहीं कि उनमें शत्रुता न हो। सद्भाव की उनमें बात करना पूंजी की प्रभुता का प्रस्त्र बनना है; यह अप्राकृतिक है, झूठ है। इससे उन श्रेणियों में जो अनिवार्य वैषम्य है, यदि वह सोया है तो उसे सुलगाना होगा, सुलगा है तो चेता कर उसे लपटों में भड़का देना होगा। इसी में से ऐक्य और साम्य प्रकटेगा।

ऊपर की बात विग्रह-भाषी प्रगतिवादी की बात है। कहते हैं, वह तर्क-सिद्ध है। शायद है। और तर्क ही वह था, हथियार जिस से मार्क्स ने और वादों को काटा और अपने को फैलाया। तर्क से उस तर्कवाद को काटने चलने की जरूरत नहीं है। पर तलवार हवा में चलकर हार जायगी और तर्क भी बिना निरोध के कुछ दूर चक्कर में चलकर आप थक कर सो रहेगा। इसी से साहित्य किसी को विरोध नहीं देता और सब वाद उसकी गोद में अपनी-अपनी जगह विश्राम पाते हैं। मार्क्स की साधारणतया अच्छे साहित्यिकों में गिनती होती रहेगी।

प्रगतिवाद की मूल मान्यता के अनुकूल धरती से चिपटी झोपड़ी और आसमान में गुर्राती पड़ोस की हवेली का, झोपड़ी की निपट हीनता और महल की अतिशयता का, एक की भूख और दूसरे के विलास का, परस्पर वैपरीत्य दिखाने से साहित्यिक प्रभाव का काम निकल जाता है। कभी-कभी वह विरोध इतना तीखा दरसाया जाता है कि शंका होती है कि कहीं झोपड़ी और महल के बसने वालों को अदल-बदल कर देने भर की तबीयत तो लेखक की नहीं है। वैसी तबीयत में विषमता का समाधान मैं नहीं मानता। यह समाधान इतना सीधा है कि उस सीधेपन से ही जाना जा सकता है कि वह समाधान नहीं है।

सामाजिक सम्बन्धों के विषय में फिर प्रगतिवाद की तदनुरूप कल्पना है। यानी दो के बीच का प्रेम ही सच है, उस पर कोई अतिरिक्त मर्यादा

झूठ है। इस मत को विवाह, परिवार या दूसरे सब सम्बन्धों में वह अमल में ले आना चाहता है।

प्रगतिवादी साहित्य में समाज-विधान का तिरस्कार है और स्वच्छन्द प्रेम का सत्कार। जो मर्यादा में बंधे वह प्रेम कैसा ? हार्दिकता के अभाव में दो व्यक्तियों की संयुक्तता ढकोसला हो जाती है और दंभ को जन्म देती है। विवाह से परिवार बनता है, और वे दोनों पूंजीवादी समाज के लक्षण हैं। वय आदि की अनुकूलता हो तो मिलन के लिए विवाह की बाधा क्यों ? अभिभावकों या हितैषियों की राय ले लें, चाहे न लें। विवाह हो ही तो विवाहित होने वालों के अतिरिक्त किसी दूसरे का काम उसमें क्या ? वे दो जब चाहें अलग हो जायँ। व्यवस्था की सुविधा के लिए स्टेट है ही। सन्तति के लिए विवाह नहीं, वल्कि सम्पूर्णता के लिए है। इससे सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों द्वारा अपनी भोग-शक्ति कायम रखना उचित है। मर्यादाओं के बन्धन से कृत्रिम शील और लज्जा आदि वुराइयों को जन्म मिला है, जिन्हें भलाई समझा जाता है। दृष्टिकोण वैज्ञानिक चाहिए, जिससे हम जीवन को खुले देख सकें और दिखा सकें। अश्लीलता विवाह-संस्था के कारण उत्पन्न हुई है और विवाह-संस्था संपत्ति वाले वर्ग का आडम्वर है। यौवन और सामर्थ्य और आकांक्षा रहते दो व्यक्तियों का परस्पर पूर्त्ति के निमित्त मिलन सर्वथा उचित और उपादेय है। और इस वारे में झूठी लज्जा नहीं वल्कि खुले आनन्द और गर्व का भाव होना चाहिए, इत्यादि।

ये उस मूल दृष्टि से प्राप्त होने वाले परिणाम हैं और तद्रूप प्रचार और प्रवाह के फल-स्वरूप जो रचनाएँ आ रही हैं, उनमें असली शकल में देखे जा सकते हैं।

इसी स्थल पर गहरा वुद्धि-भेद भी आज दिखाई देता है। एक के लिए जो लेख अश्लील और अनिष्टकर है, दूसरा उसे कर्तव्य रूप मानता है। वह उस पर आँख झुकाना तो दरकिनार तर्क की ललकार तक देने

को तैयार है। इस परिस्थिति से प्रश्न कुछ पेचीदा हो जाता है। और मैं मानता हूँ कि आपकी (वीणा-सम्पादक की) यही कठिनाई है।

जो आज है, मैं उसको इतना व्यर्थ नहीं मान पाता। मैं मानता हूँ कि अतीत की तमाम साधना के फल-स्वरूप आज का वर्तमान हमें प्राप्त हुआ है। भविष्य के निर्माण की आकांक्षा में क्या उस पर लात मारी जा सकती है? सच यह है कि जो किसी न किसी तरह वर्तमान को स्वीकार नहीं कर लेता वह भविष्य का निर्माता नहीं हो सकता। निर्माण-शक्ति आक्रोष से उत्तर शक्ति है। मुझे लगता है कि आक्रोष को जमा कर सिरजन-शक्ति बनने देने के धीरज का लक्षण प्रगतिवादी रचनाओं में जितना है उससे अधिक की ही साहित्य में मांग है।

मेरी प्रतीति है कि वाद पर अधिक जोर देकर प्रगति को कमजोर ही बनाया जा सकता है। पर प्रगति के नाम पर का जोर इधर उसके वाद पर ही पड़ रहा है। उससे गति हो नहीं सकती। प्रगति वादोत्पन्न व्यर्थता को परे हटा कर ही हो सकती है। पर किसी एक वाद को दोष देना भी कठिन है। वह दूसरे किसी वाद की प्रतिक्रिया में ही जन्म लेता है। तभी तो कहना होता है कि वाद विवाद से बनता और विवाद को बनाता है। हिन्दी में छायावाद जैसी चीज भला कब तक चलती? इसलिए इस नये प्रगतिवाद ने जन्म लिया। यह प्रतिक्रिया हमारे आँखों देखते हुई है, उसमें दलील को जगह नहीं है। मानो कि नवोदित ने वयप्राप्त से कहा कि तुम जाने किस अशरीरी भूत के पीछे पड़े हो कि यही पता नहीं कि वह कुछ है भी कि नहीं। देखो कि हम ऐसे यथार्थ को लेंगे जिसमें और चाहे कुछ न हो पर जिसकी मांसलता ही आंख वाले को तड़पा दे। तुम अपार्थिव को चाहो और मरो, हम एक दम पार्थिव को लेकर जियेंगे। तुम सूक्ष्म के नाम पर शून्य की ओर उड़ो, हम समूचे-के-समूचे स्थूल को भोगेंगे। असल में तुम जीवन की न्यूनता के कारण, लोक के भय से, अपनी वासना को आध्यात्मिक आराधना बना लेने

का दम भर कर अपने और सबके साथ छल करते हो। हम सच होकर कहेंगे कि यह है हमारी रंगीन वासना, वह नहीं है क्षीण-प्राण कि अवगुंठन की प्रार्थिनी हो। वह पीन-पुष्ट है, इससे अनावृत दिखने में भयभीत नहीं है।

स्पष्ट है कि यह परवर्ती वाद पूर्ववर्ती का प्रतिवादी पर्य्याय ही है। छायावाद ने प्रगतिवाद को जनमाया है। छायावाद में स्वस्थ, वलिष्ठ, तेजस्वी अध्यात्म न था। उसमें पुरातन की अनुकृति थी, सनातन की अनुभूति न थी। इससे पश्चिम में उदित होकर चारों ओर अपनी विजय का प्रसार करती हुई जो भौतिकता आई, जर्जर अध्यात्म के विडंवित आडम्बर में ही उसे सहज स्थान मिल गया। प्रगतिवाद वही है। पर वह अस्थायी चीज़ है। स्थायी उसका यही फल है कि छायावाद व्यतीत हुआ। यों अपने में उसमें स्वयं जीवनदायी कोई स्थिर तत्व नहीं है।

: २८ :

प्रगति : सच्ची या शाब्दिक ?

प्रगति पर लिखने के आपके निमन्त्रण को टालने योग्य मैं नहीं रह गया हूँ। उस पर मैंने पहले भी लिखा है। प्रगतिवादियों में मैं अपने कुछ मित्रों को गिन सकता हूँ। उनके साथ चर्चा में यह बात उठी कि उस सम्बन्ध में मैं जो सोचता हूँ उसे एक लेख में लिख दूँ। तब 'हंस' में कुछ लिखा भी था।

पर मेरी असमर्थताएँ हैं। शब्दों का शास्त्रीय अर्थ मुझे प्राप्त नहीं। यह भी देखता हूँ कि शब्दों का शास्त्रीय अर्थ असल अर्थ नहीं होता। व्यवहार में उनसे कुछ और ही बोध होता और भिन्न ही अभिप्राय लिया जाता है।

प्रगति शब्द को उसके शब्दार्थ में शायद अब हम नहीं ले सकते। सीधा-सादा अर्थ है उसका आगे बढ़ना। लेकिन वह अब एक विशिष्ट वर्ग के लिए विशेष अर्थवाची हो गया है। इसलिए उस शब्द के साथ व्यवहार करने में कठिनाई बढ़ गयी है।

प्रगतिशील, पुरोगामी आदि शब्द साहित्य के मामले में इधर बहुतायत से उपयोग में लाये जाते दीखते हैं। उनके तले सङ्घ, समितियाँ आदि भी बन गयी हैं। तब सच पूछा जाय तो 'प्रगति' शब्द का विशिष्ट अर्थ प्रगतिशील सङ्घ के पदाधिकारियों से प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा किसी दूसरे के अभिप्राय को प्रामाणिक मानने से इन्कार किया जा सकेगा।

आगे बढ़ने का सीधा-सादा मतलब अगर प्रगति शब्द से लिया जाय तो मैं मानता हूँ कि अपने प्रति ईमानदार लेखक प्रगतिशील है। सहज

सन्तुष्ट प्राणी वह लेखक नहीं होता। उसमें असन्तोष है, स्वप्न है। जहाँ है वहाँ से वह आगे पहुँचना चाहता है। इसी प्रेरणा में वह लिखता है।

यों प्रगति शब्द अत्यन्त प्राचीन साहित्य में से भी शायद प्राप्त हो सकता है। पर प्रगतिवाद वाली प्रगति हाल की जनमी है। एक दशाब्दी आयु उसकी पूरी हो गयी है, इसमें भी शक है। 'प्रगति' शब्द अनुवाद है। मूल शब्द प्रॉग्रेसिविज्म है। हिन्दुस्तान में और खास तौर से हिन्दी-उर्दू में जिस एक वर्ग के प्रयत्नों से प्रॉग्रेसिविज्म शब्द हमारे साहित्य में बहुत उभार में आया उस वर्ग ने विलायत में गठन और स्वरूप पाया था। कुछ लोग, जवान और पढ़े-लिखे और सम्भ्रान्त और असन्तुष्ट, विलायत में मिले। उन्होंने आपस में सोच-विचार किया और प्रॉग्रेसिव संघ कायम किया। वे लोग हिन्दुस्तानी थे और हिन्दुस्तान में आकर उन्होंने अपने विदेशी विश्वास के अनुसार काम किया और धीमे-धीमे यह शब्द हमारे बीच में भी उभर कर आ गया।

सच यह है कि मैं अब तक समझना चाहता हूँ कि 'वाद' वाली वह प्रगति क्या है? यानी ठीक-ठीक वे लोग क्या मानते हैं और क्या चाहते हैं। समय-समय पर उन लोगों से मैं मिला हूँ। उनका लिखा हुआ पढ़ा है और जब अवसर आता है उनकी व्याख्या को गौर से सुनता और समझने की कोशिश करता हूँ। मुझे सान्त्वना नहीं है कि उनकी बातों को मैं हृदय में ले सका हूँ।

यहाँ की राजनीति में एक विचारधारा दीखने में आती है। वह वर्ग-विग्रह चाहती है और एक वर्ग के हाथों दूसरे वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति की आशा रखती है। वह संघर्ष की परिभाषा में उन्नति को देखती है। नैतिकता अथवा हिंसा-अहिंसा आदि प्रश्न उसे उतने संगत नहीं मालूम होते। वह उन प्रश्नों को स्वयं भ्रान्त मनस्थिति का द्योतक समझती है। उसका मानना है कि आज के समाज की रचना ठीक नहीं है। वह शोषण पर अवलम्बित है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के हितों को निगल कर

फूला हुआ है। इसी से दूसरा वर्ग शोषित है, सूखा है, गुलाम और मुर्दार है। इस अन्याय और हिंसा पर खड़ी हुई समाज की स्थिति को ठीक करने के लिए हिंसा से डरना नहीं होगा। अहिंसा की आवाज वह उठाते हैं जो हिंसा के फलों को अपने हाथ से छोड़ना नहीं चाहते। अहिंसा सम्पन्न की नीति है, दरिद्र उसमें पड़कर और चौपट ही होगा। जरूरी है कि शोषित वर्ग में स्वाभिमान जागे, अपने अधिकारों की चेतना पैदा हो और उनमें शोषक के विरुद्ध प्रतिकार की भावना जगायी जावे। यह प्रतिकार की भावना उनका बल होगा। अन्यथा वे दलित ही बने रहेंगे और मानवता पर कलंक रूप होंगे। अगर मानव-समाज को कभी एकता और सुख-चैन तक पहुँचना है तो शोषक वर्ग को समाप्त करना होगा। वह समाप्ति शोषित और शोषकों का युद्ध चाहती है। उस युद्ध में दो ही दल होंगे। कोई या तो इधर होगा, नहीं तो उधर। एक पूँजी का दल है, दूसरी ओर श्रमिक का दल।

इस राजनैतिक विचारधारा के अनुकूल साहित्य के क्षेत्र में भी एक चेतना जगी। वह साहित्य की चरितार्थता इसी में मानती है कि शोषितों को, पीड़ितों और दलितों को, शासक, पीड़क और अन्यायी के विरुद्ध उभारा जाय। जो यह काम करता है वही साहित्य ठीक है। जो इस काम से बचता है वह उतना ही प्रतिगामी और प्रतिक्रियात्मक है। अर्थात् नीच समझे जानेवाले वर्ग में ऊँचे समझे जाने वाले वर्ग के प्रति जो तीव्र उत्तेजना भरता है वही साहित्य प्रगतिशील है। क्योंकि इन ऊँच और नीच वर्गों के संघर्ष में से ही उन्नति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए जो निम्न वर्ग की ओर से उस होती रहने या होने वाली लड़ाई को तीखी बनाता है, उसी को उन्नति और प्रगति का साधक समझना चाहिए और जो उस लड़ाई की सम्भावना को धीमी करता है, जो सद्भावना की और इधर-उधर की बातें करता है, वह बरगलाने और बहकाने वाला साहित्य है।

शायद ऊपर के शब्दों में मैं प्रगतिवाद के दृष्टिकोण को गलत नहीं रख रहा हूँ।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरा वह दृष्टिकोण नहीं है। मैं अपने से लाचार हूँ। मैं ऊपर कहे गये दृष्टिकोण को सही नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि उस विचारधारा में मन का आवेश है। अगर अन्दर की गर्मी को प्रकाश बनने दिया जाय तो उपर का विचार, मेरा विश्वास है, बदल जायगा। मेरा यह भी विश्वास है कि अगर किन्हीं किताबों की मार्फत नहीं; बल्कि सीधे अपने अनुभव और अमल में से जीवन-सम्बन्धी हम अपने विश्वास प्राप्त करने चलें तो ऊपर की भाव-धारा नहीं टिकेगी और हमें भौतिक से किसी अधिक स्वस्थ दर्शन का आश्रय लेना ही होगा।

मुझे संदेह है कि हमारे यहाँ साहित्य के धरातल पर चलने वाला प्रगतिवाद राजनैतिक लैफ्टिज्म का ही एक रूप है। वह मौलिक नहीं है। साहित्यिक नहीं है। उसकी जड़ें संस्कृति में नहीं है। वह एक मतवाद है। अहंवाद है। वह अमुक राजनीतिक दल के प्रचार का अस्त्र है।

अभी मेरठ की साहित्य-परिषद में श्री 'अज्ञेय' के निबन्ध में एक शब्द बहुधा सुन पड़ा था। वह मेरे बारे में ही नहीं और बहुतों के बारे में भी इस्तेमाल किया गया था। वह शब्द यों भी आजकल हर कहीं काम आता है। वह शब्द है, Escape।

एस्केप का अर्थ है, बचाव। बचाव किससे ? यही प्रश्न मुख्य प्रश्न है। जहर से मैं बचता हूँ, मौत से बचता हूँ। ऐसे बचने को मैं इष्ट मानता हूँ। विवेक में यदि कुछ अर्थ है तो यही अर्थ है कि किसी से बचना मनुष्य को सीखना होगा। दिन के काम से बचकर रात में हम नींद लेते हैं। रात के प्रमाद से बच कर दिन में काम करते हैं। ऐसे

दिन का काम और रात का आराम परस्पर-विरोधी न होकर समर्थक हो जाते हैं। बचाव की परिभाषा में जीवन के कर्ममात्र को समझा और रक्खा जा सकता है। वैसे 'बचाव' से बचाव चाहना कायरता है।

पर प्रगतिवादी इस 'बचाव' शब्द में अपना अर्थ भरता है। वह वर्ग-संघर्ष की परिभाषा में जीवन की समृद्धि और प्रगति देखता और कहता है कि जो उस संघर्ष को तीव्रता नहीं देता वह जीवन से भागता और बचता है। विद्रोह-चुनाव उसके निकट जीवन का लक्षण हो जाता है। वह शब्दों की गरमी और आवेश के तापमान से साहित्य की सार्थकता की गहराई नापता है। मुझे इसमें सन्देह है कि यह नाप ठीक है अथवा कि 'बचाव' शब्द का वह प्रयोग (मनो) वैज्ञानिक है।

अभी एक और लेख में पढ़ा कि जो मैं राम-नाम की बात करता हूँ वह अन्ध श्रद्धा का बढ़ाना है और क्रान्ति के बारे में जो मैंने लिखा वह घोर प्रतिगामिता है।

अगर प्रगति को प्रगतिवादियों की परिभाषा में ही स्वीकार किया जाय तो मैं अपना कसूर मानता हूँ। लेकिन मैं मानता हूँ कि प्रगति उस के वादियों की परिभाषा में बँधी नहीं है। ठीक जैसे कि अहिंसा की गति नामधारी गांधीवादियों की व्याख्याओं में बन्द नहीं है। और अगर यह ठीक है कि प्रगति सचमुच प्रगतिवादियों के ही वास्ते नहीं है तो मैं अपने इस हार्दिक विश्वास को प्रकट करना चाहता हूँ कि न राम नाम की श्रद्धा बुद्धि को कुंठित करने वाली है और न क्रान्ति शब्द के प्रति निर्मोह किसी तरह की प्रतिक्रिया है। बल्कि वे दोनों उससे कहीं स्वस्थ वस्तुएँ हैं और सच्ची प्रगति में सहायक हैं।

साहित्य को प्रचलित 'प्रगति' और 'प्रतिक्रिया' के पलड़ों में रख कर तोलना एकदम गलत है। क्योंकि वे शब्द राजनीतिक धरातल से नीचे हृदय के धरातल की सच्चाई को तनिक भी नहीं छू पाते हैं। साहित्य का रस उस गहराई पर है जहाँ हमारे अहंकृत मतवाद उतर कर पहुँच

नहीं सकते हैं और उतरते-उतरते भी जहाँ उनका आग्रह और वैषम्य और विरोध घुल कर लुप्त हो रहता है। साम्प्रदायिक मत-पन्थ का भेद जैसे कि साहित्य में नहीं टिक पाता, वैसे ही राजनैतिक मतवाद का दुराग्रह भी साहित्य में शून्य हो रहता है। मैं यह मानता हूँ कि मजदूरों और किसानों की हालत पर हा-हा कर के रोने वाली रचना बड़ी आसानी से प्रतिक्रियाशील हो सकती है और राजैश्वर्य में विरक्त भाव से पलते हुए बुद्ध की गाथा प्रगति को धन्य कर सकती है। गरीब-अमीर का भेद हम अल्प प्राणों ने अपने बीच पैदा किया है। हम उस भेद में मर रहे हैं और पिस रहे हैं। अमीर, अमीर बन कर गरूर में मानवता से च्युत होता है और गरीब, अपनी गरीबी में सकुच कर पालतू कुत्ते की तरह बरतता दीखता है। इसलिए बेशक अमीरी-गरीबी छोटी चीज नहीं है। वह आज के दिन हमारी मानवता पर अभिशाप की तरह से छाई हुई है। लेकिन साहित्य में भी जिस रोज यह अमीरी-गरीबी घुस जायगी, यानी जिस रोज हम साहित्य की अधिकृत आलोचना इस तुला पर होते हुए पाएँगे कि यह अमीर का साहित्य है और यह गरीब का साहित्य है, उस दिन को मैं धन्य नहीं मान सकूँगा। प्रगतिवादियों का प्रगतिवाद शायद उस दिन को लाना चाहता है। लेकिन साहित्य यदि समर्थ होगा तो वह दिन कभी न आ पायगा।

वाद वाली 'प्रगति'

(१) भविष्य को अतीत के विकास से अधिक उसके इन्कार के रूप में देखती है।

(२) वह वर्ग-विग्रह को बढ़ा कर वर्ग-हीनता लाने के मिथ्यावाद और भ्रम को पोषण देती है।

(३) सचराचर प्रकृति के साथ सामञ्जस्य नहीं बल्कि संघर्ष बढ़ाने की परिभाषा में वह मनुष्य की उन्नति की कल्पना करती है।

(४) वह कोरी राजनैतिक है, उसकी जड़ें संस्कृति में नहीं। अर्थात् वह मानव-प्रकृति के विकास में मदद करने के बजाय समाज के ढांचे में परिवर्तन लाने को अपना लक्ष्य मान उसमें अटक रहती है।

(५) उसमें मनुष्य के लिए अपनी वासनाओं के नियम और संयम का धर्म स्पष्ट स्वीकृत नहीं है।

इन कारणों से मैं नहीं जानता कि अपने को उस प्रगति का वादी मानने की इच्छा कर सकता हूँ।

: २६ :

कला-नियंत्रण

उस दिन खुली सभा में एक बुजुर्ग ने कहा कि कला पर नियंत्रण चाहिए। कला अच्छी चीज है, पर नियंत्रण के अभाव में वह जहरीली हो सकती है।

मैं बुजुर्ग की बात सुनता रह गया। सभा ने बात पसंद की। आपत्ति के लिए मेरे पास भी क्या था। पर सीधे वह बात भीतर उतरी नहीं। अनियंत्रित तो कुछ नहीं चाहिए। चलिए, नियंत्रण कला पर होगा। पर वह होगा किस ओर से ? यानी नियंत्रित कला होगी, नियंत्रक कौन होगा ? सभा से आने के बाद भी यह प्रश्न मुझसे सुलझा नहीं है। इससे उस उलझन को यहां ले बैठा हूं।

एक होता है आत्मनियंत्रण। वह तो कला में होता ही है। नहीं हो, या कम हो, तो कला-हीनता या कला की न्यूनता होती है। पर वह वस्तु गर्भित है। चर्चा है तो किसी दूसरे ही नियंत्रण की हो सकती है।

वैसे नियंत्रण बहुत-से हैं। खाने-पीने की चीजों पर नियंत्रण है, कपड़े पर, कागज पर, और तरह-तरह के करने-धरने पर नियंत्रण हैं। नतीजा कि ये चीजें खुली खरीदी-बेची नहीं जा सकतीं, न ली-दी जा सकती हैं। इसी तरह मनमाना वर्तन नहीं किया जा सकता। चोरी कर सकते हैं, लेकिन कानून के फंदे के लिए तैयार रहिए। ये नियंत्रण कानून की तरफ से आते हैं। और सरकार के हाथ कानून रहता है। इस तरह नियंत्रण के साथ ही मन में सरकार आ जाती है। नहीं तो नियंत्रण समझ में नहीं आता कि कौन तय करे और कौन पलवाए ?

यानी कला का नियंत्रण हो, इसका अर्थ हुआ कि उस पर आयद

होने के लिए सरकार की ओर से नियम-कानून बनाए जायँ। ऐसे सुनियंत्रित होकर कला हानि नहीं पहुँचा सकेगी, लाभ-ही-लाभ कर पायेगी।

बात तो ठीक मालूम होती है। पर सरकार, दुःख है, ईश्वर नहीं है। ईश्वर निराकार रहता है, वह बदलता नहीं, चुना नहीं जाता, मरता नहीं। होता है तो ऐसे कि कह दो नहीं भी है। सरकार के साथ ये अभव्य स्थिति नहीं हैं। मालूम होता है उस पर काल का बस है, हमारा-तुम्हारा भी उस पर कुछ बस है। सरकार कई हैं, बनती-गिरती हैं, और अदलती-बदलती हैं। सरकार अन्तिम वस्तु नहीं है कि मान लिया जाय कि सब कल्याण उससे है या सब अनिष्ट। वह अच्छी बुरी चीज है, जैसे कि आदमी की सब चीजें होती हैं। ईश्वर के साथ सुविधा है कि कोई उसे इन्कार करे, तो उसका कुछ न बिगड़े। ईश्वर सीधे उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। ईश्वर का कुछ कानून हो तो वह लिखा-छपा नहीं होता और खुद अपने अन्दर में उसे पाना होता है। बाहर कहीं उसकी सत्ता नहीं है। इसीलिए अगर तुम करते हो तो सजा भी अपने को तुम ही देते हो। यह सब मर्यादाएं सरकार के साथ नहीं हो पातीं। इससे सरकार का नियंत्रण आत्म-नियंत्रण नहीं होता, वह चौकस और पक्के बन्दोबस्त का होता है। ईश्वर के पास यह अवसर ही नहीं कि आत्म-नियंत्रण से दूसरा साधन अपना सके। वहाँ जो चोर है वही अपना चौकीदार है। अलग से चौकीदार रखने को वह लाए कहाँ से और तनख्वाह कहाँ से दे? सरकार के पास यह ताकत है। जिसको पैसा देकर सरकार चौकीदार बनाती है और थानेदार बनाती है, और जज और जेलर बनाती है, वे वही हो सकते हैं। जेलर अपने जेल का कैदी नहीं है, न्यायाधीश अपने न्याय की कुर्सी पर इतना है कि कटघरे में नहीं है। इसी तरह थानेदार और चौकीदार भुगताने वाले हैं, भुगतने वाले नहीं। सरकार के कानून में पालनेवाला एक होता है,

पलवाने वाला दूसरा होता है। पलवाने वालों की सरकार होती है, पालने वालों से प्रजा बनती है। वह कानून सरकारी नहीं जिसमें यह दो वर्ग नहीं। नियंत्रण डालने वाले पर वह नियंत्रण स्वयं नहीं आता। राजा राज 'पर' रहता है, राज 'में' रहने वाली प्रजा कहलाती है।

नियंत्रण में यदि कुछ अर्थ है तो यह बाहरी अर्थ ही है। जो अंकुश रूप न हो वह नियंत्रण क्या ? इस तरह बुजुर्ग के कहने का मतलब एक ही हो सकता है, यानी कि कला पर शासन की ओर से नियंत्रण चाहिए। उस कथन में असत्यता है भी नहीं। शासन नियंत्रण ही न करे तो करे क्या ? नियंत्रण के सिवा शासन को कुछ काम नहीं। उस शब्द में ही दूसरा कुछ अर्थ नहीं। शासन जिसका काम है वह एक वही कर सकता है। दूसरा कोई काम का काम वह करे कैसे ? और शासन का काम अभेदभाव से होगा। अपराध पर होगा, कला पर होगा। दुष्ट पर होगा और साधु पर होगा। कारण, शासन शासन है। उसका काम देखना नहीं है, करना है। हृदय उसे बाधा है और हाथों पर उसे बस है। उसको अपने प्रति तत्पर रहना है। यानी शासन को अपने में बराबर शासन का चेत और मद बनाए रखना है। मद कम हुआ कि वह अपने दायित्व से च्युत समझा जायगा।

स्वीकार करना चाहिए कि शासन आवश्यक है। इसी से शास्ता और शासक की वृत्ति रखने वाले प्राणी जन्म लेते हैं। म्यान में तलवारें दो नहीं होतीं, माँद में शेर भी ऐसे ही दो नहीं रह सकते, न राज में दो राजा रह सकते हैं। शासन की इस वृत्ति का दान करने में प्रकृति कृपण नहीं रही है। प्रकृति, जो नाना जलचर उपजाती है और थलचर और नभचर भी, सदा की वदान्य ठहरी। परिणाम कि शासन के लिए लड़ने वाले राजनीतिक दलों की कहीं कमी नहीं है। और हर दल में राजकर्म और राजनेतृत्व के उमीदवारों की संख्या कम नहीं है। इस बिरादरी की शुमार बढ़ती ही जा रही है। साबित है कि हम विकास

पर हैं, कारण शासकवृत्ति का आदमी वढ़ती पर है और वह विकसित मानवता का नमूना है। तभी अनिवार्य है कि वह साधारण रहकर तुष्ट न हो, उसे विशिष्ट बनना ही पड़ता है। सिर चढ़े विना उसे तृप्ति नहीं। साधारण-जन श्रम करते हैं, वह नियंत्रण करता है।

आप क्या करते हैं ? ओह, रचना कर रहे हैं। अच्छी बात है, कीजिए रचना। रचना का महत्त्व है। उपयोगी काम कर रहे हैं आप। लेकिन मुझसे पूछते रहिएगा। देखिए, लोक-मंगल एक वस्तु है। सव तदाधीन होना चाहिए, आशय आप जानते ही हैं, ममाधीन। कीजिए, कीजिए, काम आप अच्छा कर रहे हैं। कला दिव्य तत्त्व है, पर नियंत्रण याद रखिएगा।

मैं समझता हूँ ठीक वात है। दिव्य को मर्त्य का नियंत्रण स्वीकार करना चाहिए। तत्काल की उपयोगिता के नीचे ही सवको रखना चाहिए। शासन दुःशासन हो यह दूसरी वात है। पर शासन तो है, और उसका अनुशासन पहली वात है।

रचनाकार का साहस कि रचना में से मुँह उठाकर उसने संवोधनदाता की ओर देखा। पूछा—"आपकी कृपा है, किन्तु कृपया आप कौन हैं ?"

हितैषी ने मुस्कराकर कहा—"ठीक है, ठीक है, आप कला में डूवे हैं, इससे आपको अपरिचय हो सकता है। कला आत्मरंजन में जो रह जाती है। मेरा स्थान लोक-मंगल में है।"

कृतिकार को शनैः-शनैः मालूम हुआ कि वह स्वयं व्यक्ति है, इसी से अनजान रहा है। ऊपर जो उसके विराजमान है, जिसकी कृपा के नीचे सुरक्षित रहकर वह अन्न-वस्त्र-आच्छादन पाता रहा है, वह यही नियंता वर्ग है। उसने संवोधन मस्तक पर लिया और वह विनम्र हुआ।

शासन का स्वभाव प्रकृत और इसलिए शासन का काम आवश्यक है। वह स्वभाव अतृप्त रहेगा और वह काम अपूर्ण यदि उसके नीचे झुकने के लिए लोग न होते रहें। इसलिए सिद्ध है कि कला का धर्म

विनम्रता है। अंकुश उस पर पड़ना चाहिए जिसका धर्म सहना है और उसकी ओर से आना चाहिए जो स्वयं निरंकुश है। तीर का फल सामने को रहता है, छोड़ने वाले की तरफ नहीं।

कवि निरंकुश होता है, लेकिन यह पुरानी उक्ति है। शायद तब की जब राजा कुछ अंकुश में रहा हो। अब जमाना दूसरा है। युग अब नये मत का है। राजछत्र तो गया, तब होता होगा कि राजा पर अंकुश हो। जैसे एक हो गये हैं राजा रामचन्द्र। वह प्रजा के एक अदना आदमी से डर गए। एक अकेले धोबी की बात की भबकी में ऐसे आए कि अपनी सती-सतवन्ती सीता को वनवास दे बैठे। धोबी वह किसी तरह की कांग्रेस न था, न कांफ्रेंस था। उसकी बात रिजोल्यूशन भी न थी। फ़िर जो उससे डिग आए वह महाशय साफ है कि असली शासक-स्वभाव के न रहे होंगे। तभी तो राम-राज्य पुराना हुआ। अब लोकतंत्रवाद का समय है। यहाँ राजपुत्र होने से राजा नहीं होता, लोक-मंगल की चिन्ता में से शास्ता-वर्ग का उदय होता है। वह फिर लोकमत को निर्मित और नियंत्रित करता है। लोकमत उस पर अंकुश नहीं होता, लोकमत पर उसका अंकुश होता है। वह सूत्र देता है। ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल उसे भाष्य देते हैं। इस सुगठित और सुनियंत्रित लोकमत से शासकवर्ग का निर्वाचन होता है और वह स्टेट का संचालन करता है। स्टेट यानी मूर्त लोक-मंगल। स्टेट यानी ईश्वर। स्टेट यानी चरम सत्य। स्टेट यानी दुर्ग और तीर्थ।

यह आज का प्रकाश और अब तक का विकास है। स्टेट कुल है और सब है। शेष सब खंड है और अंग है। अंश के लिए समग्र की ओर से नाना नियंत्रणों का विधान होगा। इस समग्र में केवल दो दल होंगे। एक शासकदल जो केवल नियम रचेगा और उनके पालन का विधान रचेगा। यह काम प्रमुख होगा, और लेजिस्लेशन-एडमिनिस्ट्रेशन कहलाएगा। दूसरा दल शेष वह सब रचना करेगा जिसमें श्रम लगता

और साधना लगती है। उगाना-बनाना इसका काम होगा। यह गौण काम होगा, क्योंकि अधिक आवश्यक होगा। इसी कारण यह कम योग्यता का समझा जायगा।

शासन, उसकी जड़ें स्वभाव में होने के कारण, अनावश्यक नहीं हो सकता। इसलिए वह सब ओर आवश्यक है। सबका शासन, वैसे कला का भी शासन। शासन का काम अभेद दृष्टि और तटस्थ वृत्ति से होना चाहिए।

वह सब नये जमाने की बात तो ठीक है। पर यह जमाना क्या लद न जायगा? फिर क्या कुछ नया और न आयगा? क्या इस सदा की सब नित-नवीनता के नीचे सनातनता ही न रहेगी? क्या कभी होगा कि स्टेट सब को ओझल कर ले और उसके पार पहुँचने की आदमी के पास न क्षमता रहे, न आकांक्षा? क्या यह हो सकेगा कि आदमी डर में इतना झुके कि प्रेम में झुकना भूल जाय? क्या यह होगा कि आदमी दल में और समूह में इतनी पूर्णता अनुभव कर आय कि चारों ओर फैले इस असीम के प्रति निस्संग और निश्चेतन हो जाय और प्रार्थना से उत्तीर्ण?

ऐसा तो मुझे होता नहीं दीखता। इससे नियंत्रण को सर्वोपरि भी मुझ से माना नहीं जाता। जहाँ नियंत्रण है वहाँ प्रेम के माथे अप्रेम भी है। कला की सृष्टि प्रेम में से है। क्या अप्रेम को प्रेम से महत्त्व देना होगा?

जान पड़ता है, शासन अन्तिम वस्तु नहीं है। मानव-संभावनाओं में वह कुछ क्षति ही लाता है। बाहरी शासन आंतरिक अनुशासन की कमी का ही द्योतक है। आत्मानुशासन दूसरे को ह्रस्व नहीं करता, बल्कि उसकी अन्तश्चेतना को जगाकर उसके व्यक्तित्व को स्फूर्त और दीप्त करता है। मानव की संपूर्ण संभावनाओं को पुष्पित और फलित करने

के लिए बाहरी शासन के लोभ से निवृत्ति पानी होगी। वास्तविक और स्थायी लोक-मंगल उससे सधता है, यह भ्रम है। ऐसी धारणा अवैज्ञानिक है और अपनी इच्छापूर्ति के निमित्त ही हम उसका सहारा लेते हैं। स्वयं शासन का शास्त्र यह मानता है कि अन्त में सफल समाज वह है जहाँ शासन की कोई बाहरी संस्था नहीं है, वह सब में सहज अन्तस्थ है। स्टेटलेस सोसाइटी सब राजनीतिक मतवादों का और राजशास्त्र का आदर्श है। वह सोसाइटी अनियंत्रित नहीं होगी, केवल नियंत्रण का कोई बाह्य अधिष्ठान या तंत्र वहाँ आवश्यक नहीं रह जायगा। वहाँ दमन की या द्रोह की प्रेरणा न होगी और आदमी प्रेम में अपनी और दूसरे की संपूर्ति खोजेगा। स्पर्द्धापूर्वक दूसरे की हानि में अपना लाभ नहीं देखेगा।

अपने में नियम और दूसरे पर नियंत्रण चाहने की भावना वासना है। उसमें कहीं चूक है। यह दोष सूक्ष्म है और लोक-कर्मियों में उसके पनपते रहने का अवसर बना ही रहता है। सुधारक और उद्धारक, नेता और नियंता, बहुत महत्त्वपूर्ण सेवा समाज की करते हैं। लेकिन अपने को वैसा मान लेकर वह कुछ अपनी असेवा भी कर जाते हैं। अपनी असेवा में दूसरे की सही सेवा कैसे हो सकती है। इसलिए ऐसे नेता और नियंता से भी एक बड़ी कोटि है। उस कोटि के पुरुष प्रेम के होते हैं, उतने विद्या और ज्ञान और कौशल के वे नहीं होते। वह पद पर नहीं होते, मानो सबके समकक्ष बने रहने को सदा धरती पर रहते हैं।

कला का उत्स वहीं है। वहाँ से जीवन-कला उदित होती है। किन्तु किसी अदृष्ट दोष से वह जीवन में नहीं खिल पाती तो दूसरे माध्यम का सहारा लेती है : शब्द का, ध्वनि का, वर्ण का, आकार का। व्यक्ति तो सदा ही सदोष है, पर कला की प्रेरणा में दोष को रहने की जगह नहीं मिलती। उसको कला का व्यक्ति अपने में झेल और भुगत लेता है। तब ही देखते हैं कि उदात्त कला का स्रष्टा अनुदार, महान का निम्न, साधु का दुष्ट और सुन्दर का कुरूप हो गया है। इस विरोधाभास से घबराकर

कला के प्रति हम में अहंवृत्ति जाग सकती है। अपनी वास्तविक और तात्कालिक सुख-सुविधा के बीच होकर हम किंचित् उपेक्षा और कृपा से उस कला और कलाकार को ले सकते हैं। किन्तु वह सत्य दृष्टि न होगी, न वह सहायक होगी।

सच पूछिए तो शासन एक मोह है, मद है। हम सब ही अधूरे ठहरे। कोई हीन-भाव से मुक्त नहीं है। इस हीन-भाव में से कब्ज़ा करने की इच्छा आती है। शासन चाहना अपनी हीनता को हठात् भरने का प्रयास है। पर उसमें झूठ समाया है। हीनता की स्वीकृति प्रेम है। कलाकार ऊपर से कितना भी शेखीबाज हो, (इस जगत् में शायद उसकी आवश्यकता भी है, वह बचाव का उपाय है) पर भीतर से अपनी एकांत निरीहता, निम्नता को वह अपने निकट निष्कपट स्वीकार करता है। वह ऊपर होकर किसी अहंकृत सिद्धांत-बुद्धि में से शेष को नहीं देखता, कमजोरी की अनुभूति यानी सहानुभूति में से देखता है। यहीं से कला का उद्गम है।

ऐसे देखें तो मेरी मानने की इच्छा होती है कि कला वह अंकुश है जिसे शासन के लिए रहना आवश्यक है। कवि को निरंकुश इसलिए होना होगा कि हाकिम पर अंकुश रहे। इससे उल्टा होगा तब मानवता के अभाग्य का दिन होगा। सांसारिकता पर कला का अंकुश चाहिए ही, और राजनीति सांसारिकता का पुंज और बिम्ब है। कला हमारे यहाँ संतों की संपत्ति रही है। शासन सीमित होता है, वह मेरे-तेरे में रहता है। वह अपने लिए दूसरे को गैर और दुश्मन मानता है। कला का ममत्व व्यापक है। देश के लिए विदेश से वैर और विद्वेष शासन को जरूरी हो सकता है। शासन चीज ही ऐसी है, वह भय में से होती, भय पर टिकती और भय उपजाती है। पर कला अभय है। वह तात्कालिक से बंधी नहीं है, इससे वह उस उपयोगिता को भी लाँघ जाती है।

आज जब वादों की और देशों की स्थिति परस्पर विवाद और रगड़ की है, शासन का, जो कि दल और देश के प्रण से आवद्ध है, कला पर नियन्त्रण का हक मानना मुझे सही नहीं मालूम होता। बल्कि कला, जो कि मूल से शिखर तक मानव के साथ है और बीच की किसी मानी हुई हमारी संज्ञा को माथा टेकने से बरी है, शासन के आवेश को बहुत मात्रा तक नियन्त्रित रखने में उपयोगी हो सकती है। क्या हम अपने इस या उस नाम के खयाल के पीछे आदमी को अक्सर भूलते नहीं रहे? क्या काफी कुछ हमारी प्रगति और उन्नति मानव की और मानवता की कीमत चुका कर नहीं होती गई? मानवता गिर रही है, क्या इसीलिए नहीं कि वादमत्ता बढ़ रही है? ऐसी हालत में एक अकेली निर्विशेष मानव-सहानुभूति के बल पर होने वाली कला को यंत्राधीन और दल-शासनाधीन बनने देना शुभ होगा, ऐसा प्रमादवश ही माना जा सकता है।

: ३० :

साहित्य और कला

अभी वम्बई में एक अजव अनुभव हुआ। एक जगह वोलना हुआ तो वहाँ अपनी तरफ से मैंने कुछ ऐसे वाक्य भी कहे जिनसे मैं अपनी अज्ञता और निरीहता प्रकट करना चाहता था। यह कि मैं पढ़ा-पढ़ाया नहीं के वरावर हूँ और कि किसी और तरह के गुमान के लिए भी मेरे पास कोई वहाना नहीं है। कहा यह इसलिए था कि मेरे शब्दों को कोई अतिरिक्त महत्त्व न दिया जाय और उनसे केवल मेरा दर्द ही लिया जाय।

लेकिन लौट कर घर आता हूँ तो एक गुस्से से भरा पत्र मिलता है। उस गोष्ठी में सम्मिलित एक भाई ने लिखा था कि तुम को अपने ज्ञान का वड़ा अभिमान मालूम होता है और तुम जैसे अहंकारी आदमी पर मुझे दया आती है। और भी कुछ उस पत्र में वात थी लेकिन सवके ऊपर होकर यह गुस्सा ही उसमें प्रकट होता था।

इस अनुभव में से मैंने निकाला कि शब्दों से दूसरे को केवल अर्थ नहीं मिलता, वह नहीं मिलता जो तुम देना चाहते हो, वल्कि किसी न किसी तरह कुछ वह मिल जाता है जो कि तुम असल में हो। यानी साहित्य में अपना जानना नहीं दिया जाता है वल्कि अपना होना (अपनी वास्तविकता, अपनी आत्मता को) ही दिया जाता है।

इसी में से यह वात भी निकलती देखी जा सकती है कि जो ज्ञान में से लिखता है वह पाठक को अप्रभावित छोड़ सकता है। यानी वह अपने को वाँट नहीं पाता, वल्कि अपने में अपने को थोड़ा अतिरिक्त गर्विष्ठ और अकेला वना लेता है। अर्थात् सवाल नहीं है कि कोई क्या कहता

है, सवाल है कि वह क्या होता है। उपदेश इसलिए व्यर्थ है। उदाहरण हो जाओ तो शिक्षा उसमें से स्वतः फूटेगी। Example is better than precept का मतलब यही तो है कि precept वह सफल है जो स्वयं Example में से आता है। इस में शिक्षा की अवज्ञा नहीं है, बल्कि उस के मर्म की व्याख्या है। शिक्षा की आवश्यकता कभी समाप्त होने वाली नहीं है लेकिन शिक्षक के लिए अनिवार्य है कि वह अनुभव करे कि अन्य के उपलक्ष से वह स्वयं अपने को संबोधित कर रहा है।

शब्द जब मुझ से जाकर उतना अपने को नहीं जितना मेरे भाव को कहते हैं, तब साफ हो जाता है कि शब्द और भाषा की चिन्ता अपनी खातिर अनावश्यक है। गलत या सही आदमी होता है, भाषा स्वयं गलत या सही नहीं हो सकती। साहित्य की भाषा की शुद्धि और अशुद्धि कभी किसी व्याकरण के पास नहीं रह सकती। उसका मान तो सुधी और सहृदय पाठक के पास है।

यह तो कुछ अत्यन्त निजी बात सी मालूम होती होगी। लेकिन प्रत्यक्ष परिणाम उत्पन्न करने वाले काम-काज से भी इस तत्त्व को मैं अलग करके नहीं देख पाता।

जैसे मानिए कि एक पत्रिका मेरा लेख छापती है। वह बड़े आकर्षक रूप में छपती है जिसके मुखपृष्ठ पर किन्हीं नवाविष्कृत रूपसी फिल्म-तारिका का चित्र है। अन्दर भी जहाँ-तहाँ रूप-सौंदर्य बिखरा हुआ है। यह पत्र, मान लीजिए कि, पारिश्रमिक के रूप में उससे दुगनी-तिगनी रकम देता है जो और जगह से मिलती है। अब अगर मैं जानता हूँ कि उस पत्रिका में छपे हुए वे शब्द पत्रिका की रुचि पहले देंगे, मेरी आत्मा को नहीं, तो मैं पारिश्रमिक की रकम के लोभ के रहते भी उसमें लेख छपा कर तृप्तिलाभ नहीं कर पाऊँगा।

हम देखें कि इससे आजकल साहित्य में जिस गत्यवरोध की चर्चा

चल रही है उस पर काफी कुछ प्रकाश पड़ता है । मैं दूसरों में अपने को बाँट सकूँ तभी लेखक की हैसियत से मैं कुछ तृप्ति पा सकता हूँ । मेरे शब्द अगर यह काम नहीं करते हैं, बल्कि किसी की व्यवसाय-तृष्णा के प्रसार के साधन बन कर रह जाते हैं तो मैं लिखने का उत्साह बनाए नहीं रह सकता हूँ । अर्थात पुस्तक और पत्र के प्रकाशन में पूंजीवादी और अर्थवादी वृत्ति का बढ़ना साहित्य-सृष्टि के कम होने से सीधा संबंध रखता है ।

चाहे-अनचाहे हमारा कार्य-व्यापार हमको ही प्रकट करता है । हमारी भावना और हमारा रंग-ढंग दो नहीं हो सकते । दो रखकर हम अपने को ही भुलावे में डाल सकते हैं, दुनियाँ को नहीं पा सकते । शैली आत्मा का प्रतिबिम्ब है, वह तर्ज नहीं है । वह व्यक्ति से अभिन्न है । अर्थात्, आत्मा के अनुरूप हमारे समूचे व्यक्तित्व को ढलते जाना होगा । शैली को व्यक्ति के अनुरूप और रूप-आभा को गुण के अनुरूप होना होगा । तड़क-भड़कदार टाइटिल से पुस्तक की बिक्री अगर बढ़ती है तो निश्चित है कि साहित्य का गांभीर्य उन परिस्थितियों में घटता होगा । ऊपर से प्रभावित करने की इच्छा अन्दर से प्रभावित करने की शक्ति के दिवाले का नाम ही हो सकता है । गुण का विश्वास नहीं है तो रूप का शृङ्गार आवश्यक हो ही जाना चाहिए । रूप-सज्जा की ओर ध्यान कम तभी हो सकता है जब गुण की ओर ध्यान अधिक हो ।

तरह-तरह की चर्चाएं सुनता हूँ । जैसे यही लीजिए कि स्टेज प्रधान है और नाटक की रचना उसी दृष्टि की सीमा में हो । प्रसाद नाट्य-कला में अधूरे उतरते हैं क्योंकि स्टेज पर पूरे नहीं उतरते ! यह औंधी बुद्धि की बात हुई । गेटे के लिए स्टेज को ही उठना पड़ा । उसकी बेकदरी स्टेज के मान से नहीं हो सकती थी । हमारी अधिकांश रचना माध्यम की मर्यादा से दबकर चलती है । तो यही कहना होगा कि आत्मा प्रबुद्ध नहीं है और शरीर ने उसको दबोच रखा है । शरीर की यानी

माध्यम की सार्थकता इसमें है कि वह आत्म को व्यक्त करे। प्रकाशन से लेखन चले, रूपाकांक्षा से फिल्म चले, आकार के अनुगमन में भाव चले; संक्षेप में, धन से श्रम, लोभ से व्यवित और शक्ति से नीति चले तो हमारा संकट बढ़ने ही वाला है और कला और संस्कृति ये केवल विलास के साधन रह जाने वाले हैं। अन्यथा तो साहित्य और कला की रचना हमें बन्धनों से उत्तीर्ण करने वाली हो सकती है। राजनीति यदि भौंचक है और झमेले में है तो कला उसको उबारने वाली हो सकती है। अन्यथा तो वह राज्य और राज-काजियों के समक्ष प्रार्थी बनी ही रहेगी।

: ३१ :

प्रेमचन्द का गोदान : यदि मैं लिखता

अगर मैं गोदान लिखता ? लेकिन निश्चय है मैं नहीं लिख सकता था, लिखने की सोच नहीं सकता था। पहला कारण कि मैं प्रेमचन्द नहीं हूँ, और अन्तिम कारण भी यही कि प्रेमचन्द मैं नहीं हूँ। वह साहस नहीं, वह विस्तार नहीं। गोदान आस-पास पाँच-सौ पृष्ठों का उपन्यास है। उसके लिये धारणा में ज्यादा क्षमता चाहिए, और कल्पना में ज्यादा सूझ-बूझ। वह न होने से मेरा कोई उपन्यास ढाई सौ पन्नों से ज्यादे नहीं गया। मैं लिखता ही तो गोदान करीब दो सौ पन्नों का हो जाता। गोदान का एक संक्षिप्त संस्करण भी निकला है और मानने की इच्छा होती है कि उसमें मूल का सार सुरक्षित रह गया है। यानी दो-सौ ढाई-सौ में भी गोदान आ सकता था। और क्या विस्मय मोटापा कम होने से उसका प्रभाव कम के बजाय और बढ़ जाता, अब यदि फैला है तो तब तीखा हो जाता।

पुस्तक जब शुरू में निकली थी तभी मैंने पढ़ी थी। याद पड़ता है प्रेमचन्द ने एक अगाऊ प्रति भेज दी थी। यह कोई अठारह वर्ष पहिले की बात है। तब से पुस्तक की कथा मन पर कुछ धुंधली हो आई थी। उस समय मैंने लिखा था कि गाँव की कथा पर उसमें शहर कुछ थोपा हुआ सा है, वह अनिवार्य नहीं है, पुस्तक की कथा के साथ एक नहीं है। हो सकता था कि होरी को कथा के केन्द्र में रहने के लिये, और ऐसे कि सब प्रकाश उसी पर पड़े दूसरे ब्यौरे ध्यान को खींच कर अपनी ओर न ले जायं, शहर को पुस्तक से मैं अनुपस्थित हो जाने देता। ऐसे संभव था कि शहरी जीवन के प्रति विरोध और अनास्था प्रकट करने का सुभीता न रहता, न ग्रामीण जीवन के प्रति रुचि और सहानुभूति को उभारने का उस प्रकार सुगम अवसर। लेकिन मैं उसका लोभ न करता।

कैसे कहूँ कि प्रेमचन्द जी को उस लोभ का संवरण करना चाहिये था। क्योंकि यह प्रतिपादन तो कदाचित् प्रेमचन्द की प्रेरणा में मुख्य तत्त्व बन कर रहा है। लेकिन फिर भी मेरी धारणा है कि गाँव और शहर की तुलना और जय-पराजय से अलग करके होरी का चित्रण उतना विविधतापूर्ण और रंग-विरंग चाहे न बनता, फिर भी उसमें अधिक व्यक्तित्व और एकत्व हो सकता था।

अठारह वर्षों के बाद वह पुस्तक अब फिर जहाँ-तहाँ से देख गया। तब की धारणा नष्ट नहीं हुई, बल्कि पुष्ट ही हुई। हटात् शहर ने आकर पुस्तक के गाँव को चमकाया नहीं है बल्कि कहीं कुछ बखेरने और ढकने का प्रयास किया है, ऐसा प्रतीत हुआ।

किताब में एक-पर-एक पात्र आते गये हैं। उनकी संख्या पर विस्मय होता है। होरी, धनियाँ, झुनियाँ, गोबर, हीरा, सोभा, सोना, और रूपा तो एक परिवार के ही हैं। भोला, दुलारी, झिंगुरी साहू, दाता दीन, मंगरू साह, पटेश्वरी, मातादीन, वगैरह भी आस-पास के लोग हैं। शहर के राय साहिब, मेहता, खन्ना, तनखा, मिर्जा, मालती, आदि आज की नई सभ्यता के लोग हैं। मानना होगा कि खासा मेला है, अगर्चे सबका उसमें अपना-अपना रंग और अपनी व्यक्तिमत्ता है, उनका चित्र सामने आ जाता है। लेकिन शायद मैं होता तो सबको न छूता, दो चार को लेकर ही काम चला लेता। कुछ तो इसलिये कि मेरा बस उतना नहीं है, कुछ इसलिये भी कि संख्या की अधिकता अवगाहन में सहायक नहीं भी होती. गहनता विस्तार में छिप जाती है, और दृश्य रूप अदृश्य गुण से प्रधान हो जाता है। उससे समाज का और समय का चित्र तो मिलता है, पर आत्म की उतनी गहरी अनुभूति कदाचित् प्राप्त नहीं होती। मुझे ठीक मालूम नहीं कि साहित्य का क्या लक्ष्य है, वह हमें वस्तु-बोध देने के लिये है, कि आत्म-प्रकाश देने के लिये ? साहित्य का जो भी इष्ट और उद्दिष्ट हो, स्वीकार करना चाहिये कि मेरी अपनी रुचि विविध

जानकारियों के प्रति उतनी नहीं है, न परिचय के विस्तार के प्रति। परिचय अधिक से न हो किन्तु अभिज्ञता कुछ से भी हो तो मुझे यह बड़ा लाभ जान पड़ता है। गहरा मित्र एक हो तो उसकी कीमत सौ जान-पहिचान वालों से मेरे लिये ज्यादा हो जाती है। निश्चय प्रेमचन्द हमें बहुत देते हैं, इतनी तरह-तरह की जानकारियाँ देते हैं कि हम समा नहीं सकते। लेकिन एक दूसरे तरह की उपलब्धि भी है। बौद्धिक से उसे आत्मिक कहा जा सकता है। वह व्यथा की सघनता के रूप में मिलती है। मैं लिखता तो मेरी इच्छा रहती कि मैं उसका ध्यान विशेष रक्खूँ।

प्रेमचन्द भाषा के जादूगर हैं, मुहाविरे उन्हें सिद्ध हैं। भाषा का यह खेल और यह प्रभाव जैसे उन्हें याद से नहीं उतरता है। इससे जगह-जगह प्रयोग ऐसे आ जाते हैं जो अपने खातिर और सिर्फ चमक के लिये आये लगते हैं। जैसे एक जगह है :—

"पुन्नी हाय-हाय करती जाती और कोसती जाती थी, तेरी मिट्टी उठे तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आजाय, देवी मैया तुझे लील जाय, तुझे इनफलुन्जा हो जाय, तू कोढ़ी हो जाय, हाथ-पाँव कट-कट गिरें..."

दूसरी जगह : "होरी मिनका तक नहीं, झुंझलाहट हुई, क्रोध आया, खून खौला, आँख जली, दाँत पिसे" इत्यादि।

ऐसे प्रयोग बहुत हैं। यह उनके वर्णन की ही शैली है। जैसे शब्द अपनी खूबी के जोर से बाहर आते और बैठते जाते हैं। मैं होता तो संकेत से काम लेता। 'पुन्नी हाय-हाय करती जाती और कोसती जाती थी,' इसके बाद बिना कुछ कहे रह जाता। इसमें निश्चय ही हानि हो जाती, चित्र की यथार्थता उतनी न खिलती, लेकिन वह मुझे स्वीकार होता।

'पुन्नी ने हाय-हाय की और कोसा', यह कहने के बाद उस विलाप को फिर और नाना दुर्वचनों से सचित्र और सांगोपांग करने से मैं किनारा ले जाता। मनोदर्शन और विश्लेषण में मैं कुछ निश्चित कहने

और प्रतिपादन करने से बचता। ज्ञान आखिर हमारा अनुमान है। क्या उस के आगे प्रश्न चिन्ह नहीं है ? इससे कैफियत भर देता, निदान नहीं।

रायसाहव के पीछे होरी चलता है और रायसाहव बैठ कर अपनी गाथा शुरू करते हैं। कहते-कहते वह अपनी स्थिति की वखिया खोलते चले जाते हैं। कहते हैं, "हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है, हमारे लोग मिलेंगे तो इतने प्रेम से जैसे हमारे पसीने की जगह खून वहाने को तैयार हों। अरे और तो और, हमारे चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई तो इसी रियासत के वल पर मौज उड़ा रहे हैं, कविता कर रहे हैं, और जुये खेल रहे हैं, शरावें पी रहे हैं, और ऐयाशी कर रहे हैं,......आज मर जाऊँ तो घी के चिराग जलायें। मेरे दुःख को दुःख समझने वाला कोई नहीं है। उन की नजरों में मुझे दुखी होने के कोई अधिकार ही नहीं हैं। मैं अगर रोता हूँ तो दुःख की हँसी उड़ाता हूँ। मैं अगर वीमार होता हूँ तो मुझे सुख होता है। अगर अपना व्याह करके घर में कलह नहीं वढाता तो यह मेरी नीच स्वार्थपरता है। व्याह कर लूँ तो विलासान्धता होगी। अगर शराव नहीं पीता तो यह मेरी कमजोरी है, शराव पीने लगूँ तो वह प्रजा का रक्त होगी। अगर ऐयाशी नहीं करता तो अरसिक हूँ। ऐयाशी करने लगूँ तो फिर कहना ही क्या है ! इन लोगों ने मुझे भोग-विलास में फँसाने के लिये कम चालें नहीं चलीं और अव तक चलते जाते हैं। उनकी यही इच्छा है कि मैं अन्धा हो जाऊँ, और यह मुझे लूट लें। और मेरा धर्म यह है कि सव कुछ देखकर भी कुछ न देखूँ, सव कुछ जान कर भी अन्धा वना रहूँ।"

इस तरह रायसाहव कहते ही जाते हैं। रायसाहव कौंसिल के मेम्वर हैं, वड़े आदमी हैं। होरी रैयत नाचीज है, लेकिन दो पन्नों तक वह नहीं रुकते, और मुँह पान से भर कर फिर आगे कहते हैं, "हमारे नाम वड़े हैं पर दर्शन थोड़े हैं।" और इस तरह काफी समाज-शास्त्र और तत्त्व

शास्त्र की सी चर्चा करते चले जाते हैं। कहते हैं, "दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं, हमारे पास इलाके, महल, सवारियां, नौकरचाकर, कर्ज, वेश्यायें, क्या नहीं हैं। लेकिन जिस की आत्मा में बल नहीं और चाहे कुछ हो आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद भी न आती हो, जिस के दुःख पर सब हँसे और रोने वाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैर के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे में अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कह सकता।"...रायसाहब कहते ही जाते हैं कि दो पन्ने और भर जाते हैं !

इस लम्बे उद्‌गार का प्रयोजन यह है कि आगे उन्हीं को गुस्सा होते और उससे बिल्कुल उल्टा आचरण करते दिखाया जाय। मुझे लगता है कि मैं शब्दों को उतना खींच न पाता, उनके प्रयोगों से मैं जल्दी हार जाता। मैं मानता भी हूँ कि शब्दों को कहीं चुक जाना चाहिये। बुद्धि की भाषा ही शाब्दिक है व्यथा मौन द्वारा बोलती है। प्रेमचन्द में वहाँ भी शब्द मुखर हैं जहाँ मैं उनसे हार मान बैठता और शब्दहीनता में सहारा ले रहता।

प्रेमचन्द में प्रेम का व्यापार भी शब्दों से उतना मुक्त नहीं है। गोबर किशोर है और सामने झुनियाँ को पाता है। झुनियाँ छोटी सी थी तभी से गाहकों के घर दूध ले जाया करती थी। ससुराल में भी उसे गाहकों के घर दूध पहुँचाना पड़ता था। आजकल भी दही बेचने का भार उसी पर था। उसे तरह-तरह के मनुष्यों से साबिका पड़ चुका था। दो-चार रुपये हाथ लग जाते थे, घड़ी भर के लिये मनोरंजन भी हो जाता था। मगर यह आनन्द जैसे मंगनी की चीज हो, इस में टिकाव न था, समर्पण न था, अधिकार न था। वह ऐसा प्रेम चाहती थी जिसके लिये वह जिये और मरे, जिस पर वह अपने को समर्पित कर दे। वह केवल जूगनू की चमक नहीं दीपक का स्थायी प्रकाश चाहती है। यह

झुनियाँ खूब बात करती है। कहती है, 'तुम मेरे हो चुके, कैसे जानूँ ? गोबर ने कहा 'तुम जान भी चाहो तो दे दूँ।' 'जान देने का अर्थ भी समझते हो ?' 'तुम समझा भी दो ना', 'जान देने का अर्थ है साथ रह कर निवाह करना। एक बार हाथ पकड़ कर उमर भर निवाह करके रहना। चाहे दुनिया कुछ कहे, चाहे माँ-बाप, भाई-बन्द, घरद्वार सब कुछ छोड़ना पड़े। मुँह से जान देने वाले बहुतों को देख चुकी, भौंरों की भाँति फूल का रस लेकर उड़ जाते हैं। तुम भी वैसे ही न उड़ जाओगे !'

आगे भी वह कहती जाती है, 'एक-से-एक ठाकुर, महराज, बाबू, वकील, अमले, अफसर अपना रसियापन दिखाकर मुझे फँसा लेना चाहते हैं। कोई छाती पर हाथ रख कर कहता है 'झुनियाँ तरसा मत।' कोई मुझे रसीली-नसीली चितवन से घूरता है, मानो मारे प्रेम के बेहोश हो गया है। कोई रुपये दिखाता है, कोई गहने। सब मेरी गुलामी करने को तैयार रहते हैं, उमर भर, बल्कि उस जन्म में भी। लेकिन मैं उन सबों की नस पहचानती हूँ, सब-के-सब भौंरे है, रस लेकर उड़ जाने वाले। मैं भी उन्हें ललचाती हूँ, तिरछी नजरों से देखती हूँ, मुस्कराती हूँ। वह मुझे गधी बनाते हैं, मैं उन्हें उल्लू बनाती हूँ।'

नहीं, निश्चय ही कैशोर प्रेम को मैं किसी भी प्रकार इतना प्रगल्भ, इतना हिसाबी, इतना मुखर न बना सकता। प्रेम की विवशता और स्वच्छन्दता में और कितना ही आगे मैं बढ़ता, लेकिन किसी भी प्रकार इतना सशब्द न हो सकता। जीवन के पहले प्रेम में यह शब्द यदि किसी ओर से सुन मिलते कि 'वह गधी बनाते हैं मैं उल्लू बनाती हूं,' तो मेरी कलम फिर किसी तरह वहाँ प्रेम को टिका न पाती।

मत-मान्यताओं से भी लिखने का सम्बन्ध रहता है। शायद वह सम्बन्ध सीधा तो नहीं होता पर चरित्र-चित्रण में आ ही जाता है। होरी के गाँव के जितने नेता हैं, सब धूर्त हैं और सब धार्मिक हैं। धर्म

: ३२ :

युद्ध और लेखक

'हंस' के संपादक ने कहा, 'युद्ध और लेखक' पर लिखो। मैं आभारी हूँ। लड़ाई दूर नहीं है। सिर पर क्या वह छाती पर है। और लेखन भी साथ लगा ही है। इससे यह प्रश्न यों भी मेरे लिए प्रस्तुत है।

युद्ध पर पहले भी मैंने लिखा था। तब संभावना में हो, घटना में युद्ध नहीं था। लिखा था कि युद्ध को मैं बहुत ज़रूरी मानता हूँ। वह अनिवार्य है। वह जीवन का लक्षण है। वह जीवन में अवरोध के कारण सम्भव बनता और उसके वेग को खोलता है। विकास का इतिहास युद्ध का इतिहास है। उन्नति सदा संघर्ष में से हुई है।

जीवन को मैंने जब भी समझना चाहा तो यही पाया कि जीवन युद्ध है। युद्ध में मौत को भेंटने की तैयारी आदमी में जागती है। यही जीवन की ओर से चुनौती है, उसकी विजय है। मौत से घबराना मौत को बुलाना है। मौत तो दुनिया में अपने आने-जाने के क्रम में प्रमाद करेगी नहीं। क्योंकि जीवन की राह को, जो जरा-जीर्ण से रुँध जाती है, स्वच्छ और खुला रखने की सेवा उसके सिपुर्द है। मृत्यु उसमें चूके तो यह तो जीवन की सेवा में ही चूक हो जावेगी। इससे मृत्यु सती स्त्री के समान जीवनेश्वर की सेवा में अकुण्ठित भाव से चुपचाप अपना काम किये जाती है।

पर हम मनुज हैं कि अपने-जीवन से चिपट कर मूल-जीवन के प्रवाह में अवरोध बनते हैं। 'जीवन' को नहीं, 'अपने' को चाहते हैं। पर जीवन में मैं-तुम की क्या गिनती ? किसका अपनापन वहाँ रहा है ? वह रहे तो कोई भी न रहे। इससे हम मनुष्य जब अपनेपन के व्यर्थ

का और धूर्तता का वैसा गठजोड़ मेरे मन में उतना निश्चित नहीं है। धूर्तता सब में है और धर्म की आवश्यकता भी सब में है। इसलिए एक में दोनों चीजें मिलें, इसमें कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। लेकिन उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध देख लेना मेरे बस का न हो पाता। प्रेमचन्द जी जैसे इसी आविष्कार तक जा पहुंचे हैं। पंडित दातादीन, लाला पटेश्वरी, ठाकुर झिंगुरी सिंह, पं० नोखेराम सब ही एक-न-एक रूप में भक्ति-उपासनामें समय देते हैं, लेकिन उसी कारण जैसे दुखिया के दुख के प्रति वे और भी हृदयहीन हो जाते हैं।

मैं उनके स्वभाव को ज्यों-का-त्यों रख कर भी शायद प्रेमचन्द के निदान से सहमत न होता। धर्म सीधा धूर्तता उपजाता हो तो जैसे समस्या बहुत सीधी हो जाती है और उतने सीधे चल कर मुझे नहीं मालूम होता कि मुझे संतोष हो सकता।

संक्षेप में गोदान में जो होरी निपट भाग्य के सामने अकेला जूझता हुआ फिर भी निरुपाय सा दिखाया गया है, मैं उसको तो न छूता और ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता। फिर भी भाग्य को किन्हीं तात्कालिक परिस्थितियों अथवा व्यक्तियों से परिभाषा देने का प्रयत्न न करता कि जैसे होरी शिकार हो, शिकारी दूसरे हों। मेरी कोशिश होती कि दिखाता कि सब जैसे शिकार ही हैं और वृथा ही एक दूसरे को शिकार बनाने का प्रयत्न करते हैं। असल में शक्तियाँ निर्वैयक्तिक हैं और उनमें सत् के साथ रहने और असत् के साथ लड़ने के लिए सहानुभूतियों का बटवारा करने की जरूरत नहीं है। वैसा मैं कर सकता तो मानता कि मेरा 'गोदान' सफल है।

भार को लेकर जीवन के मार्ग में रुकावट के रोड़े बन चलते है तब मृत्यु आकर हमें अपने से छुटकारा दिलाती है।

जब अपने में गड़कर और स्व-चिंतन में जड़ पड़कर हम सामान्य तौर पर मौत से डरने लग जाते हैं, तब मानों मृत्यु की पुनः प्रतिष्ठा का त्योहार मनाने का समय आता है। गाजे-बाजे के साथ, जय-जयकार के और अनेक विधि आदर्श-वाक्यों के उच्चार के साथ दो ओर से हज़ार-लाख-करोड़ की संख्या में सैन्य-साज सजाकर, मुठभेड़ को उतावले हो, ललकार के साथ लोगों के जत्थे-के-जत्थे बढ़ते और एक दूसरे को मृत्यु-लाभ देते हैं। यम की यह सोल्लास पूजा का पर्व मनुष्य जाति के इतिहास में जब-तब आता ही रहता है। नव-जीवन की हौंस तब मन में भर-भर गई है, शिरायें फड़कने लगी हैं, लहू का फाग मचाने को जी किया है। उसके आवाहन में और स्मरण में काव्य ग्रन्थ लिखे जाते हैं। जातियों की छातियों में उसकी याद को गहरा अंकित किया जाता है हम आंखों में तेज लाकर याद करते हैं कि हमारे पूर्वज यों लड़े थे, कि उन एक अकेलों ने सैकड़ों को यमपुर पहुँचा दिया तब सांस तोड़ी थी! इतिहास यदि जीवित है और साहित्य में यदि स्पन्दन है तो किसको लेकर? वह है: युद्ध।

लेखक होकर मैं उस युद्ध से घबरा नहीं सकता। खून के फवारों और दर्द के नालों से डर नहीं सकता। बल्कि उसमें सौन्दर्य देखना मेरा काम है। युद्धों के प्रति मैं कृतज्ञ हो सकता हूँ।

युद्ध में खून उछलता है और बहता है; लाखों-लाख आदमी हताहत होते हैं; बस्तियां वीरान हो जाती हैं; पत्नी विधवा होती, बच्चे अनाथ होते, और घर मसान बन जाते हैं। इन सब कारणों से मैं युद्ध को गलत नहीं कह सकता। इसमें भी एक भयंकर शोभा है। यह महा-रुद्र की लीला है। जो शिव शंकर है, वह भीम भैरव भी है। युद्ध से सधवाओं को वैधव्य भोग का अवसर आता है, बच्चे नाथ बिन जीना

सीखते हैं, और उजड़ी बस्ती और मसान बने घरों को फिर से हरा और आबाद करने की जिम्मेदारी लेकर बचे-खुचे नव सर्जन की कला सीखते हैं । नहीं, युद्ध आदमियों को मारता है इससे गलत नहीं है। आदमियों का मरना ग़लत नहीं है। ईश्वर का प्रहरी यमराज आदि काल से यह करता आ रहा है। फिर भी ईश्वर ने अपनी सेवा से उसे बरखास्त नहीं किया। इससे आदमियों, असंख्य आदमियों के मरने से भी लेखक को शिकायत का कोई मौका नहीं है। बल्कि इससे तो लेखक का और कोष भरता है। उसे व्यक्ति के हृदय की व्यथा और उल्लास चाहिये न ? तो लो, युद्ध उसे लाखों का उल्लास और उनसे कई गुने हृदयों का विषाद देता है। वहाँ तो मनुष्यता का इतना निचुड़ा रस है कि लेखक के सँभाले न सँभले। अर्थात् युद्ध की इस भीषण प्रकृति और परिणाम से लेखक भँव नहीं सिकोड़ सकता।

यु के विरोध में शान्ति के पक्ष से जो दलीलें मामूली तौर पर दी जाती हैं, लेखक की हैसियत से मुझे वह काम की नहीं मालूम होतीं। लेखक को कब शान्ति चाहिए ? क्या वह नहीं जानता कि शान्ति अपने आप में भ्रम है ? मुक्ति नहीं वहाँ शांति क्या ? इससे मुक्ति की खोज में वह सदा अशान्त है।

पैसिफिस्टों का इज्म मेरी समझ में नहीं आता। मैं जानता हूँ कि बड़े-बड़े लेखक लोग उसमें हैं। पर अपनी शांति (Pacifism) के लिए जी सब रहे हैं, कोई उसके लिए मरने को आगे आता नहीं दीखता। एक बार जाने कहाँ से बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि वाले लेखकों के नाम से छपा एक पत्र मुझ तक आ गया। उसमें पैसिफिस्टों के एक सम्मेलन होने की योजना और विवरण था; जहाँ सब मिलकर युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पास करें। युद्ध नहीं चाहिये, मानो यह कह कर उनका पैसेफिस्ट चित्त शान्ति पा सकेगा। पर युद्ध का अगर कुछ नहीं बिगड़ा है और पैसेफिज्म का कुछ नहीं बना, तो यही पैसिफ़िस्टों की

काफी आलोचना है। वह पैसेफिज़्म, जो पैसेफिस्ट होकर केवल युद्ध से
अपनी रक्षा प्राप्त कर लेता है, सच्ची चीज़ कैसे हो सकता है ? अरे वह
स्वयं तो बचता है; पर किसी को बचाता भी है ? मैं मानता हूँ कि एक
पैसेफ़िस्ट अपने को बचाने से उलटा खुद अपने को बीच में झोंककर
किसी एक को भी बचा लेता है, या चाहे किसी को भी नहीं बचा पाता
तो भी अपने बलिदान से वह समूचे पैसेफिज़्म को मानो बचा देगा।
बिना बलिदान के पैसिफ़िज़्म मुर्दा है, और वे लेखक कोरे बुद्धिवादी हैं
जो वहीं तक रह जाते हैं।

इस तरह पैसिफिज़्म वाले युद्ध-विरोध या उस प्रकार की किसी
कोरी शान्ति में लेखक को लोभ नहीं हो सकता। क्योंकि उस वृत्ति
के गर्भ में युद्ध का भय रह सकता है। भय लेखक के लिए विदेशी वस्तु
होनी चाहिए।

लेखक यदि है तो योद्धा है। योद्धा की परख युद्ध में है। युद्ध से बचता है वह
योद्धा कैसा ? और योद्धा नहीं वह लेखक नहीं।

किन्तु इतनी बात निरपेक्ष जीवन की दृष्टि से हुई। अब प्रश्न को
आज के यथार्थ की अपेक्षा में भी देखना चाहिये।

युद्ध अब जोम पर है। हिन्दुस्तान यद्यपि युद्ध के आँगन में नहीं है,
पर अपनी सरकार की मार्फत हिन्दुस्तान की भी लड़ने वालों में गिनती है।
लड़ाई खासकर जर्मनी और इंगलिस्तान के बीच है। कहते हैं नाजीवाद
और जनात्मवाद की लड़ाई है। जर्मन-विचार सबकी आज़ादी हड़पकर
एकाधिपत्य चलाने के हक़ में है। ब्रिटिश पक्ष सबको आजाद चाहता और
और जनतन्त्रात्मक विधान चाहता है। लड़ाई असल में इन दो विचारों की
है। जर्मनी ने स्वार्थ और दर्प में लड़ाई मोल ली है। इंगलिस्तान
को मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकार स्वतन्त्रता की रक्षा में लड़ना पड़ रहा
है। इंगलिस्तान चाहता है कि लड़ाई से उठे धुँए और फैले कोलाहल
के बीच इस मुद्दे की बात को अच्छी तरह समझकर देख और पहचान

लिया जाय। न्याय का पक्ष इंगलैंड का पक्ष है। जब कि जर्मनी साफ़ ही जब्र और बलात्कार कर रहा है। और बात होती तो ब्रिटेन उसे दरगुज़र करने की भी सोचता; पर यह तो धर्म की, न्याय की, मनुष्यता के भविष्य की, विश्व-शान्ति की और दुनियाँ में बर्बरता के विरोध से सभ्यता की रक्षा की बात है। मानवता की संस्कृति के इतिहास में ऐसे भीषण संकट के अवसर पर, ऐसी अनीति के वक्त, ब्रिटेन क्या जान-माल को देखे ? अरे वह है किस लिए ? मनुष्यता के हित के लिए ही तो उसका अस्तित्व है। तब वह अपने को भी होमकर धर्म की, मानव-नीति और सभ्यता की रक्षा करेगा। लहू में उसे नहाना पड़े, चाहे तो सारा ब्रिटेन राख हो जावे, पर एक अंग्रेज जवान जीता है तो वही स्वतन्त्रता की आवाज ऊँची रखेगा। ब्रिटेन का बच्चा-बच्चा न गिर जावेगा तब तक जर्मनी को मनचीता करना न मिलेगा।

उधर जर्मनी की तरफ़ से हिटलर भी अपने पक्ष को अन्याय का पक्ष नहीं मानता। बल्कि वह सारा अन्याय इंगलिस्तान के माथे पटकता है। कहता है कि मैं तो न्याय के साथ अहिंसा को भी चाहता हूँ। मेरी कोशिश है कि अधिक-से-अधिक दुःख बचा सकूँ। पर दुनिया रुक रही है, योरुप कूटचक्रों का अखाड़ा हो रहा है। नया योरुप और नई दुनियाँ चाहिये कि इन्सान-इन्सान हो। जर्मनी को नपुंसक बनाने की कोशिश सन् १९१९ में कुछ राष्ट्रों ने गुट बाँधकर की। पर यह कैसे हो सकता था ? जर्मनी ने पुंसत्व पाया और अब वह बदला तो नहीं पर अपना निजत्व तो वापिस चाहता ही है। इसके बाद जर्मनी के ऊपर दायित्व आ रहता है नई दुनिया के निर्माण का भी। यह इंगलिस्तान अपनी कुटिलता से काम बिगाड़ता ही रहता है। हम तो कहते हैं कि वह अपना छोटा घर लेकर अलग चुप बैठे। पर कूटनीति उसकी खसलत में है। कोई बताये कि अब हम क्या करें ? उसको सबक सिखाये बिना आगे कैसे चलें ?

इस तरह दोनों पक्षों के लिए अपना पक्ष धर्म्य है। यही कहकर दोनों पक्ष अपने सिपाहियों में मरने-मारने का दम भरते हैं और इस 'धर्म-युद्ध' में हर रोज़ अनगिनत लोग जमघाट उतरते हैं, उससे अधिक जख्मी होकर निकम्मे बनते हैं और असंख्य रुपया स्वाहा होता है। यह रोज़ की औसत है। राम जाने जंग चलेगा कब तक। ठान तो दोनों की लम्बी और तय्यारी मुद्दत की है। उसमें कुल धन-जन-नाश की राशि का हिसाब सिर चकरा देगा। आगे-आगे रण की विकटता बढ़े ही गी, घटने क्यों लगी। फिर न लड़नेवाले कौन चैन से हैं? सब थर्राये हैं, चौकन्ने हैं।

मैंने कहा नाश, पर सच ही नाश कोई गिनने की चीज़ नहीं है। धन कौन सदा रहता है? और जन कौन सदा जीया है? इससे उस नाश की राशि के लेखे से डरने-डराने की बात वृथा है। उससे तो युद्ध का परिणाम आँकने का ही काम लेना चाहिये।

प्रश्न है कि इस (और ऐसे) युद्ध के प्रति आज और यहाँ (या कहीं) का लेखक क्या करे?

प्रश्न का उत्तर एक नहीं हो सकता। ज़रूरी तौर पर उत्तर में दो पहलू होंगे। क्योंकि लेखक दो कोटि के हैं।

यहाँ अच्छे-बुरे विशेषण को बिलकुल स्थान नहीं। जिन को बुरा कहा जा सके ऐसों को लेखक की कोटि में मान कर ही मैं नहीं चलता हूँ। उनके अलावा दोनों कोटि में ऐसे लेखक हैं जो ईमानदार हैं।

हर घटना में दो तत्त्व होते हैं। उनके तनाव की घनता से ही घटना में महत्त्व पड़ता है। एक, स्थिति; दूसरा, गति। स्थिति का खिचाव पीछे को, गति का आगे को होता है। इस कशमकश में से ही कठिनाई और उन्नति पैदा हुआ करती है।

लेखकों की दो कोटि इसी अपेक्षा में मैंने कहीं। एक स्थिति पर ज्यादा वज़न देकर रहते हैं, और गति को किसी कदर अविश्वास से

देखते हैं। दूसरे जो स्थिति में उखड़े से दीखते हैं, और गति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

पहले लोग अतीत में से रस निकालकर वर्तमान का मनोरंजन करते हैं। दूसरे-लोग भविष्य में से खींचकर एक अपरिचित रस वर्तमान को देते हैं, जिसमें वर्तमान स्वाद तो लेता है पर एक दम पी जाने में कुछ शंकित रहता है।

इस या उस कोटि को लेखक कोई जान बूझकर अपने लिए चुनता हो, सो ही नहीं। स्वभाव, प्रकृति अथवा परिस्थिति के कारण भी उनमें मनोभेद रहता है।

भूषण क्या महाकवि न थे ? और रामदास की भी कुछ कविता उपलब्ध है। शिवाजी से दोनों का सम्बन्ध था। दोनों इस युग के लिए भी निःशेष नहीं हो गये हैं। किस को उनमें कहें कि वह अपने प्रति ईमानदार नहीं था। पर मानना होगा कि उनकी कोटि दो हैं।

कल्पना कीजिये कि शिवा युद्धोद्यत हैं। उस समय भूषण किस रूप में आपके चित्त में उदय होते हैं। शायद आपके मन में उस विषय में दुविधा नहीं होगी। साफ़ तो बात है। भूषण की कविता उस समय अपने पक्ष के सुभटों को विरुद सुनायेगी, उनमें आवेश बढ़ायेगी, प्रतिपक्षी को ललकारेगी। व्यंग से लथेड़कर शत्रु को हीन, क्रूर और परास्त दिखायगी। पराक्रम की विभूति दर्शायेगी और युद्ध में अपनी जय और शत्रु की पराजय का चित्र खींचेगी। संक्षेप में जो वह कविता करेगी, भूषण को आज भी पढ़कर हम जान सकते हैं।

किन्तु रामदास ? अधिक-से-अधिक उनसे शिवा को आशीर्वाद ही प्राप्त हागा। लेकिन तभी और उतने ही अंश में जिसमें कि युद्ध का फल ब्राह्मण और गौ की रक्षा हो। क्या उस समय और क्या और समय रामदास की कविता शिवा को सद्बोध देगी। युद्ध में उत्साह भी यदि

देगी तो युद्धार्थ नहीं, बल्कि गो, ब्राह्मण और न्याय की रक्षा में जीवन विसर्जन की तत्परता के निमित्त उत्साह देगी। संक्षेप में जो वह कविता करेगी वह रामदास के अभंगों को आज भी पढ़कर हम जान सकते हैं। आधुनिक शब्दावली में कहें तो युद्ध के नैतिक हेतु को नैतिक समर्थन भर वह देगी।

भूषण सैन्य के साथ-साथ चलेंगे। वह सिपाहियों का और नायकों का मनोरंजन करेंगे। तरह-तरह से उनको उकसाहट देंगे। शिवा की अति-स्तुति गायेंगे और जो बख्शीश या वेतन मिलेगा उसे अपने स्त्री-पुत्रों के भरण-पोषण और पद-मर्यादा-वृद्धि के लिये घर भेज देंगे।

उधर रामदास युद्ध के कोलाहल से दूर वन में अपनी साधना में लीन रहेंगे। वह अपने भगवद्-भजन के बीच शिवा के लिए और दुनिया के और प्राणियों के लिए प्रार्थना करेंगे। आसपास निर्वैर का प्रचार करेंगे, गो-ब्राह्मण की सेवा करेंगे और शिवा जब फिर सामने होगा तो उसका प्रणाम लेकर उसे निर्भय शिक्षा देंगे। बतायेंगे कि युद्ध राज्य और सत्ता सेवा के निमित्त हैं। अहंकार का निमित्त न बना कर, शिवा, तू उन्हें प्रभु अर्पण में ही रख। अपने को सेवक और भक्त से अधिक न जान। ऐसे ही युद्ध की ग्लानि का प्रायश्चित्त साधता रह।

रामदास की कविता भाषा सीखनेवाले विद्यार्थियों को कोर्स में नहीं पढ़ाई जाती। भूषण का पाठ हिन्दी-विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है। कहा तो कि अपनी-अपनी कोटि और महिमा है! भूषण महाकवि हैं, रामदास कोपीनधारी हैं। पर वह जो हो—

कोटि दो गिनाई। दोनों कोटिवालों का रुख किसी सजीव घटना के प्रति-एक-सा न होगा। इसलिए एक उत्तर में ये दोनों कोटियां भी नहीं समायेंगी।

स्थिति-रक्षा में जिन्होंने अपने को लगाया है; वर्तमान को मनोरंजन दिया है और एवज में अपने संसार की सुख-सुविधा बढ़ाई है;

जिन्होंने वर्तमान के श्री-पतियों की श्री को सम्वृद्ध दी है और उससे स्वयं भी संवृद्धि प्राप्त की है; जिन्होंने अतीत के प्रति कृतज्ञता का पाठ वर्तमान को सिखाया और उस अतीत की गुरुता वर्तमान के आगे प्रत्यक्ष करने में अपनी योग्यता और विद्वत्ता का प्रयोग किया है, ऐसे लेखक स्थित-रक्षा के प्रति झुकेंगे। स्थिति-रक्षा में न्यस्त स्वार्थों के प्रति पक्षपात आ जाता है। वे लोग स्थिति के दायी वनकर अपना साहित्यिक कर्म करते रहे हैं, और गति का अविश्वास उस स्थिति में भरते रहे हैं। तव उस स्थिति को हिलते-वदलते देखकर वे कैसे न विचलित हों? युद्ध होगा तो वे माया की स्वर्ण-पुरी के रक्षक पक्ष में होंगे, दीन-हीन वानरों से घिरे बनवासी राजपुत्र का क्या भरोसा ?

दूसरी कोटि वर्तमान की सार्थकता भविष्य में देखती रही है। वे भविष्य के आवाहन में लगे हैं और उसी को अपने प्रयत्नों से वर्तमान पर उतारते हैं। स्थिति उनको देखकर शंकित रही, चुनांचे अपनी गोद में उन्हें सुख-सुविधा देने से वची है। आसपास से लेकर कोई भारीपन उन्होंने अपने साथ नहीं लगा पाया है, परिग्रह नहीं जुटाई है। इससे वढ़ने की वात पर वे सहज कटिवद्ध हैं। ऐसे लेखक मानो गति का संदेश हैं, उसके सैनिक हैं।

कोटि कोई हो, कच्चा लेखक युद्ध से वचता है। पर जो अपने भीतर पक्का है वह युद्ध से क्यों कतरायेगा ? वह मोर्चा लेने से नहीं वचेगा।

पर इसमें पक्ष-भेद हो सकता है। कच्चे-कच्चे तो छूट ही जावेंगे। उनमें भेद का प्रश्न ही नहीं। उन्हें गङ्गा के पास गङ्गादास और जमना किनारे जमनादास हो जाना सरल है। उन्हें सरकार भी ठीक, कांग्रेस भी ठीक। सत्याग्रही का भाषण भी ठीक, उसे जेल भी ठीक। 'अरे भाई, शान्ति रखो, अमन से घर वैठकर रामनाम लो। वच्चे हो, दुनिया में देख-भालकर चलना है कि नहीं ?' ऐसे लोगों के दोनों में से कोई

लोक नहीं बिगड़ते। साहित्य भी चल जाता है, दूकान भी चल जाती है। मानो अन्तिम समन्वय की तुरीयावस्था उनको मिल जाती है।

पर पक्के लेखकों में पक्ष-भेद हो सकता है। वे शायद युद्ध से मुंह नहीं मोड़ेंगे, चाहे फिर उस युद्ध में उन्हें आपस में बंटकर एक दूसरे से ही क्यों न लड़ना पड़े।

आरम्भ में ही कहा कि युद्ध को मैं शाश्वत धर्म मानता हूँ। मुक्ति में ही उससे मुक्ति है। उससे पहले युद्ध से बचना मुक्ति की ओर बढ़ने से ही बच जाना है।

सो युद्ध तो ठीक। पर कैसा युद्ध? कौन युद्ध? इसके जवाब में मुझे कहना है कि हम बढ़ रहे हैं। हम अब जंगल में नहीं रहते। यह दूसरी बात है कि शहर का मिल-घेरा जंगल से बदतर हो फिर भी हमारा वह नरक हमारा है। जंगल शेर का बनाया नहीं है, उस शेर का उसमें कुछ कृतित्व नहीं है। पर मनुष्य ने अगर अपने नगर में नरकों को पैदा कर लिया है तो इसकी भी सामर्थ्य उसमें युग-युग की उन्नति द्वारा आई है। चाहे मनुष्य नारकी बना है, राक्षस और दानव बन गया है, फिर भी वह पहले की भांति जड़ और अचेत नहीं है। वह एक नहीं, संगठित है। नाखूनों से नहीं, हवाई जहाज से लड़ता है। दुश्मन की छाती फाड़कर खून चुल्लू से नहीं पीता, बल्कि जिन्दा पाने पर भाई-बन्धु की तरह उसे आराम से जेलखाने में रखता है। उसे मारना पड़ता भी है तो कम-से-कम तकलीफ पहुँचा कर मारना चाहता है। और अधमरा रहने पर अस्पताल में उसे हर तरह का आराम भी पहुँचाता है। उसका संवेदन सूक्ष्म और व्यापक हुआ है।

तात्पर्य, अब हम वहां नहीं हैं जहां थे। हम तरक्की करते आये हैं। और जहां हैं वहां हमें नहीं रहना है। आगे बढ़ना है।

इस बढ़ने का माप क्या? तरक्की की पहचान क्या? वह माप और पहचान, मेरे शब्दों में है: अहिंसा।

पर अहिंसा वह नहीं जो हिंसा से डरती है। डरना तो हिंसा का काम है! अहिंसा यदि कुछ है तो निडर है। अर्थात् अहिंसा वह है जो हिंसा के मुँह में चली जाने को ललचे। हाँ ललचे, क्योंकि अहिंसा जानती है कि हिंसा का जो विकराल मुंह फैला दीखता है उसके पीछे हृदय भी है। वह हृदय आज उन्माद के वश हो, विकार में फँसा हो, पर उसके गहरे में तो प्रेम का निवास है। उन्माद ढल जायगा, विकार चुक जायगा, तब प्रेम ही प्रकट होने को शेष रह जायगा। इसलिए हिंसक की हिंसा का मुँह ही हिंस्र है, आत्मा में उसके भी अहिंसा ही है। इसलिए उस मुँह में झुक जाने में मुझे क्या डर है। मुँह भर जायगा और पेट में समाई न रहेगी, तब फिर हिंसा कैसे टिकेगी? अतः मेरे वहाँ झुक पड़ने में ही लाभ है। मेरा लाभ और सबका लाभ।

ऐसी अहिंसा लहू का सागर देखकर भी अचल रहेगी। उसे क्या घबराहट? यहाँ तक कि लहू से लहू वाले घबरा जावें, पर अहिंसक क्यों घबरायेगा?

क्रूर की सहिष्णुता की शक्ति बहुत थोड़ी होती है। सौ-हजार-लाख आदमियों का खून वह देख लेगा। पर अपने ही बच्चे का खून वह नहीं देख सकता, हिल जायगा।

अहिंसक में अपना और अपनों का खून बहते हुए देखने की तैयारी चाहिये। और इस सहिष्णुता को शत्रु का खून लेने की लालसा न थामती हो। क्योंकि तब तो वह सहिष्णुता ही क्या रही। नहीं, शत्रु का प्रेम उसे थामता हो। और यदि सच्ची अहिंसक सहिष्णुता है तो असम्भव है कि यह, काफ़ी परिमाण में मिलने पर, क्रूर की क्रूरता को पार कर उसके भीतर की कातरता को भी न छू ले। तब क्रूर अपने ही रोग—क्रूरता—से छूटकर स्वस्थ स्निग्ध मानव दिखाई दे आयगा।

अर्थात्, युद्ध बिना तो जीवन की गति साधना असम्भव है। उसमें नाश की पुकार लचर है। महाकाल तो सबको ग्रास बनाये ही जा रहा

है। क्या रहा है ? क्या रहेगा ? पर एक बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। वह यह कि हमारा युद्ध उठता जा रहा है। उसकी भूमिका आज बदल रही, बदल गई है।

युद्ध मैं चाहता हूँ। पर आज बीसवीं सदी में शर्म की बात होनी चाहिये कि हम अन्तर्राष्ट्रीय बातों को निपटा न सकें और उसके लिए मार-काट पर उतारू हो जावें। युद्ध का यह रूप आज लज्जाजनक, अपमानजनक हो जाना चाहिए। अब समय आ जाना चाहिए था कि हम इतने सभ्य होते कि हमारा युद्ध भी लहू की प्यास और गोलों की मार से ऊँची कोटि पर चलता। वह समय आ जाना चाहिए था कि हमारा दुश्मन हमसे डरता नहीं, बल्कि दुश्मन है इस कारण वह हम से और भी निःशङ्क रहता। सभ्यता की यदि कुछ सार्थकता है तो यही सार्थकता है।

युद्ध को मैं धर्म मानता हूँ। प्रति-पक्षी को हम कह दें कि हमारा यह पक्ष है। कह दें कि जब तक मैं हूँ तुम्हारा बाल-बांका न होगा। कह दें कि तुम आजाद हो कि जो चाहे मेरा करो। पर जो सच है वह मेरे पक्ष है, उसमें मौत मुझे प्रसाद है। तुम्हारे पास जोर है, यही तुम्हारी हार है। मैं सब जोर को किनारे करके तुम्हारे आगे होकर कहता हूँ कि तुम जोर जतलाने की कमजोरी को छोड़ दो। तब तुम भी देख लोगे कि जोर के नशे में तुम हक को भूल बैठे थे, इसी से मैं जो कहता था उसमें प्रेम नहीं, स्पर्द्धा देखते थे। परन्तु अभी तो तुम पर सत्ता का गुमान सवार है, और मैं भी हक से डिग नहीं सकता हूँ। तुम्हारा जोर है कि आजमाओ। मेरा हक तो अपनी आजमाइश ही है।

मैं मानता हूँ कि हम अपनी बर्बर अवस्था से काफ़ी आगे आ गये हैं। अपने बारे में अविश्वास से और कब तक काम लेंगे ? हथियार अविश्वास की निशानी है। आत्मविश्वासी निःशस्त्र रहता है। इतिहास अब समय की बाट देखता है कि मानवता अपने ही अविश्वास के साथ

लड़े। लड़ना कभी रुका है ? सांस लेते हैं, इसमें भी लड़ना समाया है। हर घड़ी हर पल क्या हम मौत से, रोग से और उसके कीटाणुओं से लड़ते हुए ही जिन्दा नहीं हैं ? स्वास्थ्य कुछ है तो प्रतिकार की शक्ति (Power of Resistance) है।

इससे युद्ध तो होगा, पर वह अहिंसा का हिंसा से युद्ध होगा। हिंसा अविश्वास है। वह आदमी की हार है, और पशु की जीत है। आत्मा की पराजय और अनात्म की विजय है। वह प्रतिक्रिया है, मुक्ति से उल्टी वन्धन की गति है।

मैं मानता हूँ कि मानवता के इतिहास में जितने युद्ध लड़े गये हैं उनमें से पार होकर मानवता जड़ से चेतना और अनात्म से आत्मा की ओर गति करती आई है। जान में कि अनजान में, ऐसा ही हुआ है। और अव हम उस वैज्ञानिक क्षण पर आ गये हैं जहाँ राजनीति की हिंसा के साथ नीति की अहिंसा को लेकर जूझने से न बचें।

हिंसा की जीत संगठन में देखी जाती है। अहिंसा की हार इसी में होती रही है कि वह व्यक्तिगत दायरे में अपना संतोष और मोक्ष खोजती रही है। पर वह अहिंसा स्वरत्यात्मक है। अहिंसा को सामाजिक वनाना होगा यानी समाज के ढांचे को ही अहिंसक रूप देना होगा। हिंसा के मुँह के आगे भी ऐसा करने में लगे रहना होगा। तव एक ऐसी अहिंसक शक्ति पैदा होगी कि हिंसा का वढ़-से-वढ़कर संगठित मोर्चा उसके आगे बेकार हो रहेगा।

लेखक और क्या करे ? क्या वह निहित स्वार्थों, सँकरी वृत्तियों और क्षुद्र अहंकारों को स्नेह और सहानुभूति के प्रवाह से किंचित् कोमल और कम कठिन ही वनाने में नहीं लगा रहा है ? क्या वह भेद की दीवारों को ढीली और पारदर्शी ही नहीं वनाने के प्रयत्न में रहा है ? क्या वह भीतर जकड़े हुए संवेदन को खोलकर मुक्तिदान देने में ही

नहीं अपने को सार्थक मानता रहा है ? क्या उसने हमें रुलाया नहीं है कि हमारा अभिमान आंसू में गलकर वह जावे ? क्या वह ही हमें हंसाता नहीं रहा है कि अपनी अस्मिता से उबरकर हम खुलें और ताजा बनें ? क्या वह हमारी बुद्धि को दम्भ से हलका नहीं करता आ रहा और भावना को प्रशस्त ?

यदि, और जो, लेखक यह करता रहा है वह दम्भ-अर्थात्-हिंसा और अविश्वास-अर्थात्-शस्त्र के विरोध में निर्भीकता-यानी-अहिंसा और विश्वास यानी-प्रेम का ही पक्ष ले सकता है। प्रेम से वैर, विश्वास से भय और समर्पण से शस्त्र को जीतने की ठान रखने वाला सांस्कृतिक युद्ध साहित्यिक का है। वही असल युद्ध है। श्रेष्ठ योद्धा उसी में जूझता है।

लेखक श्रेष्ठ योद्धा न हो, यह तो समझ में आता है। पर वह श्रेष्ठ युद्ध को न पहचाने और उसके पक्ष से बचे यह समझ में आने की बात नहीं है।

परिशिष्ट

मेरे 'युद्ध और लेखक' लेख पर फरवरी के 'हंस' में तीन भाइयों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। अपने प्रति तीनों की सद्भावना का मैं विश्वासी हूँ। किन्हीं के वक्तव्य में मेरे लिए कुछ अप्रिय विशेषण आ भी गये हैं तो मैं जानता हूँ कि वे उनके बावजूद आ गये हैं, लेखकों को वे उद्दिष्ट नहीं हैं। उन तीनों लेखों को मैं ध्यानपूर्वक देख गया हूँ और सफाई में कुछ कहना जरूरी समझ उसकी इजाजत चाहता हूँ।

१—लेख में युद्ध और संघर्ष को दो अर्थों में मैंने नहीं देखा है। उनमें दो-पन देखने के लिए अनावश्यक बारीक़ी से काम लेना होगा। संघर्ष युद्ध की आन्तरिकता का द्योतक है, युद्ध कुछ बहिरंगवाची है। तत्वतः दोनों एक हैं।

२—इंगलैंड के अथवा जर्मनी के पक्ष को आज की योरुप की लड़ाई में कम अधिक न्याय का पक्ष कहने का बोझ उस लेख में मैंने किसी जगह

भी अपने ऊपर नहीं लिया है। नहीं कह सकता कि फिर वह भ्रम कैसे हुआ। मेरे लेखे योरुपवाली आज की लड़ाई दो अहंकारों की लड़ाई है। भला अहंकार भी कभी न्याय्य हुआ है ?

३—लेख के आरंभ में युद्ध का, रक्तरंजित युद्ध का भी, समर्थन प्रतीत होता है। हाँ, वह समर्थन है भी। साथ ही पैसिफ़िज्म पर व्यंग भी प्रतीत होता है। वह व्यंग भी वहाँ है। युद्ध का मैं विरोधी हूँ, पर युद्ध से नीची जमीन पर खड़ा होकर नहीं, उससे ऊंची जमीन पर खड़े होकर वह विरोध करना चाहता हूँ। 'हाय ! मेरा बेटा मर गया !' 'हाय रे मैं लुट गई !' 'विधवा हो गई !'—इस तरह की भावुकता की सतह से युद्ध का विरोध निरर्थक है। निरर्थक ही नहीं, अनर्थक है। यह कायरता है। हिंसा बुरी है; लेकिन अहिंसा से वह बुरी है, कायरता से वह अच्छी भी हो सकती है। युद्ध को जब मैंने अच्छा कहा है तो इसी सापेक्ष भाव में। रक्तरंजित युद्ध जड़-जीवन से बेशक अतुलनीय रूप से अच्छा है। लेकिन युद्ध इसलिए ग़लत नहीं है कि वह युद्ध है, बल्कि इसलिए गलत है कि वह अहिंसक नहीं है। जैसे कि मरने से जीना अच्छा है, चाहे वह जीना फिर सदोष भी हो। इसी भाव में मैंने कहा कि युद्ध तो अनिवार्य है। जीवन की वह परिभाषा है। चैतन्य का जड़ता से युद्ध ही क्या जीवन की प्रगति नहीं है ? वह युद्ध मिटा कि जीवन ही गिर गया। लेकिन युद्ध की अनिवार्यता के साथ विकास की यह भी अनिवार्यता है कि वह युद्ध अधिकाधिक हिंसा के विरोध में अहिंसा की ओर से किया जाय। मैंने कहा सांस्कृतिक युद्ध। लेखक उत्तर अफ्रीका की युद्ध भूमि में बिना जाये भी उस युद्ध में यहीं रहकर योद्धा हो सकता है। जिस काम में और जिस नगर या जिस पड़ोस में है वहीं रहकर वैसा योद्धा बन सकता है। और वैसे योद्धा से किसी प्रतिपक्षी को खतरा नहीं है, सबका भला ही है।

४—दूसरे लेख में ठीक कहा है कि वर्तमान युद्ध से तो हिन्दुस्तान के

लेखक को कुछ लेना-देना नहीं हो सकता और कि यहाँ के लेखक को तो यहाँ की परदेशी सरकार से छुट्टी पाने के लिए क्रांति करनी चाहिए क्रांति से मेरा आमने-सामने का परिचय नहीं है। उस चीज को जिसको क्रांति कहते हैं मैं चाहता हूँ कि इसी क्षण से मैं करने लग जाऊँ। पर कर्म की पकड़ में तो वह तब आये जब पहले विचार की पकड़ में वह आ जाय। काव्य में क्रांति शब्द का प्रयोग मुझे सुन्दर मालूम होता है। वहाँ मैं उसका कायल हूँ। पर विचार और कर्म में क्रांति शब्द फटकर कुछ रूखी यथार्थताओं में बिखर जाता है। प्रतीत होता है कि यदि कोई क्रांतिकारी है तो वह ऐसा व्यक्ति है जिसके मुँह से क्रांति शब्द निकलता तक नहीं है और जो अपने को इतना सामान्य आदमी देखता है कि समझ नहीं पाता कि किस ओर से वह क्रांतिकारी है। अर्थात् क्रांति का मैं कायल हूँ, पर काव्य की क्रांति आज कर्म में चरखा बन रहनी चाहिये। जो क्रांति का सपना नहीं बल्कि क्रांति का काम चाहता है वह चरखे को हाथ में ले ले। तब ज़बान पर से क्रांति उड़ जायगी और वह मुट्ठी में आ जायगी।

यानी हिन्दुस्तान में जो युद्ध के खिलाफ अहिंसा का युद्ध छिड़ा हुआ है, लेखक देखे कि वह उसमें किस ओर से सहयोगी हो सकता है। बैठे नहीं, अप्रभावित भी न रहे। बल्कि सचेष्ट हो और चुनौती दे कि हम नहीं लड़ेंगे, तुम्हारी लड़ाई के असत्य के साथ हमारी यही सत्य की लड़ाई है।

कहा जा सकेगा कि यह तो निश्चेष्टता है। पर निश्चेष्ट का परिणाम क्या कभी जेल भी होता है? जिसका परिणाम एक के हक़ में जेल भेजने तक होता है वह निश्चेष्ट नहीं है। वह वस्तु यों देखने में छोटी दीखे, प्रभाव में बड़ी भी हो सकती है।

५—तीसरे लेख में एक बात पते की कही गई है। वह यह कि प्रश्न की मेरी पकड़ भावात्मक है। मैं इससे सहमत हूँ। कहा है कि इसलिए वह भोली है। मैं इससे भी सहमत हूँ। पर मैं मानता हूँ कि इसी कारण

वह सच्ची भी है। बुद्धि को बल किससे मिलता है? गति किस से मिलती है? वही भाव। बुद्धि क्या अपने आप में बंध्या नहीं है? कौन नहीं जानता कि बुद्धि को चलाओ और उसे चलने दो तो पूरा चक्कर काट कर वह अन्त में अपने तक ही लौट आती है यानी, सब तर्क आत्म-रक्षात्मक है। Argument is but self-justfication. इसलिये जहाँ पकड़ भावात्मक नहीं हो पाई है वहाँ बुद्धि चक्कर में जितना भी चल ले, तीर की तरह आगे नहीं बढ़ पाती।

बुद्धि को मैं इस्तेमाल करूँगा, पर जिस क्षण उसकी गुलामी में करने लगूँगा उसी क्षण से उसके इस्तेमाल के लाभ से भी अपने को वंचित बना लूँगा। यह मेरा विश्वास है, क्योंकि यह मेरा अनुभव है। बुद्धि को बुद्धि न रहने देकर विचारी को परमात्मा के आसन पर बिठाकर मैं उसे अपने व्यंग से अपमानित कैसे करूँ? उस बुद्धि को नशा हुआ है, या वह बचकानी है, जो उस आसन पर बैठने का अवसर पाकर गर्वोद्धत होती है। परिपक्व बुद्धि का लक्षण उसका शील है। वह नम्र है, मर्यादापरायण है। वह सेवाकांक्षिणी है। विचारी को उसकी कमसिनी में गहने लादकर और कच्चे प्रेम के उपहार देकर अहंकारिणी बनाने का सामान कोई यदि करता है तो वह उसका मान नहीं अपमान करता है।

बुद्धि भावानुगामिनी भी इसीलिए है कि वह भावप्रेरित है। भावहीन बुद्धि की मैं कल्पना नहीं कर सकता। और वैसी कोई चीज कहीं हो तो उसकी पकड़ में ही सत्य है, यह मैं कैसे मानूं?

६—हैनरी बारबूज, गोर्की और रोम्याँरोलाँ की लेखकी सफल इसी-लिए तो है न कि उन्होंने सत्ता के दर्प को नहीं माना और मानवता के हित की टेक को नहीं छोड़ा। बेशक लेखक का यदि कुछ काम है तो यही काम है। मैंने अपने लेख में भी तो यही कहा है।

७—अन्तर एक रहता है। विरोध (युद्ध के विरोध) का रूप क्या

हो ? साहित्यिक की ओर से उस विरोध का रूप में मानता हूँ कि अहिंसक ही हो सकता है। क्योंकि वह राष्ट्र की, जाति की, या सम्प्रदाय की सेना का सिपाही नहीं, मानवता के शाश्वत और सत्य-धर्म का सिपाही वह है। उसे किसी दूसरे राष्ट्र, किसी दूसरी जाति या किसी दूसरे सम्प्रदाय को पराजित करने या नीचा दिखाने की लालसा नहीं है। इसलिए किस बहाने किसका खून बहाने को वह तैयार हो ? वे सब बहाने हैं जो आदमी को आदमी से मरवाते हैं। उन सब बहानों के जाल से लेखक मुक्त होगा, क्योंकि वह हिंस्र वासना से मुक्त होगा।

८—'फासिस्ट', 'प्रतिक्रियावादी' आदि शब्दों के प्रयोग के पीछे मेरे प्रति अतृप्त-सद्भावना का आक्षेप हो सकता है। इसलिए मैं उन विशेषणों को भी स्वीकार करता हूँ, उन्हें लौटाल नहीं सकता। पर उनसे विषय को समझने में या समझाने में मुझे मदद नहीं मिलती। वादों के सहारे निर्विवाद तथ्य को पकड़ने में अपनी असमर्थता स्वीकार करता हूँ।

: ३३ :

हिन्दी और हिन्दुस्तान

भाइयो,

आपने इस संघ के वार्षिकोत्सव पर इतनी दूर से मुझे बुलाया, इसमें मेरे सम्बन्ध में कुछ आपकी भूल मालूम होती है। आ तो मैं गया, क्योंकि, इन्कार करने की हिम्मत मुझे नहीं हुई। लेकिन अब तक मुझ को आश्वासन नहीं है कि आपने मुझे बुलाकर और मैंने आकर सत्कर्म किया है।

लेकिन जो हुआ, हो गया। अब तो हम सब को उसका फल-भोग ही करना है। और इस सिलसिले में आपके समक्ष पहले ही यह कहना मेरी किस्मत में बदा है कि मैं साहित्य का ज्ञाता नहीं हूँ; साहित्य में विधिवत् दीक्षित भी नहीं हूँ।

लेकिन साहित्य-सम्बन्धी उत्साह के बारे में भी मेरा अनुभव है कि किन्हीं लौकिक हेतुओं पर टिक कर वह अधिक प्रबल नहीं होता। लाभ और फल की आशा मूल में लेकर कुछ काल बाद वह उत्साह मुर्झाने भी लगता है। स्थूल लाभ वहाँ नहीं है। इसलिए साहित्य सम्बन्धी उत्साह को अपने बल पर ही जीवित रहना सीखना है। अंधेरे से घिर कर भी बत्ती जैसे अपनी लौ में जलती रहती है और जलकर उस अंधकार के दृश्य को प्रकाशित करती है, उसी भाँति, उस उत्साह को अपने आप में जलते रहकर स्व-पर को प्रकाशित करना है। साहित्य का यही विलक्षण सौभाग्य है,—दुर्भाग्य इसे नहीं मानना चाहिए। अमान्यता के बीच में वह पलता और जीता है, फिर भी, चूँकि श्रद्धा-स्नेह का बल उसे थामे है, वह हारता नहीं, गिरता नहीं,—अपनी यात्रा पर बढ़ता ही जाता है।

इससे देखने में आता है कि आज विपुल अंधकार से घिरकर भी उनसे लड़ते रहने वाला साहित्य कल के नन्हें से उजाले को भी जन्म देता है। आज का साहित्य कल की राजनीति बनता है; कारण, भावना है साहित्य, तो घटना है राजनीति। प्रत्येक घटना के हृदय में भावना है। घटना भावना का प्रकट फल है और वह हम को चमत्कृत करती है। पर, घटना का मूल तो भावना में है, जो अदृश्य है। और अदृश्य है इसी से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसलिए इस ओर जिसने कदम उठाया है उसको मान लेना चाहिए कि उसके एवज में किसी ऐहिक फल की कामना और प्रत्याशा उसको नहीं हो सकती,—दावा कुछ नहीं हो सकता। प्रेम की राह उसकी राह है और प्रेम की राह दूसर है। प्रेम मूक सेवा में सफल होता है। प्रेम यदि गहरा है तो मुखर नहीं है। वहाँ आवेश इसीलिए नहीं हो सकता कि वहाँ भावना की इतनी न्यूनता ही नहीं है।

यह मैं इसलिए कहता हूँ कि व्यक्ति के कुछ लौकिक कर्तव्य भी होते हैं। व्यक्ति निरा आदर्शपुंज ही नहीं है। ऐसा हो, तो आदर्श का कुछ मूल्य ही न रहे। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज से बाहर उसे साँस लेने में भी कठिनाई होती है। एक तल पर पहुँचकर सामाजिक कर्म राजनीतिक स्वरूप इख्तियार कर लेते हैं। मानव-कर्म में राजनीति का भी समावेश है। राजनीति में युद्ध और विग्रह भी आता है। आता क्या, वहाँ विग्रह प्रधान बनता है। वह उपादेय भी है,—राजनीति किसी भाँति वर्जनीय नहीं है। उस राजनीति में अनिवार्यतया दल बनते हैं। उन दलों में परस्पर रगड़ होती है और जोश पैदा होता है। उस जोश से जिन्दगी का बहुत काम निकलता है और वह आवश्यक भी मालूम होता है।

लेकिन, उन सब लौकिक कर्मों की भीड़ में, विग्रह-घमसान और जय-पराजय के बीच, क्या हमको शांति की साधना और उसकी स्थापना ही नहीं करनी है? युद्ध यदि क्षम्य है, और क्षम्य के बाद जायज है, तो

तभी कि जब वह शान्ति की चाह में किया जाता और उसे निकट लाता है। इस लिहाज़ से युद्ध के वीच में भी शान्ति पर ज़ोर देना अप्रासंगिक नहीं है। वल्कि, शुद्ध प्रासंगिक वह तभी है। मानसिक शान्ति धारण करने से सच्चा युद्ध करने की व्यक्ति की क्षमता कुछ वढ़ ही जाती है। अतः अपने लौकिक कर्तव्यों का समर्थन हमें अधिक व्यापक अथच मानवीय कर्तव्य की धारणा में से पाना होगा,—राजनीति का समर्थन सर्व-सामान्य मानव-नीति में से प्राप्त करना होगा। वह कर्म वन्धन-कारक है कि जिसमें हित-भावना नहीं है, और जिसमें सर्व-हित भावना है उसी को कहना चाहिए साहित्य। जब और जहाँ प्रवृत्ति उस दिशा की ओर न चले, सर्वहितात्मकता से उलटी चलें, वहाँ मानव का भ्रम मानना चाहिए। शक्ति के अथवा किसी दूसरे मोह में ऐसा होता देखा जाता है, स्व-पर-हित का ध्यान भूल जाता है और कर्म में आसक्ति-भाव आ जाता है। ऐसे स्थल पर उस अविवेक का आतंक कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने में आतंककारी का अहित है।

ये वातें कहते समय मेरा ध्यान अपने हिन्दुस्तान की हालत और हिन्दी-साहित्य की हालत पर जाता है। भारत-राष्ट्र की स्थिति आज आदर्श नहीं है। वह पराधीन है, दीन है, हीन है। फिर भी आत्मा उसकी जर्जर नहीं हो गई है, उसमें पराक्रम का वीज है। पिछले कुछ वर्ष इस सत्य को भले प्रकार प्रमाणित कर देते हैं। वह जाग गया है और अव समर्थ होकर ही दम लेगा। पर हिन्दुस्तान की कठिनाइयाँ उसकी अपनी हैं। कौन जानता है कि उन कठिनाइयों के हल करने में भारत के भविष्य की उज्ज्वलता का भेद भी नहीं छिपा है। आज भारत पराधीन है, लेकिन उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल क्यों नहीं हो सकता जितना पिछली रात की अंधेरी के वाद का प्रभात उज्ज्वल होता है। मेरा उस भविष्य में और भारत की उस क्षमता में विश्वास है। मैं

उस संस्कृति को मरा हुआ नहीं मानता जिसने भारत के महिमामय अतीत को सम्भव बनाया और जिसने उसे अब तक कायम रक्खा है। नहीं तो मिश्र, यूनान, रोम आदि की प्राचीन सभ्यताएँ आज कहाँ हैं ? जान पड़ता है कि उस भारतीय संस्कृति-तत्व के व्यापक परीक्षण का यह समय आया है और मुमकिन है दुनिया के लिए उसका उपयोग हो।

परिस्थिति की विषमता भी स्पष्ट है। उसपर आँख मींचना नहीं है। भारत आज बँटा है। अनेक स्वार्थ हैं और वे अपने-अपने दायरों में घिरे और लिपटे हैं। भेद-विभेद इतने और ऐसे हैं कि यहाँ छूत-छात का प्रश्न सम्भव बनता है और लूटमार की नौबत आती है और जब तब साम्प्रदायिक दंगों की खबरें सुन पड़ती हैं। दलितों और दमितों के प्रश्न से भी कोई अनजान नहीं है। जान पड़ता है कि जैसे शासन, विशेषकर यह विदेशी शासन स्थिति को सँभाले हुए भी है, नहीं तो हिन्दुस्तान चौपट हो गया होता। दो में फूट हो तो तीसरे का शासन सहज होता है। मानों हम मिले हैं, या मिले रह सकते हैं, तो तीसरे के संरक्षण के नीचे। यह हालत अस्वस्थ है,लज्जाजनक है और इससे हमें उबरना होगा।

स्थिति की इस विषमता को मुख्यता से मेरी समझ में दो बातें थामे हुई हैं—शासन-शक्ति का आतंक और उस दृष्टि से आत्मोद्योग का अभाव, तथा अँग्रेजी का मोह और अपने के प्रति तिरस्कार।

इसमें पहली शिकायत को राजनीतिक जागरण और लोकसंग्रहात्मक कर्मों द्वारा दूर करना होगा। दूसरे काम का जिम्मा मुख्यतः साहित्य पर है, क्योंकि वह व्यापक और सांस्कृतिक काम है। वह मानसिकता का रोग है और जरा सूक्ष्म है।

आज यदि सच्ची राष्ट्रभाषा नहीं है या दुर्बल है, सच्चा राष्ट्रीय साहित्य यदि नहीं है या निर्बल है, और प्रान्त-प्रान्त के और सम्प्रदाय-

संप्रदाय के आपसी सम्बन्ध यदि आज निर्भीक और सद्भावनाशील नहीं हैं तो विशेषकर इसलिए कि हम जिस माध्यम से परस्पर मिलते रहे हैं, यानी अंग्रेजी से, वह हमारे मन का माध्यम नहीं है। और जो मन का नहीं वह सच्चा माध्यम भी नहीं। उससे ऐसा ही मेल हो सकता है कि प्रयोजन को लेकर ऊपर-ऊपर हम मिले रहें, भीतर मन हमारे फटे रहें। अंग्रेजी भाषा का यह अवलम्बन हमारी एकता को खोखला और हमारे अनैक्य को ही हमारे निकट सह्य बनाता है। हमारे साहित्य की न्यूनता और दीनता का मुख्य कारण यह है कि हमारे जीवन में इस अंग्रेजी के कारण फाँक पड़ गई है। जीवन कट-फँट गया है। घर अलग और दफ्तर अलग हो गया है। गाँव एक ओर रह गया है, शहरी जिन्दगी और ही तरफ बढ़ रही है। गाँव में और शहर में, जन-सामान्य में और समाज-मान्य में, बिलगाव इतना बढ़ गया है कि बीच में पूरी खाई दीख पड़ती है। ज्ञात होता है कि उन दोनों में रिश्ता है तो शोषण का, नहीं तो जैसे और कुछ उनमें आपस में वास्ता ही नहीं है। भद्र-वर्ग अंग्रेजी पढ़ता-लिखता है और मानता है कि देहाती देहाती है, संसर्ग-सम्पर्क के बिल्कुल योग्य नहीं है। वह यह नहीं जानता कि गाँव वाले की भाषा से अपने को तोड़कर और विशिष्ट समझे जाने वाले अधिकारप्राप्त वर्ग में अपना नाता जोड़कर हाकिमों की भाषा के सहारे वह सच्चे अर्थों में अपने को मजबूत और ज्ञानी नहीं, बल्कि कमजोर और घमण्डी बनाता है। उधर, इस तरह, गाँव का आदमी संस्कृति-विहीन दीन-हीन रह जाता है, यह तो स्पष्ट ही है।

मुझे जान पड़ता है कि अपनी, देश की या साहित्य की, भलाई की बात करते समय पहली आवश्यकता यह है कि हम मन की भाषा अपनाएँ, अंग्रेजी की परावलम्बिता तज दें। अंग्रेजी पढ़े-लिखें सही, क्योंकि मुख्यता से उसी के द्वारा भारत औरों को स्वयं पा सकता और उन्हें अपना दान कर सकता है, पर उसपर निर्भर न हो रहें। छोटे-बड़े

सब देशवासी अपनी भाषा में अपने को कहने-लिखने लगें तो साहित्य चहुं-ओर भरा-पूरा होने से कैसे रह सकता है ?

देश जिस भाषा को लेकर एक हो सकता है, जो भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, वह हिन्दी है। इस प्रकार भारत के भावी निर्माण में योग देने की सबसे भारी जिम्मेदारी हिन्दी पर आ जाती है। और हिन्दी, अंग्रेजी के समान, हिन्दुस्तान के लिए केवल राजकाजोपयोगी भाषा नहीं है,—वह तो समूचे राष्ट्र की ऐक्य-भाषा बने, ऐसी भी सम्भावना है। तब हिन्दी के साहित्य और साहित्यकारों पर भारी दायित्व आता है। निस्संदेह इस कीमती बोझ के आ पड़ने का कारण हिन्दी-साहित्यकारों के कन्धों की मजबूती और चौड़ाई नहीं है; बल्कि इस भाषा की साधारणता है। यह भाषा भारत के भारी भूभाग में अब भी सुगम है और भारतीय जनता के सबसे निकट है। यह अभी एक दम अंतिम रूप में बन चुकी हुई भाषा नहीं है,—उग रही है, बढ़ रही है और स्वरूप स्वीकार कर रही है। इसके राष्ट्रभाषा बनने के अधिकांश कारण यही हैं। लेकिन अब इस राष्ट्र की भाषा से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता भी क्यों नहीं मांगी जायगी ?

अब इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विवाद भी चले हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी चीज क्या है ? हिन्दुस्तानी कहकर हम उर्दू के आधिपत्य को तो जाने-अनजाने निमन्त्रित नहीं करते हैं ? कम-से-कम उर्दू के मेल के खातिर हिन्दी को गर्दन पकड़कर इस भांति उसके सामने झुकाया तो अवश्य जाता है। और वह उर्दू डेढ़-दो प्रान्तों को छोड़कर और है कहां कि जिसके लिहाज में 'हिन्दी' के आगे यह 'हिन्दुस्तानी' पद हठात बैठाया जाता है ? हिन्दी की एक निश्चित धारा है, निश्चित संस्कार हैं। इसी प्रकार उर्दू का एक अपना रूप है और अपनी तरतीब है। जबर्दस्ती दोनों के मेल कराने का नतीजा दोनों की अपनी

खूबियों से हाथ धोना होगा और इस तरह जो चीज बनेगी, वह भाषा तो होगी नहीं, विडम्बना होगी।

ऐसे विचार और ऐसी शंकाएँ प्रकट की गई हैं। उन पर प्रतिशंकाएँ भी उठी हैं और उत्तर-प्रत्युतर भी हुए हैं। भाषा के जानकार पंडितों का बेशक इस संबन्ध में सचेत रहना योग्य है। वे अधिकारी व्यक्ति हैं। पर जिस अर्थ में मैं साहित्य को समझता हूँ उस अर्थ में, स्वयं अपनी खातिर, इस प्रश्न में साहित्यकार को विशेष महत्त्व और रस नहीं मिलेगा। भाषा उसके लिए शास्त्रगत तत्त्व नहीं है, कुछ उससे अधिक आत्मीय है, अधिक सजीव है। वह एक माध्यम है जिसके साथ उसका अतिशय पवित्रता और सस्नेह सावधानता का सम्बन्ध है, आग्रह का संबन्ध नहीं है। भाषा का सहारा लेकर वह अपने भीतर के अमूर्त को मूर्त करता है। इस भाँति जो भी भाषा प्रस्तुत है, साहित्यकार उसी के प्रति कृतज्ञ है। साहित्यकार भाषा के द्वार पर भिखारी है। जो वहाँ से पा जाय उसी को लेकर वह अप्रस्तुत का आह्वान करता है और इस पद्धति से अनायास ही वह उस भाषा को भावनोत्कर्ष का लाभ भी देता है।

इस दृष्टि से राष्ट्रभाषा के स्वरूप के बारे में मैं एक ही बात जानता और कह सकता हूँ। वह बात यह कि जो भाषा जितने अधिक राष्ट्र के भाग के साथ हमें स्पर्श में ले आती है वह उतनी ही अधिक राष्ट्रभाषा है, जितने घनिष्ठ और आत्मीय स्पर्श में लाती है उतनी ही उत्कृष्ट (=राष्ट्र) भाषा है। किन्तु इस भारतवर्ष में न जाने कितनी भाषाएँ, कितनी जातियाँ और कितने वर्ग हैं। उनके अपने स्वार्थ हैं, अपने आग्रह और अपने अहंकार हैं—सब को अपने संस्कार रुचिकर हैं। लेकिन राष्ट्रभाषा किसी का तिरस्कार नहीं कर सकती। जो राष्ट्र के लिए ऐक्य-विरोधी है, उसी का विरोध राष्ट्रभाषा में हो सकता है, अन्यथा उसकी गोद सब के लिये खुली है। उस राष्ट्रभाषा के साहित्य-निर्माण में सबको योग-दान करने का अधिकार क्यों न हो? उसके

बनाव-संवार में भी प्रेम-परामर्श क्योंकर तिरस्कृत किया जाय ? इसमें हिन्दी के वर्तमान रूप पर, आज की बनावट पर, निस्सन्देह बहुत दबाव पड़ेगा। लेकिन जिसको बड़ा बनाया जाता है उसको उतना ही अपना अहंकार छोड़ कर सबका आभार स्वीकार करना होता है। इसी तरह जब हिन्दी के कन्धों पर भारी दायित्व आ गया है, तब उस हिन्दी को अपना जीवन सर्व-सुलभ, विशद और निराग्रही बनाने में आपत्ति नहीं करनी होगी। उसे अपने योग्य ऊँचाई तक उठना होगा। और जो हिन्दी का साहित्यकार इस विषय में जाग्रत न होकर आग्रही होगा, मुझे भय है कि वह राष्ट्रभाषा हिन्दी से की जाने वाली प्रत्याशाएं पूरी न कर सकेगा।

अब दिन-दिन हमारे जीवन का और अनुभूतियों का दायरा बढ़ता जाता है। हमारी चेतना घिरी नहीं रहना चाहती। हम रहते हैं तो अपने नगर में, पर जिले और प्रान्त के प्रति भी आत्मीयता अनुभव करते हैं। इसके आगे हमारा देश भी हमारे लिए हमारा है। उसके भी आगे अगर हम सच्चे हैं और जगे हुए हैं, तो इतने में भी हमारी तृप्ति नहीं है। हम समूची मानवता को, निखिल ब्रह्माण्ड को, अपना पाना चाहते हैं। 'हम सब के हों', 'सब हमारे हों'—यह आकांक्षा गहरी से गहरी हमारे मानस में बिंधी हुई है। यह आकांक्षा अपनी मुक्ति-लाभ करने की ओर बढ़ेगी ही। उस सिद्धि की ओर बढ़ते चलना ही सच्ची यात्रा और सच्ची प्रगति है।

अब निरन्तर होती हुई प्रगति के बीच बिलकुल भी गुंजाइश नहीं है कि हम अपने को समस्त से काट कर अलहदा कर लें, वैसी पृथकता भ्रम है, झूठ है। और जहां उस पार्थक्य की भावना का सेवन है, जहां पार्थक्य सहा नहीं वरन आसक्तिपूर्वक अपनाया जाता है, वहां जीवन निस्तेज और जड़ हो चलता है। यही प्रतिगामिता है, क्योंकि इसके सिरों पर केवल अहंकार है और मौत है।

इसलिए हिन्दी को भी बन्द रहने और बन्द रखने में विश्वास नहीं करना होगा। बन्द तो वह है ही नहीं,—बन्द इस जगत में कुछ भी नहीं है। सब-कुछ सब के प्रति खुला है और साहित्य वह वस्तु है जो सब ओर ग्रहणशील है। वह सूक्ष्म चिन्ताधाराओं के प्रति भी जागरूक है, हलका-सा स्पर्श भी उसे छूता और उस पर छाप छोड़ता है। ऐसी अवस्था में हिन्दी के साहित्य को विश्व की साहित्य-धाराओं से अलग समझना भूल होगी। आदान-प्रदान, घात-संघात चलता ही रहा है। हम जानें या न जानें, वह संपर्क-संघर्ष न कभी रुका न रुक सकता है। आज जब कि बातचीत और आने-जाने के साधन विद्युद्गामी हो गये हैं उस साहचर्य को काफी स्पष्टता में चीन्हा जा सकता है। अतः आज यदि हिन्दी के प्रस्तुत साहित्य को आँकना हो तो उसे इसी परस्परापेक्षा में रखकर देखना होगा। और इस प्रकार की सजग सम्यक्-समीक्षा और विद्वान समीक्षकों की हिन्दी को आवश्यकता है।

आदमी आदमी के, देश देश के, द्वीप द्वीप के, क्षण-क्षण पास से और पास आता जा रहा है। निस्संदेह इस ऐक्य की साधना में मानवता को बड़े प्रयोग और परिश्रम भी करने पड़ रहे हैं। आदमी आदमी में, देश देश में, द्वीप द्वीप में डाह और वैर भी दीखते हैं। महायुद्ध होकर चुका है; छुट-पुट युद्ध आँखों-आगे नित्य-प्रति हो रहे हैं और आसन्न भविष्य में अगले महायुद्ध की घटाएँ छाई हैं। उस युद्ध की विभीषिका अब भी मनुष्य के मानस पर दबाव डाल रही है। पर चाहे मार्ग विकट हो, मानवता को उस पर से बढ़ते ही चलना है। मेरी अन्तिम प्रतीति है कि जाने-अनजाने अपनी दुर्भावनाओं और दुर्वासनाओं की मार्फत भी हम अन्ततः एक दूसरे के निकट ही आ रहे हैं। इससे हमें परीक्षणों और विफलताओं से घबराना नहीं होगा और लक्ष्य पर से आँख नहीं हटानी होगा।

जीवन की आस्था को, अपनी अन्तस्थ लौ को संभाले रखकर व्यक्ति राह के ऊबड़-खाबड़ को पार करता, दुःख-विषाद झेलता, जिये ही

चलता है। कभी त्रास से घिर जाता है, कभी अश्रद्धा से भर आता है। तब वह एकान्त में ऊपर के सूने को देखता और दो-एक भरी साँस छोड़कर फिर अपने जी को कसकर चल पड़ता है। कभी-कभी यह सब-कुछ बहुत भारी हो आता है। यहाँ तक कि मृत्यु उसे प्रिय और जीवन विष मालूम होता है। ऐसे समय वह आत्मघात भी कर बैठता है। लेकिन, जब तक बस है, वह जीवन को भाग्य की धारा के साथ आगे खेये ही चलेगा। जीवन के अनेकानेक व्यापारों के मंथन में से जो कटुता का, कल्मष का, व्यथा का गरल उसके कंठ में भरता है, नानाविध उपायों से वह अपने भीतर की आस्था के संयोग से उसी को अमृत बना लेगा। उसे पिएगा, पिलाएगा, और चलता रहेगा।

इसी व्यथा-विसर्जन के यत्न में उस मानव द्वारा कला के नाना स्वरूपों को जन्म मिलता है। मानव की अन्तस्थ जीवन-प्रेरणा चुक भले जाय, पर चुप नहीं रह सकती; और वह बिना चैन, बिना विराम, नये-नये भावों में अभिव्यक्त होती है। उससे जीवन-यापन में, जीवन-संवर्धन में बल मिलता है,—उसमें एक से दूसरे को रस मिलता है।

इस भाँति जीवन में सभी अनुभूतियाँ उपयोगी हैं। उन्हें जब हम अपनी आसक्ति में संकीर्ण बनाते हैं तभी वह निषिद्ध बनती हैं। उन्हीं को जब मुक्त करके विस्तीर्ण करते हैं, तब वे साहित्य की निधि हो रहती हैं। इस दृष्टि से, दुःख है कि सुख है जो है—सब वरदान है और भाग्य के संपूर्ण दान के लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। इस भाव से देखने पर साहित्य के निमित्त जीवन, अपने हलके या गहरे, तीखे या मीठे, सब रंगों और रसों के साथ हमारी प्रीति और अभिनन्दन का भाजन बनता है।

पर स्वीकृति की इतनी विशाल क्षमता सहसा व्यक्ति में नहीं होती। उत्तरोत्तर ही इसकी ओर उठना होता है। इसमें व्यक्ति के

साथ बराबर निषेध भी लगा है। वह सब-कुछ नहीं चाह सकता। कुछ है जो उसे नहीं चाहना होगा। कुछ उसके लिए निषिद्ध रहेगा, अतः कुछ और विधेय। इस द्वित्व के उल्लंघन को वह अपने दर्प में शक्य बनाना चाहेगा तो सिवा व्यर्थता के उसे और कुछ हाथ न लगेगा। हाँ, कोरा शून्य यानी मौत हाथ लगे तो लग सकती है।

आदि-काल से मानव-प्राणी की चिन्ता उठते-उठते इसी प्रश्न से जा टकराई है और सदा ही टकरा कर पछाड़ खाकर रह गई है। विधि-निषेध की वह अन्तर-रेखा कहाँ है? वह रेखा खिची-खिचाई कहीं नहीं मिली है और युग-युग में मानव-मनीषा इस बात पर उद्भ्रान्त हो गई है। मानव-जाति के अनेकानेक कल्याणसाधक पथिक उस रेखा की खोज में दिग्भ्रान्त होकर अकल्याण में जा भटके हैं। मैं अल्पमति उस चर्चा में बढ़ने की स्पर्धा नहीं कर सकता। कहना यही चाहता हूँ कि मुझे आशंका है कि पच्छिमी बुद्धि वैसे विभ्रम में पड़कर कुछ चकरा रही है।

पच्छिम आज शक्ति-प्राप्त, विभुता-प्राप्त है। इसका मोह-मद भी उसमें घुस गया है। इसी से वहाँ संकट के बादल भी छाये हुए हैं। उसके नीचे वहाँ का जीवन मानो भ्रमित भाव से गतिशील है। मानो वेग अपने ज़ोर में विवेक को खींचे लिये जाता हो। वहाँ व्यस्तता है, बेचैनी है, और महँगी है। वही सब कुछ वहाँ के साहित्य में और भी उभार के साथ झलक रहा है। उस अवस्था का त्रास और दाह उस साहित्य में है और उन्माद भी है। निस्संदेह, उनका दूसरा पहलू भी वहाँ है और वह अत्यन्त करुण है। शक्ति की पूजा है तो उसके प्रति विद्रोह भी है। पर सब मिलाकर कुछ ऐसा असामंजस्य है कि जैसे लहरें अपने आप में टकरा कर फेनिल और उद्भ्रान्त हो उठी हैं और किसी को अपनी दिशा का पता नहीं है।

निस्संदेह पच्छिम में जीवन अधिक चुस्त और सजीव है। जड़ता के लिए वहाँ छिपकर बैठने को भी जैसे ठौर नहीं है। पर मेरी प्रतीति

है कि स्वास्थ्य का जो तापमान है, उष्णता का माप पश्चिम में उससे ऊँचा पहुँच गया है और वह, स्वास्थ्य नहीं, ज्वर है।

मेरी प्रार्थना है कि हम लोग पश्चिम से ईर्ष्या न करें। ईर्ष्या वैसे भी दुर्गुण ही है। वह अपनी हीनता के बोध में से जन्म लेती है और उस हीनता को दूर नहीं करती, सिर्फ दबाती है। मेरी विनय है कि वैसे भाव की आवश्यकता भी नहीं है। हमारे भीतर जो जड़ता है उससे रुष्ट होकर बुखार को निमन्त्रण देना योग्य नहीं है। उद्भ्रान्त पुरुष निर्वीर्य मनुष्य से बेहतर हो, पर उस कारण वह भ्रान्ति स्तुत्य न होगी। पश्चिम से हमें बहुत कुछ सीखना है, पर सीखना विवेकपूर्वक ही हो सकेगा। अपने को खोकर सीखा कुछ न जायगा, उल्टे यों स्वयं मिटने का उपाय हो जायगा। पुरुष का पुरुषार्थ तो अपने को पाना है।

उस आत्मलाभोन्मुख पुरुषार्थ की हिन्दी में आवश्यकता है। पश्चिम की विभुता के आलोक में अपने को खोने की उद्यतता के लक्षण हिन्दी में अनुपस्थित नहीं हैं, इसी से ऊपर की बात कही गई है। जहाँ से लाभ लेना है वहाँ से लाभ न लेकर आतंकपूर्वक उसका अनुकरण करने लगना सही उपाय नहीं है। और मुझ को स्वीकार करना चाहिए कि आज के प्रचलित पश्चिमी साहित्य में मुझे मिर्च अधिक मालूम होती है, पोषक तत्त्व कम। मिर्च का असर तुरन्त होता है, जरा आदत पड़ने पर उसका स्वाद भी अच्छा लगने लगता है, पर वास्तव जीवन को तो पोषक तत्त्व की ही अधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से मुझे यह भी कहना चाहिए कि इधर के साहित्य से भी पश्चिम कुछ ले सकता है और वह ले रहा है।

अपने प्रति सगर्व होना अहंकार का लक्षण है और आज के हिन्दी-साहित्य की अवस्था पर गर्वस्फीत होने का कोई बहाना भी नहीं है। पर आत्म-ग्लानि की तो और भी किसी प्रकार गुंजाइश नहीं है, और न अन्य भाषाओं के प्रति तनिक भी डाह-पूर्ण लालसा से देखने का

अवकाश है। मुझे हिन्दी के प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और प्रसाद पर तनिक भी लज्जा नहीं है। तुलनाएँ भ्रामक होती हैं, लेकिन गहरी समीक्षा-बुद्धि के साथ देखने पर भी मुझे हिन्दी की ओर से क्षमा-प्रार्थी होने की आवश्यकता इधर वर्षों से कभी प्रतीत नहीं हुई। तिस पर हिन्दी की कुछ अपनी लाचारियाँ हैं। उसका कोई एक प्रान्त नहीं है, कोई एक विशिष्ट संस्कृति-केन्द्र नहीं है। उसकी लिखने की भाषा ज्यों-की-त्यों शायद ही कहीं बोलने की भी भाषा है। इस प्रकार उसको वह घनिष्ठ सहयोग और सामाजिक अथवा प्रान्तीय भाईचारे की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं जो भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को उपलब्ध हैं। लेकिन, कौन जानता है कि ये ही असुविधाएँ आगे जाकर उसकी हितसाधक ही न बन जावें? और इधर आकर जिस वेग से हिन्दी बढ़ रही है, देखकर हर्ष होता है।

किन्तु साहित्य की बात करते समय किसी को किसी का प्रतिनिधि बनने की आवश्यकता नहीं है और मुझे जान पड़ता है कि एक भाषा के माध्यम द्वारा आत्मसाधन अथवा आत्मदान करने वाला साधक साहित्यकार उस अमुक भाषा-क्षेत्र की बपौती नहीं होता। भाषा उसकी सीमित है, पर प्राण उसके व्यापक हैं। वह उस भाषा की राह से सम्पूर्णतया उस महाचेतना के आलिंगन में पहुँचना चाहता है जिसके लिए सब समान है। वह कवि इसलिए नहीं है कि एक भाषा उसके नाम को लेकर फूले और दूसरी भाषा को तिरस्कृत करे। वह अपनी भावनाओं की व्यापकता के कारण सब के लिए प्रार्थनीय और आत्मीय बनता है।

फिर भी, हम हिन्दी के इतने अपने हैं कि उससे असन्तुष्ट होने का हमारा हक है। सतत अभिलाषा जीवन का लक्षण है और हम में असन्तोष नहीं है तो हमारी उन्नति की सम्भावना भी नहीं है। इस दृष्टि से मैं कुछ उस दिशा की ओर संकेत करना चाहता हूँ जिधर संगठित प्रयत्न की आवश्यकता है।

जीवन की कशमकश बढ़ती ही जाती है। आदर्शोन्मुख भावनाएँ उसके बीच पनपती नहीं। युवावस्था पार होते न होते व्यक्ति आदर्श से मानों हाथ धो लेता है और गनीमत मानता है। फिर दुनियादारी को ऐसा पकड़ता है मानों वही सार है शेष सब निस्सार है। तब बड़े शब्द खोखले, ऊँची भावनाएँ भ्रम, और सदाशयता उस के लिए भावुकता हो जाती है। वह इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा की अवज्ञा करता है और अनात्म की सेवा में लीन होता है।

पर इसका उपाय ? प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में सद्भावना की ज्योति को जगाए रखा जाय तो कैसे ? साधारणतया वह जोत जगती है कि झोंका आता है और वह बुझ जाती है। समाज का आर्थिक विभाजन ऐसा विषम है और परिणामतः जीवन ऐसा दुरूह कि अकेली सद्भावना को टिकाए रखना कठिन होता है। उपाय यही है कि परस्पर के सहयोग और स्पर्श से उस जागृति को कायम ही न रक्खा जाय, प्रस्तुत उसे ज्योतिर्मय और कार्यकारी बनाया जाय। आशय यह कि सर्व-हित भावना को बीज-भूत और फलरूप दोनों भाव से स्वीकार करके आप के सुहृद्संघ के समान संघ जगह-जगह बनें। वे उतने विधान-जड़ित दल न हों जितने चैतन्य के केन्द्र हों। बुद्धि का विकास, बुद्धि की मुक्ति और सर्वहित-साधन, यह उनका लक्ष्य हो और विज्ञापन की मनोवृत्ति से वे परे हों।

दूसरे एक ऐसे केन्द्र की भी आवश्यकता है जो तमाम हिन्दी साहित्य की प्रगति को एकता के दृष्टिकोण से देखे, स्थानीय दृष्टिकोण से बिलकुल न देखे। उसके द्वारा साहित्यिक जागरण को संगठित किया जा विकृत-विपरीत सके औरसाहित्य की बाढ़ को रोका जा सके। इन के जन्म में और विधान में विशुद्ध सांस्कृतिक और नैतिक भावना होनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ऐसे केन्द्र के निर्माण में बहुत उपयोगी हो सकता है।

लोक-जीवन को बनाने और सँभालने में साहित्य का जो भाग है,

उस पर यहां कुछ कहना आवश्यक है। साहित्य समाज को व्यक्ति-हृदय के द्वारा छूता और जगाता है। मुझे जान पड़ता है कि जीवन का वास्तव निर्माण उसी राह से होगा। नहीं तो समाज अपने में स्वरूपहीन चीज है। व्यक्ति नहीं सुधरता तो समाज कैसे सुधरे ? समाज कितना भी बिगड़ा हो, व्यक्ति अपने से तो सुधार का काम इसी क्षण से आरम्भ कर सकता है। ऐसा न करके प्रस्ताव और प्रचार का पीछा पकड़कर सुधार की आशा करना दुराशा है।

आत्म-निर्माण में समाज-निर्माण का बीज तो है ही, फल भी है। व्यक्ति समाज की इकाई है, और इकाई ही नहीं वह असल में स्वयं समाज का बीज है। साहित्य उस व्यक्ति के हृदय को ही लक्ष्य में रखता है, कारण, सब महान परिवर्तन हृदय में ही जन्म लेते हैं। ऊपरी कुछ परिवर्तन यदि किया भी जा सके तो तब तक निरुपयोगी है जब तक हृदय भी अनुरूप परिवर्तित नहीं हुआ है। इस प्रकार, लोक-जीवन के निर्माण का सच्चा उपाय वह साहित्य रह जाता है जो व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करके संस्कारी बनाता है। व्यक्ति का संस्कार समाज में फिर फैलता ही है। और अगर चिनगारी सच्ची है तो आग दहकने में थोड़ी फूँक ही चाहिए और फिर तो वह फैली ही रक्खी है।

इस निगाह से राजनीतिक कर्म तब तक अधूरा है जब तक साहित्यिक परिपोषण उसे प्राप्त नहीं है। प्रस्तावों के पीछे प्राणों का बल न हो तो वह उस कागज की कीमत के भी समान नहीं जिसपर वे लिखे हों। आशा करनी चाहिए कि जीवन-चिन्तक और लोक-नायक दोनों इस विषय में सचेत होकर संगठित उद्योग करेंगे। यहां आते वक्त एक हितैषी ने कहा था कि साहित्य-सर्जन में योग देने वाले साथियों से तो मैं खुलकर ही बात करूं, लेकिन साहित्य के बारे में प्रामाणिक जानकारी मेरे पास क्या है ? थोड़ा पढ़ा हूँ, उसके बाद सीखा भी विशेष नहीं हूँ। यह सुनकर लोग कहते हैं, 'देखा ! पहले तो घमंड, और फिर उसपर

दंभ !' वह समझते हैं यह मेरा पाखण्ड है और भीतर के घमण्ड पर जरा मिठास का लेप देने के लिए है। वे मुझपर अदया करते हैं। कुछ मित्र अपने मन में और साथियों के द्वारा मानो कहना चाहते हैं कि 'थोड़ा पढ़े हो तो लज्जित क्यों नहीं होते ? गर्व के साथ बघारते क्या फिरते हो ? धिक् है इस तुम्हारी गुस्ताखी पर। अपने मुँह से बड़ी-बड़ी बातें निकालते हो, फिर कहते हो मेरा मुँह छोटा है ! छोटा मुँह है तो उसे मत खोलो ! क्यों बड़ी बातों को भी उस मुँह से निकाल कर उपहास्य बनाते हो ?' सच, नहीं जानता कि मैं इन बातों का क्या जवाब दे सकता हूँ। जवाब मेरे पास है ही नहीं मैं अपने को दोषी कबूल करता हूँ। लेकिन दोष तो तभी हो गया जब पहलेपहल कलम मैंने उठाई। आप कहोगे—कलम उठाई ही क्यों ? बेशक यह संगत प्रश्न है, और यही मैं अपने से पूछा करता हूं। पर उत्तर में सिर झुका रह जाता है, कुछ बोल नहीं मिलता। आज भी मुझे अचरज है कि किस बूते पर मैंने कलम उठाई और किस बल पर मैं उसे चलाता भी रहा। लेकिन, सच बात यह है कि यदि मुझे स्वप्न में भी कल्पना होती कि मेरा लिखा छापे में आ जायगा तो लिखने का दुस्साहसिक कर्म मुझ से न बनता। इसी से जब मैं पढ़ता हूँ कि ईश-कृपा से बहरा भी सुन पड़ता और मूक बोल उठता है, और उस ईश-महिमा से पंगु भी गिरि लाँघ जाता है, तब, यह देखकर कि मैं लिखता हूं, मुझे उस सब अनहोनी के होने का भी विश्वास हो जाता है। इसलिए घमंड-पाखण्ड की सब बात परमात्मा ही जाने। उनकी कृपा हुई होगी कि मैं कुछ लिख भी सका, नहीं तो—लेकिन, उसे छोड़िए। अब मैं पूछता हूँ कि जो मैंने आरम्भ में लिखा, क्या 'स्वान्तः सुखाय' लिखा ? मुझे नहीं मालूम। जो करता हूं मैं अन्तः सुख के लिए करता हूं या परिस्थितियों के कारण करता हूं—यह मैं खोलकर समझ नहीं पाता हूं। अलबत्ता इतना जानता हूँ कि आरम्भ में जो लिखा, वह

किसी भी प्रकार किसी के उपकार, सुधार या उद्धार का प्रयोजन बाँधकर मैं नहीं लिख सकता था। मैं तब इतना अज्ञातनाम, अपने आप में इतना संत्रस्त, हीन, निरीह प्राणी था कि परहित की कल्पना ही उस समय मुझे अपनी विडम्बना जान पड़ती। इसलिए मैं किस प्रकार इन चर्चाओं में जाऊँ कि साहित्य-कला किसके लिए है, अथवा किसके लिए हो ? यह बात महत्त्वपूर्ण होगी, लेकिन मैं उस बारे में कोरा हूँ।

हाँ, इधर आकर एक विश्वास मेरी सारी चेतना में भरता-सा जाता है। कि जो कुछ हो रहा है वह सब कुछ 'एक' की पहचान के लिए हो रहा है, उसी एक 'से' और एक 'में' हो रहा है । और वह एक है 'परमात्मा'। लेकिन उस बात को आप मेरी सलज्ज अपराध-स्वीकृति (Confession) ही मानिए। उसमें हो सकता है कि न कुछ भावार्थ मिले, न चरितार्थ दीखे। हो सकता है कि वह प्रतीति मेरी असमर्थता की प्रतीक हो। लेकिन मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि ठीक-ठीक कुछ जानता नहीं हूँ।

साहित्य क्यों, क्या, किसके लिए? इसकी प्रामाणिक सूचना मैं कहाँ से लाकर दूँ! और जहाँ से लाकर दूँ वहाँ से आप क्या स्वयं नहीं ले सकते जो मेरा अहसान बर्दाश्त करें ? कैसे लिखा जाता है, इस बारे में कहने को मेरे पास अपना अनुभव और उदाहरण ही हो सकता है। यह कौन जाने कि किस हद तक वह आपके मनोनुकूल होगा, या प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय होगा।

आजकल मानव का समस्त ज्ञान वैज्ञानिक बने तब ठीक समझा जाता है। इस तरह वह सुनिश्चित और सुप्राप्त बनता है, तभी प्रयोजनीय बनता है। सो अव्वल तो ज्ञान ही मेरे पास नहीं, और जो निजी व्यक्तिगत कुछ बोध-सा है वह वैज्ञानिक तो है ही नहीं। इसलिए उसे आप सहज अमान्य ठहरा दें तो मुझे कुछ आपत्ति न होगी।

जिन्दगी का मन्त्र क्या है ? मेरे ख़याल में वह मन्त्र है, प्रेम। सूरज धरती को, धरती चांद को, धनु-शत्रु को, पिता पुत्र को, जन्म मृत्यु को, 'मैं' 'तू' को, स्त्री पुरुष को, परस्पराकर्षण में कौन थाम रहा है ? वही प्रेम। विराट् की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी क्षणजीवी अपारलघुता,—जो इन दोनों को परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है वही प्रेम है। मुझे जान पड़ता है कि साहित्य का भी दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। प्रेम से बाहर होकर साहित्य के अर्थ में कुछ भी जानने योग्य बाकी नहीं रहता। 'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालूम होती, सबसे खरी सच्चाई मालूम होती है। एक जगह कबीर ने बालक प्रह्लाद के मुँह से गाया है—

मोहे कहा पढ़ावत आल-जाल,
मोरी पटियापै लिख देउ 'श्रीगोपाल'।
ना छोड़ूँ रे बाबा रामनाम,
मोकों और पढ़न सों नहीं काम।

कबीर की बानी में उसी प्रेम के माहात्म्य का गान मुझे सुन पड़ता है। न ऊपर की उक्ति का और न कबीर-बानी का यह आशय समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा। पर यह मतलब तो जरूर है कि जो प्रेम-विमुख है, ऐसा पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है। जिसमें केवल बुद्धि का विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती, वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है। और यदि वह पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथा से भी बुरा है, हानिकारक है।

गलत समझा जाऊँ इस खतरे को भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महा-पंडित को सम्भालने की शक्ति शायद साहित्य में नहीं है। साहित्य जिस तरल मनोभावना के तलपर रहता है, ऐसे महापंडित का स्थान उससे कहीं बहुत ऊँचे पर ही रह जाता होगा।

जान जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है। वह एकदम कुछ न जानने के बराबर हो सकता है। ऐसा हो, तो कृपापूर्वक आप मुझे क्षमा कर दें। शायद आप की कृपा के भरोसे ही उसका दुर्लभ उठाकर ऊपर कुछ अपने मन की निरर्थक-सी बात कह गया हूँ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समीक्षा में मैं नहीं जा सकूंगा। वह अधूरा है, अपर्याप्त है। पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है। वह बराबर बढ़ रहा है। गद्य के क्षेत्र में वह तेजस्विता की ओर भी बढ़ चला है। पद्य में सूक्ष्मता की ओर अच्छी प्रगति है। हिन्दी साहित्य में चहुँ-मुखता बेशक अभी नहीं है। वह इसलिए कि जीवन ही अभी चहुँ-ओर नहीं खुला है। पराधीन देश में राष्ट्रीयता इतनी जरूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवन को उसी ओर खींचकर मानो नुकीला बनाने का प्रयास करती है। स्वाधीनता की जरूरत है तो मुख्यतः इसलिए कि जिन्दगी सब तरफ की मांगों के लिए खुले और फैले। अनिवार्यतया राष्ट्रीय भाव की प्रधानता अपने साहित्य में रही और अब, जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है, सम्भावना है कि उस प्रकार की साहित्य को एकांगिता दूर होने में कुछ और भी समय लगे। आधुनिक समाजवाद भी साहित्य की सर्वाङ्गीणता को सम्पन्न करने में विशेष उपयोगी नहीं हो रहा है। उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवन की ओर बढ़े,—नगर से गांव की ओर, गांव से प्रकृति की ओर, प्रकृति से परमात्मा की ओर बढ़े। हमारे साहित्यकार को प्राण-वायु, शुद्ध जीवन और आसमान की अधिक आवश्यकता है। वह नगर-जीवन की कृत्रिम समस्याओं से घुटता जा रहा है। उसको शहर की तंग गलियों और सटी दीवारों को लांघकर, न हो तो तोड़कर, खुले मैदान में सांस लेने बढ़ना चाहिए। उससे फेफड़े मजबूत होंगे और सबका भला होगा।

हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में बात करते हुए यह कहना भी जरूरी मालूम होता है कि जैसे सुचारुता के लिए व्यक्ति में विविध वृत्तियों का

सामंजस्य आवश्यक है, उसी भाँति साहित्य में आदर्शोन्मुख भावनाओं और परिणामों के सामंजस्य की ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होने से साहित्य जब कि रोमांटिक (कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेने वाला जीवन संगतिहीन और उथला हो चलता है। कल्पना का विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार जो अध्यात्म का अथवा दर्शन-ज्ञान का वातावरण बनता है वह भ्रामक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छल में डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न खूब मनोरम हो, पर वह स्वप्न ही है तो किस काम का ? उसी स्वप्न की कीमत है जिस के पीछे प्रेरणा, उत्सर्ग भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, संकल्प अधिक हो जाता है। साहित्य के मूल में यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है; अन्यथा विवेक-वियुक्त कल्पना धोका दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती।

यूरोप के साहित्य को जो बात प्रबल बनाती है वह उस की यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके ऊँचे न हों, और नहीं ही हैं, लेकिन उनके संकल्पों और उन स्वप्नों में इतनी दूरी भी नहीं है कि विरोध मालूम हो। मन-वचन-कर्म का यह सामंजस्य,—यह ऐक्य ही असली तत्त्व है। इस समन्वय से मन की भावना अधिक प्रेरक, वचन अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकता के साथ तीनों (भावना, शब्द, कृत्य) अलग-अलग भी अपने आप में सत्यतर बनते हैं। उस एकता के अभाव में तीनों झूठ हो जाते हैं। तभी तो प्रमत्त का स्वप्न, दम्भी के मुख का शास्त्र-वचन और पाखण्डी का धर्म-कर्म अपने आप में सुन्दर होते हुए भी असत् हो जाता है। राजनीति से अधिक साहित्य के क्षेत्र में यह एकता जरूरी है। क्योंकि स्थूल कर्म का परिणाम तो थोड़ा बहुत होता भी है, पर शब्द में तो वैसी स्थूल शक्ति है नहीं, उस में उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणों से हम उसमें डाल सकते हैं। अतः साहित्यकार के लिए मन-वचन-कर्म की एकता-साधना जरूरी मानना चाहिए।

एक बात और, और बस। एक प्रकार से वह ऊपर भी आ गई है, पर उसको स्पष्ट कह देना भला ही हो सकता है। वह यह कि हम को सबके प्रति विनयशील होना होगा। अविनय जड़ता है। जीवन पवित्र तत्त्व है और साहित्य के निकट क्योंकि सब कुछ सजीव है इससे साहित्य-रसिक के लिए सब कुछ पवित्र है। उस के मन में किसी के लिए अवज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी अवज्ञा के मूल में अहंकार और अपूर्णता है।

इस बात के संबन्ध में अधिक-से-अधिक सावधानी भी इसलिए कम है कि आज चारों ओर राजनीतिक प्रचार के कारण सहानुभूति की मर्यादा-रेखाएँ खींच दी गई हैं और प्रेम दलों में बँट गया है। इस भाँति अवज्ञा की भावना सहज भाव में घर कर जाती है और वह उपयुक्त भी जान पड़ने लगती है। पर निश्चय रखिए कि अनादर की भावना में से कोई निर्माण नहीं हो सकता। सर्जन स्नेह द्वारा ही सम्भव है।

पर यहां भूल न हो। जीवन निरी मुलायम चीज नहीं है। वह युद्ध है। वह इतना सत्य है कि काल भी उसे कभी तोड़ नहीं सकता। निरन्तर होती हुई मृत्यु के बावजूद जीवन की धारा अनवच्छिन्न भाव से बहती चली आ रही है, बहती चली जायगी। सत्य को सदा ही असत् से मोर्चा लेना होगा। जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नहीं है, और कोई अन्त नहीं है।

पर युद्ध किस से ? व्यक्ति से नहीं, घनीभूत मैल से। पापी से नहीं, पाप से। क्योंकि जिसे पापी माना है उसके भीतर आत्मा की आग है, और आग सदा उज्ज्वल है। वह पाप को क्षार करती है। यह पाप से अडिग भाव से जूझने की क्षमता पापी को प्रेम और उसके भीतर की आग में अचल आस्था रखने की साधना में से आवेगी।

मैंने आप का बहुत समय लिया। इस समय में जो सूझा है मैं

कहता रहा हूँ। आप मेरे प्रति कल्याणशील हुए तो मैं यह अपना कम लाभ नहीं मानूँगा। आप देखते तो हैं कि आप की कृपा का मैंने कैसा फायदा उठा लिया है। मैं उन सबके लिए आप से क्षमा चाहता हूँ और आप को फिर धन्यवाद देता हूँ।

: ३४ :

किस के लिए लिखें ?

'विशाल भारत' ने 'कस्मै देवाय' लेख में प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है—'जनता-जनार्दनाय' । जनता का स्पष्टीकरण भी उसने किया है, अर्थात्, वे जो अपने पसीने के बल रोटी खाते हैं,—किसान, मजदूर आदि । उनकी अपेक्षा मध्यवित्त लोग 'जनता' नहीं हैं, और सम्पन्न धनिकवर्ग तो है ही नहीं ।

मुझे तो वह लेख पसन्द आया । क्योंकि उसमें हार्दिकता का जोर है । पर मुझे लगता है, वह भ्रम में डाल सकता है । साथ ही यह भी प्रगट है कि वह लेख स्वयं भ्रम से खाली नहीं है । भावना में उसके साथ होते हुए भी मैं उस दृष्टिकोण से तीव्र मतभेद प्रकट करना चाहता हूँ जो उसमें प्रतिपादित है । क्या वस्तु-स्थिति यह है कि हम चुन लें कि हम 'क' के लिए लिखते हैं, या 'ख' के लिए ? और यदि 'ख' के लिए नहीं लिखते, तो हम उसके अपराधी बनते हैं ? और 'क' या 'ख' के लिए लिखना ही होगा, क्योंकि वह निर्बल है या प्रबल है, या ऐसा है या वैसा है ?

'विशाल भारत' वाले वक्तव्य का आधार यही है कि मनुष्यता मूल रूप से वर्गों में बँटी है, और तुम्हारी सहानुभूति या तो एक वर्ग के साथ है और वह सब वहीं खर्च होती है, नहीं तो दूसरे वर्ग के साथ है और पहले वर्ग के तुम दुश्मन हो ।

इस दृष्टि को जब व्यवहार में उतार कर देखते हैं तो इसका रूप यह होता है कि, 'देखो जी, जिस दल में मैं हूँ (और, क्योंकि मेरी भावनाएँ और सहानुभूतियाँ वहाँ पुष्ट होतीं और व्यय होती हैं, इस

में निस्संशय मानता हूं कि जगत् का उद्धार उसी दल के द्वारा है) उसी के साथ तुम नहीं हो तो तुम नहीं कह सकते कि तुम हमारे दुश्मन नहीं हो । समझे ? अब चुन लो !' तर्कवादी तर्क से सिद्ध कर सकता है कि मेरा स्वार्थ अलग है तुम्हारा अलग, न केवल इतना ही, इससे आगे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि एक के स्वार्थ पर डाका डालकर ही दूसरे का स्वार्थ पुष्ट होगा अन्यथा नहीं। और इसी भाँति कहा जा सकता है कि मानव-सत्य भी स्वार्थ का परस्पर-संघर्ष ही है,—वर्ग-वर्ग के स्वार्थ और हित भिन्न हैं, विरोधी हैं, और अमुक एक वर्ग के प्रति सद्भावना, आवश्यक रूप में, दूसरे वर्ग के प्रति द्वेष-भावना के बल पर ही साधी जा सकती है । तो मैं कहूँगा कि 'तुम्हारे तर्क का सत्य यह है तो हो,—साहित्यिक का सत्य यह न हो सकेगा ।

साहित्यिक का सत्य तो यह है कि मनुष्यता एक है। वह इसी सत्य को निरन्तर खोजता है और निरन्तर, अपनी भावना और रचना से, वह उसको निकट लाता है। यदि मनुष्यता कहीं एक नहीं है, और तत्त्व यहीं विग्रह है, कलह है, विच्छेद है,—तो वह मिथ्या है। और इस मिथ्या के साथ लड़ाई ठाने रखना साहित्यिक का धर्म, उसका सत्य-आग्रह बन जाता है। वह उस मिथ्या को स्वीकार न कर सकेगा। कारण, प्रतिक्षण वह उसे तोड़ने और ढाने में लगा है।

जो कुछ मनुष्य ने बनाया है उसको ही दृष्टि में प्रधान रख कर हम यदि देखते हैं तो दीखता है कि मनुष्यता असंख्य स्वार्थों में बँटी हुई है। यहाँ दूसरे पर एक का हावी हो जाना ही उसकी सिद्धि है, और शक्ति ही न्याय है, और 'अहम्' ही सत्य है। जीवन में विधि-निषेध और राग-द्वेष की आवश्यकता का जंजाल-सा फैल रहा है। इसने यह किया है, इसे फाँसी दो; इसकी लाटरी का नम्बर ठीक निकल आया है, इसलिए इसे पाँच लाख रुपए दो। जीवन में यह विषमता हमें स्वादिष्ट लगती है।

फाँसी से हम डरते हैं और सोचते हैं कि हाय-हाय, हमारे नाम यह लाटरी क्यों नहीं निकल आती।

मनुष्य ने यह जो बनाया है, जो समाज, सरकार और सभ्यता खड़ी की है, वह एकदम बता बताने लायक ही हो सो नहीं; पर जिसने मनुष्य को बनाया है और जिसके लिए मनुष्य बना है और मनुष्य के द्वारा जो व्यक्त और सम्पन्न हो रहा है, उसे भी ध्यान में रख सकें तो दीखे कि समता और एकता भी कहीं है। कहीं क्यों,—सभी कहीं है। और तब अनैक्य और वैषम्य में प्रलोभन हमारे निकट नहीं रह जाय और हम स्पष्ट देखें कि हमारी स्थिति वहीं है जहाँ सर्वस्व भेद नहीं है।

मनुष्य ने एक वस्तु बनाई है, पैसा। धरती में से धातु निकाली, उस पर मोहर ठोकी, और मनुष्य-मनुष्य के बीच वह आदान-प्रदान का सहज साधन बना। पैसे की उपयोगिता से इन्कार करना अपना अभिमत नहीं है। पैसे के अभाव में मनुष्य आपस में कोसों दूर बना रहता, पैसे से वह पास आया है।

लेकिन मनुष्य की बनाई कौन-सी चीज सम्पूर्ण है? पैसा जितनी तेजी से बढ़ा, मनुष्य का हृदय उतनी तेजी से नहीं बढ़ सकता था। धीरे-धीरे उन हृदयों को फाड़ने के काम में वह आने लगा। उसने जमा होकर आदमी को आदमी कम रख के उसे अधिक गरीब या अमीर बना देना आरम्भ किया।

अब एक दृष्टि वह है जिसमें आदमी आदमी पीछे है, वह गरीब और अमीर पहले है। आदमी के बारे में जितना कुछ हमें ज्ञात होता है वह इसमें समाप्त हो जाता है कि वह पैसे वाला है या बेपैसा है। स-पैसा या अ-पैसा होना तो मात्र स्थिति है, एक ऊपरी पहरावन है, तथ्य-वस्तु तो व्यक्ति है,—यह भाव हम से खो जाता है। और हमारी मति में मनुष्य तो उपलक्ष्य, गौण-मात्र हो रहता है, उसकी गरीबी-अमीरी ही केवल हमें जानने की वस्तु रह जाती है।

अमुक के पास पैसा नहीं है, क्या इसीलिए वह मनुष्य से कम है ? या इसीलिए वह मनुष्य से ज्यादा है ? या कोई पैसे वाला है, इसी कारण देवता या राक्षस है ? ऐसा नहीं है, क्योंकि मनुष्यता से अनपेक्षित रहकर गरीबी-अमीरी कुछ चीज नहीं हैं। मुझे भय है कि 'विशाल भारत' के लेख में गरीबी-अमीरी का पार्थक्य जरा जोर के स्वर में और जरा गहरे रंग में उभर आया है। और खुद उसकी खातिर निर्धनता और दीनता के पक्ष का प्रलोभन होना शायद अपनी खातिर धनाढ्यता के लोभ से कुछ कम भयावह वस्तु भले हो; पर फलतः वे दोनों एक-सी अयथार्थ वस्तु हैं।

पर साहित्य, 'विशाल भारत' की ओर से मैं अपने से पूछूँ, क्या विना चुनाव, झुकाव या पक्षपात के एक पग भी चल सकता है ? तब दुपहरी को धूप में पसीने से चुचुआता नंगा बदन लिए फावड़े से खेत खोदता हुआ और बीच-बीच में खुले गले से राग अलापता रमल्ला और इश्क की कहानी पढ़ती हुई बिजली के पंखे के नीचे अधढकी और अधलेटी रसीली रम्भा,—इन दोनों में से, बताओ, साहित्य किसको लेकर धन्य होगा ?

हां, मैं कहूँगा, स्रष्टा के लिए हेयोपादेय की तरतमता होनी होंगी और जितनी स्पष्ट और पैनी हो उतना। अच्छा यहां तक कि उसकी धार इतनी सूक्ष्म हो कि वह व्यक्तियों में से पार होती चली जाय और व्यक्ति को दैहिक चोट तनिक न अनुभव हो। पर जिस तरह रमल्ला अधिक-से-अधिक ईमानदार और उद्यमी और मस्त होकर भी अपने ऊपर लिखी गई रचना को निकम्मी होने से नहीं रोक सकता, उसी तरह रम्भा अधिक-से-अधिक कुटिल होकर भी अपने ऊपर लिखी गई साहित्यिक रचना को अतिशय धन्य होने से नहीं रोक सकती। मेरे भाई, (मैं अपने से कहूँगा) किसी को भी आत्मा वेदना और स्वप्न से खाली नहीं है। अहंकार छोड़कर उसकी आत्मा में तुम तनिक झांक सको,—चांडाल हो

कि ब्राह्मण, वेश्या हो कि सन्त, राजा हो या रंक,—तो सब कहीं वह है जो तुम्हारी खोज की वस्तु है। किसी को तजने की आवश्यकता नहीं, किसी को पूजने की जरूरत नहीं। साहित्य के आदर्श की मूर्ति को 'रमल्ला' में स्थापित करने के लिए उसे 'रम्भा' में से क्यों तोड़ते हो? यों तो मूर्ति ही गलत है, क्योंकि मूर्ति से बाहर होकर भी साहित्य का आदर्श ठौर-ठौर अणु-अणु में व्यापा है। लेकिन यदि तुम मूर्ति चाहते ही हो, और रमल्ला में आदर्श-दर्शन तुम्हें सहज होते हैं, तो सहर्ष तुम उस मन्दिर में सर्वाङ्ग-मूर्ति प्रतिष्ठित करो। मैं तो कहता हूँ, यानी अपने से कहता हूँ, 'मेरे लिए तो सब कुछ मन्दिर है, मुझे तो सभी व्यक्तियाँ मूर्तियाँ भी है। लेकिन, तुम इस नये यत्न में 'रम्भा' को, या किसी और की मूर्ति या मन्दिर को तोड़ने की जिद रखना जरूरी न समझो। इससे तुम्हारा ही अपकार होगा।'

लेकिन, प्रश्न तो है,—हम किस के लिए लिखें? साहित्यिक उद्यमी होने के नाते क्या दिशा हम उसे दें? क्या सब अंधाधुन्ध चलने दें? हमारे युवक बिगड़ते हैं, स्त्रियाँ विपथगा होती हैं, भ्रष्टाचार फैलता है,—यह होने दें? और तब जब कि दुर्भाग्य से संपादक की ज़िम्मेदारी हमारे अनुद्यत कंधों पर रक्खी है, और हमें कुछ-न-कुछ बनाना होता है।

किस के लिए लिखें? यह सोचते हुए जब मैं यहाँ पहुँचता हूँ कि दुनिया की भलाई के लिए लिखो, तब मुझे आशंका होती है। ध्यान आता है कि हर मिनिट जीने के लिए मैं जिसका ऋणी हूँ,—आज उसका उपकारक, उद्धारक होने चला हूँ? और भलाई करूँ, इस विचार में से पर्याप्त प्रेरणा भी नहीं प्राप्त होती। अपने सुख के लिए लिखूँ, तो नहीं जानता कि लिखने में मुझे सुख होता है या नहीं। और मुझे सुख होता भी है तो तब जब पाता हूँ कि छपकर वह बात सैंकड़ों के पास पहुँच गई है, और दो एक तारीफ भी कर रहे हैं। मुझे सुख भी तो 'मुझ से दूसरे

सुख पा रहे हैं' यह जानकर ही होता है। अच्छा, और जो किसी ने तारीफ नहीं की, बल्कि मेरी रचना की कुछ बुराई ही हुई, तो क्या मैं न लिखूं ? अपने सुख के लिए लिखूं तो ऐसी हालत में मुझ में लिखने की प्रेरणा शेष नहीं रहेगी।

'अपने लिए लिखें, या पराए के लिए ?' जब यह प्रश्न इस भांति द्वि-मुखी होकर मेरे सामने खड़ा हो आया तब मुझे सूझा नहीं कि मैं उसपर चलूं या इसपर, और दोनों से बच निकलने की राह कहां थी? उस समय मालूम हुआ कि अरे, अपने अहंकार में भरा मैं यह क्यों नहीं सोचता कि एक वह भी तो है जहां पराया भी अपना है और अपना सब ही कुछ जिसमें समाया है। बस उसी के लिए तो यह सब रहना, करना, और लिखना है। यानी अपने भीतर और बाहर अधिष्ठित उसी एकमात्र सत्य की प्रतिष्ठा के लिए मैं लिखूं।

'विशाल भारत' ने जो 'जनता-जनार्दनाय' लिखा है, वह ठीक। लेकिन क्या सिर्फ़ 'जनार्दनाय' मेरे निकट और भी ठीक न होगा ? कारण, 'जनता' में पशु-पक्षी कहां हैं, वनस्पति कहां हैं ? यह आकाश तारे कहां हैं ? और 'जनार्दन' में तो हमारा ज्ञात-अज्ञात सब है।

लेकिन 'जनार्दन' को आजकल कौन जाने, कौन माने ? इससे आजकल की भाषा में कहना हुआ,—सत्य की शोध, सत्य की चर्या, सत्य की पूजा के लिए हम लिखें।

इसके बाद गरीब के लिए लिखें, अमीर के लिए लिखें, साधारण के लिए लिखें, असामान्य के लिए, दुराचारी या सदाचारी के लिए, स्त्री के लिए या पुरुष के लिए, मनोरंजन के लिए या साधना के लिए ?—ये बातें अधिक उलझन नहीं उपस्थित करतीं।

सत्य के प्रसार और अंगीकार के लिए हम लिखते हैं। सत्य में जो बाधा है वही गिराना सत्य का ऐक्य है। कुछ एक दूसरे के निकट अछूत हैं, गलत समझे हुए (misunderstood) हैं, आधे समझे हुए (half-

understood) हैं,—कुछ त्याज्य हैं, दलित हैं, त्रस्त हैं, अपराधी हैं, अभियुक्त हैं, दीन हैं, बेजुबान हैं; कुछ गर्वीले हैं, दर्पोद्धत हैं, दुष्ट हैं, निरंकुश हैं—यह सब सत्य है। यह क्यों? मनुष्य की अहंकृत मान्यताओं में घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारों ओर दुर्ग की-सी दीवारें खड़ी करके उनमें अपने स्वार्थ को सुरक्षित बनाकर चलने के लिए सब अपने को लाचार समझते हैं। वे दीवारें सब को अलग बनाये हैं,—हृदय को हृदय से दूर रखती हैं।

एक को दूसरे के हृदय के निकट देखें और सबको विश्व-हृदय के निकट देखें, और इस प्रकार विश्व के जीवन में सत्योन्मुख एकस्वरता उत्पन्न हो। जिससे यह हो, वही तो हम लिखेंगे। और यदि इस प्रकार कुलटा नारी के प्रति कट्टर पति का हृदय हम ने अपनी रचना से पिघला कर आर्द्र कर दिया, प्रेमिका को मारने को उद्यत प्रेमी का खड्ग-सिद्ध हाथ रोक लिया, रोते को हँसा दिया, गर्वस्फीत को मुलायम कर दिया, 'विशाल-भारत' को 'रम्भा' के प्रति क्षमाशील कर दिया, तो यह उसी भाँति शुभ और आवश्यक है जैसे यह कि मजदूर के प्रति अफसर में, दीन के प्रति धनाढ्य में, कृषक के प्रति मालिक में, और शासित के प्रति शासक में सहानुभूति का उदय होना। जहां यह सत्यशील प्रेम-भावना नहीं, वहाँ ही असत्य है। उस असत्य के मुकाबले की अवश्य जरूरत है, पर सत्य-चर्या में ही हर प्रकार के मुकाबले की शक्ति है और उसी में से स्वयं खप जाने की राह भी प्राप्त होती है।

किसी के प्रति भी तिरस्कार या वहिष्कार का भाव रखने के भाव को साहित्य में मजबूत नहीं होने देना होगा। और न किसी को सीधे दबाने का लोभ होना चाहिए। अपने भीतर की प्रेम-शक्ति का अकुंठित दान ही साहित्य के पास एक अस्त्र है, जो अमोघ है।

लेखक के प्रति

यह तत्त्व लेखक बनने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक महाशय को जान

लेना चाहिए कि रामचन्द्रजी को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने में ऋषि वाल्मीकि ने अपनी पवित्रतम भावनाएँ और उच्चतम विचार और श्रेष्ठतम अंश का दान दिया। वाल्मीकि में जो सर्वोत्कृष्ट है, वही राम है। लेखक की महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है, शिव है, सत्य है,—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसी को वह सबके अर्पण दे जाय। उसे अपना और अपने नाम का मोह न हो, वह अपने आदर्श के प्रति सच्चा हो, स्वप्न के प्रति खरा हो। उसका आदर्श ही अमर होकर विराजे, पूजनीय हो,—इसी में लेखक की संतृप्ति है, सफलता और सार्थकता है।

मेरी इच्छा है जो लेखक बने वह पाठक को वह दे जो उसके पास अधिक-से-अधिक मार्मिक है, स्वच्छ है और वृहत् है।

: ३५ :

लेखक की कठिनाइयाँ

मुझे ख्याल न था कि लेखक की कठिनाइयों पर कुछ कहना होगा। कठिनाइयाँ जिन्दगी में जरूरी चीज हैं। उनके सहारे आदमी अपने को जानता है और वस्तुस्थिति को जानता है। दुनिया में जो परस्पर का सम्मिलन आवश्यक है, वह किन सिद्धान्तों पर होगा, इसका पता पारस्परिक रगड़ से ही होता है। मेल कुछ ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बना रहे और समूह की समुदाय-शक्ति भी कम न हो। व्यक्ति में और परिस्थिति में जब 'मेल नहीं होता तभी कठिनाई उपस्थित होती है। और कठिनाई के कारण यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि व्यक्ति कैसे वर्तन करे कि स्थिति में उन्नति भी हो और अशान्ति भी न बढ़े।

इसलिए यदि यहाँ मैं कुछ अपने सम्बन्ध का अनुभव लिख भी रहा हूँ तो सिर्फ इतने के लिए कि हम घर वाले वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लें और स्थिति बोध के आधार पर फिर उन्नत हों।

कोई क्यों लिखता है ?

अपनी ओर देखकर जब मैं अपने से पूछता हूँ कि कोई क्यों लिखता है, तो मुझे मालूम होता है कि असमर्थ होने के कारण व्यक्ति लिखता है। जो बचपन से चपल हैं, तेज हैं, जिनको सहज प्रशंसा और सफलता प्राप्त होती है, वे लेखक नहीं बनते। जो क्लास में पढ़ने में होशियार होते हैं, जो स्पोर्टस में अथवा क्लब में सर्व-प्रिय होते हैं, उनके लेखक बनने की सम्भावना उतनी ही कम होती है।

हर बात पर हमारे मन में कुछ चिन्ताएँ चला करती हैं। वे या तो

खर्च होती रहती हैं, नहीं तो जमा होती रहती हैं। उस व्यक्ति के भीतर वे अनिवार्य रूप से जमा होती हैं, जिसे उन्हें अपने से वाहर खर्च डालने का सुभीता नहीं है।

संचित होते-होते वे उनमें क्लेश तक उपजाती हैं। व्यक्ति उनके वोझ से त्रास पाता है। उस त्रास से छुट्टी तो मिलनी चाहिए। नहीं तो वह त्रास आत्मा को दवाए रहता है।

लिखना भी जाने-अनजाने उस त्रास से छुटकारा पाने की एक युक्ति है।

कुछ विशेष प्रकार की प्रकृतियों के पुरुष होते हैं, जो इस सारे घुटते हुए भावना-संचय को न जाने किस प्रक्रिया से आनन्द में परिवर्तन कर लेते हैं। उनमें सबके प्रति प्रसन्नता लहरा चलती है। आपदाओं के प्रति उनमें वैर-भाव नहीं रहता। न उनके लिए कोई शत्रु रहता है, न कोई भयकारक वस्तु। अपनी ही परिस्थितियों में वह मुक्त-सम होते हैं। इच्छाएँ उनकी अशेष हो रहती हैं। यदि कुछ करते हैं तो स्वयं नहीं करते, वह उनसे सहज भाव से होता ही है। यह अवस्था संत की है। जो इस पद्धति से अपने को वश में करता है, वह निश्चय सर्वथा मुक्त वनता है।

ऐसी प्रकृति का व्यक्ति लेखक नहीं होता। यह नहीं कि वह लिखेगा नहीं, किन्तु उसमें द्वन्द्व न होगा। जहाँ द्वन्द्व है, लेखक वहीं तक है। उस संत से लगाकर नीचे उस व्यक्ति तक जो वस अपनी नानाविध इच्छाओं के ताल पर जीवन में नृत्य करता दीखता है; जो क्षणों पर रहता है; जिसमें गति है तो अंधी, अन्यथा गति ही नहीं है; जिसमें आत्म-चिन्तन की अभी इतनी आवश्यकता नहीं उपजी है कि उसे वह स्वरूप दे—संत से उतर कर इस धरातल तक लेखक की अनेकानेक कक्षाएँ हैं।

वह अपने पर काबू पाना चाहता है। वह काबू सहज उसे मिलता

नहीं । पूर्ण सामंजस्य अभी उसके व्यक्तित्व में हो नहीं सका है । पर जाग्रत तो वह है । इस भाँति शंका उसकी सबसे बड़ी व्याधि है और वेदना सबसे बड़ी निधि । शंकाओं पर शंका करके और उनके उत्तरों पर उत्तर देकर वह उन्हें टालना चाहता है । पर एक शंका टलती है, तो आगे फिर प्रश्न विद्यमान मिलता है ।

प्रश्न उससे पूरी तरह हल नहीं होता । न वह स्वयं विश्व-नियम में पूरी तरह हल हो पाता है । अपने-आप में कुछ एक अलग गाँठ-सी उसे बने रहना पड़ता है । इसलिए उसके सामाजिक शक्ति बन उठने की कम ही सम्भावना होती है । समग्र के विरोध में वह भीतर से अपने को सशक्त भी अनुभव करता है, किन्तु अपनी अशक्ति का भान भी उसे होता ही है । इसी अशक्ति की अनुभूति का अभाव प्राप्त करने के लिए उद्यत हो कर वह कल्पना और भावनाओं से तरह-तरह की सृष्टि करता है । मानो अपने भीतर उठती हुई शंकाओं के मुँह पर फेंकने के लिए वह ये सृष्टियाँ रचता है ।

लेकिन मैं ज्यादा कह गया । मुझे याद पड़ता है कि सन् '२८ में मैंने पहले-पहल लिखा । लिखना मेरे लिए स्वप्न की ही बात थी । जब पढ़ता था, लिखने से घबराता था । परीक्षा में छोड़कर शायद ही कभी कोई निबंध क्लास में लिखकर मैंने दिया होगा । सूझ ही न पड़ता था क्या लिखा जाय, कैसे लिखा जाय ? भाषा शुद्ध कैसे लिखी जायगी और 'आज्ञा-पालन पर' क्या कहूँ, क्या न कहूँ ? अगर लाचार होकर कुछ लिखकर भी दिया है, तो इधर-उधर की निबंधमालाओं से कुछ पैराग्राफ़ इकट्ठे करके उन्हें ऐसे आगे-पीछे लगाकर और बिगाड़कर दे दिया है कि पता चले बिना न रहे कि यह अनाड़ी आदमी की चोरी है । मेरी तो कोशिश यही रहती थी कि मेरी बुद्धिमत्ता प्रकट हो, लेकिन अब मैं जानता हूँ कि किस भाँति उसमें से मुझ अनाड़ी की चोरी का हाल खुला-खुला प्रकट हो जाता होगा । कालिज तक मेरा यही हाल रहा ।

पढ़ने में मन्दमति और लिखने में चोर—ऐसा मैं, पत्र-पत्रिकाओं में लेख और लेखकों की तस्वीरें देखता था, तो मन विस्मय से बैठ जाता था। तब बहुत छिपके चोरी से एक कापी में एक उपन्यास शुरू किया। किस हिम्मत से ऐसा कर सका, कौन जाने ? आरम्भ की पंक्तियों में ही उसमें एक अप्रतिम सुन्दरी षोडशी बाला आ गई थी। (मैं भी सोलह वर्ष का हो ही रहा था) उपन्यास के पाँच सफ़े लिखे गये। उन पृष्ठों में मुझे, याद पड़ता है उस सुर-सुन्दरी बाला का लावण्य ख़ूब ही छिटका था। पर उस समस्त लावण्य की छटा समेत बाला का किस कूड़े-करकट में अन्त हुआ, मालूम नहीं। बस, इस एक गुप-चुप की साहस की बात को छोड़कर लिखने के काम से मेरा स्वप्न का भी नाता नहीं था।

अब सन् '२८ में मैं फिर एकाएक कैसे लिख बैठा ? लेकिन मैं जानता हूँ, लिखने के लिए मैंने नहीं लिखा। उतनी मुझ में हिम्मत ही न थी। कहीं तब पता लग जाता कि ये अक्षर छपकर ऊपर भी आवेंगे, तो मेरा तो मन वहीं एक साथ बैठ जाता। फिर कलम उठाये न उठती। ऐसी ताव, ऐसी स्पर्द्धा मुझ में नहीं थी। जो लिखा लिख ही गया, जैसे चिट्ठी लिख जाती है। चिट्ठी में अपनी बात कह देने भर का ध्यान होता है, आगे तो कोई सोच-विचार नहीं चलता, सो ही मेरे साथ हुआ।

उन परिस्थितियों को तो क्या चित्रित करूँ जिनमें बेहयायी के डर के बिना मैं कुछ लिख गया। पर मुझे मालूम होता है कि लेखक के जीवन में पहली सच्ची कठिनाई तो यह है। वह अपने ही संकोच को कैसे जीते ? जो संकोची नहीं, वह लेखक कैसा। लेखक वह, जो अपनी बात कहता है। और संकोची वह जो सोच में पड़ जाता है कि मेरी बात क्या है और जो है उसे अव्वल तो मन में से कागज पर कैसे लाऊँ, और ला भी सकूँ, तो उसे इतनी आँखों के सामने उघार पड़ूँ क्या ? मेरे मन की बात क्या मेरी भाँति क्षुद्र न होगी ? तब उस क्षुद्र बात पर विज्ञ जन क्या सोचेंगे ? क्या वे सोचेंगे भी ? छिः-छिः-छिः।

यह संकोच अत्यन्त वास्तविक वस्तु है, और मैं मानता हूँ मूल्यवान भी है। इस संकोच का तत्त्व क़ायम रहे, फिर भी व्यक्ति लिख चले, ऐसा कुछ उपाय करना चाहिए।

आज छापा बहुत सस्ता है और जगह-जगह साहित्य की सभा-समितियाँ उग रही हैं। इन सबसे लेखक बनने की सम्भावना कुछ दुर्गम ही बनती है; क्योंकि छापे का सस्तापन वैसे सच्चे संकोच को खा जाने वाली चीज है। और जहाँ उस संकोच की सत्यता को व्यक्ति खो बैठा, वहाँ उसकी आधी पूँजी ही लुट गई समझिए।

आज क्या यह देखने में नहीं आता कि जहाँ छोटे-मोटे पत्रों की बहुतायत है और कोई भी झट से छप जा सकता और एकदम स्वीकृति पा सकता है, वहाँ कोई पुष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व दुर्लभ ही देख पड़ता है।

वैसे संकोच का रक्षण हो, किन्तु मरण न हो—लेखक की पहली कठिनाई और पहला प्रश्न यह है। यह कठिनाई पूरी तरह तो कभी दूर नहीं हो सकती, होनी चाहिए भी नहीं। असल में लेखक को पार उतारने वाली भी यही चीज है। नहीं तो लेखक के अहंकार में घिरकर मंझधार में टूट बिखरने की आशंका रहती है। फिर भी इस प्रश्न को इस हद तक हल होना ही चाहिए कि लिखना सम्भव बन सके। भाषा पर उसका पूर्णाधिकार नहीं है—यह अनुभूति लेखक के लिए बहुत उपयोगी है। यह अनुभूति होने पर भाषा की बहार दिखाने का प्रलोभन उस पर सवार न होगा और वह विनम्र रहेगा।

कुछ लिखते ही व्यक्ति उसके आनंद को बाँटना चाहता है। इस मित्र को सुनाता है, उस मित्र से पूछता है। उसकी इच्छा होती है कि अपनी लिखी हुई पंक्तियों में उसने जो अपना दान दिया है, सब उसको ग्रहण करें। लेखक को पहले अपने इन्हीं सुहृद् समालोचनाओं का अभि-

प्राय जानने को उत्कंठा होती है। मित्रों की सम्मतियों का वह भूखा होता है और उनका प्रभाव भी उस पर बहुत पड़ता है। कोई मित्र खुली प्रशंसा करता है, कोई दवी आलोचना करता है, कोई खूब जोर से हँसकर मजाक करने पर उतारू होता है।

मेरी पहली कहानी पर जो मेरे साथ बीता वह उल्लेखनीय है। हम तीन जन थे। एक उनमें साहित्य के पंडित थे। उनके नाम का मुझ पर आतंक था। साथ कई डिग्रियाँ थीं, और वह चश्मे में से बारीकी से मुझे देखते मालूम होते थे। दूसरे एक मध्य-वित्त और मध्यवयस्क सहृदय सज्जन थे। तीसरा मैं था, जो परीक्षकों के सामने परीक्षार्थी की भाँति कुछ उत्सुक और कुछ सशंक था।

कहानी मैंने सुनाकर पूरी कर दी। फिर सकुचाकर आँख उठाकर मित्रों की ओर देखा। एक-दो मिनट शान्ति रही। कोई कुछ न बोला। अंत में मैंने पंडितजी से दबी जबान से कहा, "कुछ कहिएगा ?"

पंडितजी ने अगले मित्र से कहा, "आप कहिए, सेठजी।"

सेठजी धन्यवाद में मुस्कराकर बोले, "अच्छी है, अच्छी है।"

सुनकर मुझको यह भी पता नहीं चल सका कि कहानी को, अथवा किसको, वह "अच्छी है, अच्छी है" कह रहे हैं। उनके कथन में कुछ ऐसी वीतरागता की ध्वनि थी।

मैंने तब कुछ अतिरिक्त मंद-भाव से पंडितजी की ओर निगाह उठा कर पूछा। चश्मे में से मुझे देखते हुए वह बोले, "कहानी ! अं—हाँ, ठीक है। पर 'भाषण देना' नहीं होता, 'भाषण करना' होता है।"

यह भाषण देने—करने की बात एकाएक मेरी समझ में नहीं आई। मेरा संकट देखकर पंडितजी बोले—"आपने लिखा है, 'भाषण दिया।' वह अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'भाषण किया' होना चाहिए।"

मैं सुनकर उनकी ओर देखता रह गया। कहानी में सचमुच एक

पात्र लेखक की अप्रतिशोध्य अयोग्यता के कारण भाषण 'करने' की जगह उस भाषण को 'देने' की हिम्मत कर बैठा था। लेखक और भाषणकर्त्ता के उसी दुष्कर्म पर पंडितजी की आँख गड़ी रह गई थी। मन भी वहीं अटक रहा था।

बोले, "भाषण' के साथ 'देने' का प्रयोग अशुद्ध है। आपको भाषा सीखनी चाहिए।"

पंडितजी के उस परामर्श के लिए धन्यवाद तो मैंने माना, लेकिन मेरा मन कुछ दबकर रह गया। फिर भी मैंने साहस-पूर्वक कहा, "भाषा की बात तो ठीक हैं, पंडितजी। पर कहानी के बारे में कुछ और बताइए न।"

बोले, "कहानी!" यह कहकर थोड़ी दबी हँसी वह हँसे। आगे कहा, "अभ्यास से ठीक होने लगेगी।"

मुझे विश्वास है कि यह ऊपर की आप-बीती अपवाद-स्वरूप ही है। सबके साथ ऐसा नहीं बीतता होगा। हर एक के कुछ दिली दोस्त होते हैं और वे दोस्त सभी इतने पंडित नहीं होते कि उनका पांडित्य दोस्ती पर भारी पड़े। पर लेखक के जीवन में दूसरा यह मुख्य प्रश्न उपस्थित होता है कि वह मित्रों की सम्मतियों से किस अंश में प्रभावित हो और किस हद तक अप्रभावित रहे।

असल में एक बड़ी मुश्किल है। अखंड आत्मविश्वास तो लेकर कोई पैदा नहीं होता। जिसको प्रतिभा कहते हैं, मैं तो उसको भी जन्मजात नहीं मान पाता। आत्मविश्वास और प्रतिभा का उदय मेरे खयाल में सबमें हो सकता है; क्योंकि आत्मा सभी में है। संकट यह है कि मित्रा-मित्रों से घिरकर कोई व्यक्ति अपने को अपने में स्थिर कैसे रक्खे। चल-विचल यह जगत् है और लोगों की अलग-अलग रुचियाँ, तब किसको सन्तुष्ट करे और किस को रुष्ट हो जाने दे? सभी को मनाने बैठे, तो बिल्कुल चल ही नहीं सकता। ऐसे तो वही गधे की कहानीवाला

हाल हो जायगा । तब किसकी क्या बात वह माने और दूसरे की कौनसी बात सुनी-अनसुनी कर दे ?

यह बेहद कठिन प्रश्न है । उसको सँभालने के लिए आदमी की खाल मोटी होनी चाहिए । पर शुरू में मन की खाल मोटी नहीं होती, वह बड़ी संवेदनशील होती है । धीमे-धीमे घिस-पिटकर वह मोटी होती है । इस तरह मन पर चोटें लगने देना चाहिए । जो चोट देते हैं, उनके प्रति कृतज्ञ होना हमारा धर्म है । क्योंकि अन्यथा मन मजबूत कैसे बनेगा । उनके प्रति रुष्ट या अनादरशील हो जाना स्वयं अपने मन के तन्तुओं को लहूलुहान कर लेने के समान है । वह तो आत्मघात है । असल में बाहर की चोटें हमारे उपकार के लिए हमारे मन पर पड़ती हैं । उन चोटों से लाभ न लेना और मन को बिगड़ जाने देना निरा अवैज्ञानिक है । उससे बड़ा नुकसान होता है । लेखक को उस नुकसान से बचना चाहिए ।

इस भाँति प्रतिकूल आलोचना तो लाभकारी है, पर एक चीज बड़ी खतरनाक है और वह है प्रशंसा । मैंने खतरनाक कहा, बुरा नहीं कहा । उसका खतरा बचा जाएँ, तो एक मित्र की हार्दिक प्रशंसा में से हमें सच्चा पौष्टिक आहार भी मिल सकता है । पर दो शर्तें हैं—एक तो यह कि वह प्रशंसा बनावटी न हो, दूसरे यह कि जिस मित्र से वह प्राप्त हो, वह ऐसा मित्र हो कि उसके लिए हमारी आलोचना करना उतना ही सुगम हो जितनी सराहना । यह भी शर्त है कि उस प्रशंसा को हम लालसा-बुद्धि से न अपनावें, प्रत्युत विवेकपूर्वक ही उसे अंगीकार करें ।

लेखक के लिखने का उद्देश्य अपने को सबमें बाँट देना है । अगर वह दूसरे में सहानुभति पैदा कर सका है, तो इससे उसको विलक्षण तृप्ति मिलती है । उसकी पहली भूख और आखिरी भूख सहानुभूति की है । इसीलिए प्रारम्भ में यदि उसे सहानुभूतिहीन आलोचकों से पाला पड़ जाय, तो मानो उगते हुए उसके चित्त के हरियाले अंकुरों पर ही पाला पड़ जाता है । सहानुभूति उसे मिलनी ही चाहिए और इसके लिए मुझे

उपाय यह मालूम होता है कि वह लेखक अपने पारिवारिक स्नेह-सूत्रों को शिथिल न होने दे। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के पारिवारिक सम्बन्ध क्षीण-स्नेह होने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति परिवार से बाहर अपने सम्बन्ध फैलाने में दत्तचित्त रहता है, और चूँकि उन संबन्धों की गहराई सिर्फ प्रयोजन–परिमाण ही होती है, इससे उनके फैलने में अड़चन भी नहीं होती। पर लेखक की बात भिन्न है। प्रयोजनाश्रित मिलन से उसकी भूख नहीं मिटती। वह हार्दिक मिलन चाहता है और इस दुनिया में अधिकतर लोग हृदय को पीछे रखकर ही आगे बढ़ते देखे जाते हैं। लेखक हृदय को बाद देकर नहीं चलता, नहीं चल सकता। इसलिए दुनिया में आकर वह अकुशल सिद्ध होता है। विचारों और स्वप्नों में उसकी खूब पहुँच है, पर व्यवहार में वही अल्हड़ हो जाता है। अतः बाहरी जगत में उसे हृदय-हीनता ही मिलती है। पर अगर इसके जवाब में वह अपने हृदय को भी सुखा ले, तो यह उसकी मौत ही होगी। व्यवसायी यही करता है। लेखक यह नहीं कर सकता। वह अधिक जाग्रत है। कर्त्तव्य तो यही है कि पारिवारिक सूत्रों से वह निरंतर स्नेह प्राप्त करता रहे, जिससे कि जी उसका हरा–भरा रहे और बाहरी लू कुछ उसका बिगाड़ न सके।

: ३६ :

लेखन : धर्म कि व्यवसाय ?

एक वार की वात है कि किसी पत्र ने लेखक की आर्थिक स्थिति का सवाल उठाया था। वहुत-से साथियों ने उसपर लिखा था। लेखक में भी समझा जाता हूँ, अर्थ का सवाल मेरे लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसलिए चर्चा में मैंने भी योग दिया था। मुझे याद है कि उस समय मलूकदास का यह दोहा मैंने सामने किया था :—

अजगर करै न चाकरी, पँछी करै न काम ।
दास मलूका कह गए, सवके दाता राम ॥

इस दोहे से विवाद को समाधान मिला था, सो नहीं, वल्कि वह तो और तीखा हो गया था। साथियों को जान पड़ा था कि यह तो सवाल को उड़ा देने या घपले में डाल देने का तरीका है। पूँजीवाद का यह हथकण्डा ही न हो। प्रश्न हक और अधिकार की कमाई का है। सव कहीं खींच है और आर्थिक विषमता है। इसलिए सवको अपनी-अपनी चिन्ता रखने की आवश्यकता है। धन्धों की अलग-अलग अपनी ट्रेड-यूनियनें वन रही हैं, सो इसी जरूरत की वजह से। लोग (पूँजीपति लोग) ऐसा चक्र चलाए हैं कि हक़पर न डटोगे, तो शोषण से वच न सकोगे। इससे हर व्यवसाय के सामने प्रश्न है कि वह कैसे अपने को कायम रखे। अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए उसे अपने अधिकारों की रक्षा आवश्यक है। पारिश्रमिक भरपूर न होगा तव तक परिश्रम कैसे हो सकेगा ? इसलिए पारिश्रमिक की दर तय होनी चाहिए और प्रकाशक के प्रति लेखक के अधिकार की स्पष्टता और प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

यह वात ठीक है और जरूरी भी। आजकी हालत ने उसे वेहद

जरूरी बना दिया है। कारण, आज परिश्रम प्रधान नहीं है, प्रधान पारिश्रमिक है—पारिश्रमिक, यानी पैसा। अतः श्रमिक आसानी स भूखों मर सकता है, जबकि उसी के श्रम के फल से मुद्रापति सहज मौज कर सकता है। आशय कि आज के चलन को देखते अच्छा लिखना लेखक के लिए इतना जरूरी नहीं, जितना अच्छा बेचना जरूरी है। लिखकर कुछ नहीं होता, लिखे हुए के दाम उठाकर ही सब कुछ होता है। इसलिए साहित्य का धनी वह नहीं है जो साहित्य की सृष्टि करता है, बल्कि साहित्य का धनीधोरी वह है, जो उसकी सफल बिक्री करता है। सर्जन और रचना नहीं, विक्रय और व्यवस्था मुख्य प्रश्न हैं। अब यह बात एक लेखन-कर्म के लिए ही नहीं, सभी तरह के काम-काज के बारे में सच है—चाहे साहित्यिक हो या सांसारिक।

ऊपर का दोहा ठीक इसी जगह संगत है। वह उस प्रकार की विचार-परम्परा की जड़ को ही काटता है। जड़ को रख कर पत्तों से लड़ना बेकार है। हम इस आर्थिक सभ्यता के आधार को, उसके मान और मूल्यों को, या तो स्वीकार करते हैं या इन्कार करते हैं। स्वीकार करते हैं, तो पैसों का हिसाब रखने वाले मुनीम या उस पर आँख रखने वाले मुनाफाखोर को समाज का प्रथम और प्रमुख व्यक्ति मानने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। हो सकता है कि व्यक्ति न हो, वह कोई संघ हो या दल हो। तब नेतृत्व और राजत्व भी उस हिसाबी और महत्त्वाकांक्षी गिरोह (या व्यक्ति) के हाथों में हो रहे, यह स्वाभाविक है। किन्तु यदि उस आर्थिक सभ्यता के मान मूल्य को हम स्वीकार नहीं करते, उसके आधार को अपनी बुनियाद के रूप में नहीं रखना चाहते, उस सारी सभ्यता को इन्कार करके चलना चाहते हैं, तो उस अवस्था में जीवन की क्या व्यवस्था होगी, कैसे वह सम्भव बनेगा एवं कैसे विकास पायगा—यह प्रश्न सामने होता है।

दोहा तो उस क्या-कैसे का पूरा या अधूरा कुछ उत्तर नहीं देता। फिर

भी सच यह है कि सब से सच्चा उत्तर वही है। उत्तर इस अर्थ में कि वह सीधा उत्तर नहीं है। उसमें घोषणा है कि शंका का उत्तर सिवा श्रद्धा के दूसरा हो नहीं सकता। भविष्य को श्रद्धा से नहीं ले सकते तो भवितव्य अपनी ओर से तुम्हारी शंका का उत्तर सांत्वना के रूप में कैसे भी देने को तैयार न होगा। कैसे जिएँ ? इसका उत्तर सिवा इसके और क्या हो सकता है कि सम्पूर्णता से जिओ। ऐसे जिओ कि जैसे फूल जीता है; सूरज, चाँद और तारे जीते है, अजगर जीता है, पंछी जीता है। यह कहकर कि इनमें से कोई आदमी नहीं है, आदमी को यह अधिकार नहीं हो जाता कि वह जीवन को आनन्द के रूप में न ले, बल्कि उसे एक गुत्थी बना ले। सन्त मलूक की वाणी चेतावनी है कि मनुष्य को अधिकार नहीं है कि वह जीवन से उसका प्रकृत आनन्द का रस न ले और और अपनी ओर से निपट समस्या का रूप उसे पहना दे।

'वह सब ठीक !' शंकाशील कहेगा—'लेकिन जीने के लिए जीविका जुटाना तो आदमी के लिए जरूरी होता है। सो उसके साधन कैसे कमाने होंगे ?'

सन्त ने दोहे में चेताया कि अजगर का इतना बड़ा शरीर, जीने के साधन उसे कौन जुटाने जाता है ? पंछी आसमान में उड़ता फिरता है, उसको कौन यह शक्ति देता है ? बात यह, भाई, कि चिन्ता कृत्रिम है। जब राम सब कहीं है, तब आदमी को फिक्र किस बात की ? सब वही तो करता है। इसलिए सबको देगा भी वही। यह सुनकर शंकाशील बंधु बुद्धिमान हो जाते हैं। कहते हैं, तुम सन्त हो, एकाकी और असामाजिक हो। सामजिक जो मनुष्य है, उसकी व्यथा तुम क्या जानो। वह कुटुम्ब-कबीले वाला है। जल के बिना जैसे मीन, धन के बिना वैसे वह। अध्यात्म तुम रखो अपना अपने पास। उसमें गिनो पैसों को तुम तुच्छ। लेकिन वह तुम्हारा छल है, तुम्हारा हठ है। सत्य कहकर उसी से चाहे तो चिपटे रहो, लेकिन ऐसे तुम किसी का भला नहीं करते। मेरे पास एक विज्ञान है जो आदमी के भीतर का भेद देता है। उससे मैं जानता हूँ कि तुम

वह नहीं हो जो हो। तुम असल में हो वह जो मैं कहता हूँ कि तुम हो। तुम दमित आकांक्षाओं के पुंज हो। तुम उल्टे हुए अहंकार हो। तुम अभावों की प्रतिक्रिया हो। तुम अहंभाव में अपनी विफलताओं को चूसते रहकर उसे सफल बनाने की चेष्टा में पड़े रहने वाले मतिमूढ़ हो। तुम प्रगति में अवरोध हो। मानवता के विकास में तुम कोढ़ हो। इससे अपने को अपने तक ही रखकर अगर तुम चुप बैठे रहो, तब तक हरज नहीं; मगर बोलोगे तो मानव-जाति के हितैषी हम उसकी भवितव्यता के प्रति दायी होकर तुम्हें फिर सहन नहीं कर सकेंगे। देखो, हमारी दया पर अधिक भार न डालो। क्षमापूर्वक तुम्हें जीते रहने देने को हम तैयार हो सकते हैं। लेकिन मुँह खोलकर तुम अपने भीतर की किसी छलना को, किसी अवास्तव को शब्द देकर बाहर करोगे, तो फिर हम तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेंगे। तब तुम्हें मिटना होगा। तुम जानते होगे एक यीशु को। उसको मरना पड़ा था। अभी हाल के गांधी का नाम शायद तुमने सुना होगा। गोली खाकर उसे भी जान से हाथ धोना पड़ा था। क्यों? क्योंकि उसने कहा कि दाता सबका एक भगवान है, उसमें सब समान हैं। अपनी करनी में अपनेपन का अभिमान मत रखना। सब कर्त्ता वह है, धर्त्ता वह है। हम खुद होकर कुछ नहीं करते हैं। वही कराता है सो करते हैं। मानव-जाति में इस वहम को, इसके नीचे पलने वाली जड़ता और मंदता को फैलाने के अपराधी और भी लोग हुए और उन सब की एक-सी गति हुई। यानी उनको सहा नहीं गया, मार डाला गया। कारण साफ है। जीवन एक युद्ध है। उसमें बल की जीत होती है। रहेगा वह जो रहने के लायक होगा। वह मरेगा, जो मरने लायक समझा जायगा। ईश्वर आदि का वहम प्रकृति की इस निर्मम यात्रा-गति को, संघर्ष के इस अमोघ वाद को, बदल नहीं सकेगा, न ढीला कर सकेगा।

जान पड़ता है विचारे अपढ़ सन्त एक बार दोहा कहकर विद्वान के वाद पर आगे कुछ वाद-प्रतिवाद नहीं कर सके। भगवान को नींव में डाल कर

फिर उसके ऊपर समाज का भवन कैसे क्या खड़ा करना होगा, इसका कोई नक्शा वे हमें नहीं दे सके। वह क्या, कोई दूसरे इस वहक के आदमी वह आवश्यक सामाजिक तत्वज्ञान हमें नहीं दे गए। यह कि श्रद्धा पर जियो कहना विडम्बना है। श्रद्धा में जीना अधर में लटके हुए जीना है। वह कोरा मज़ाक है। पैर के नीचे धरती न रहे तो हमें देखना है कि आदमी कैसे जी पाता है। धरती को वुनियाद में लेकर ऊपर पक्की आर्थिक व्यवस्था ही कोई चाहिए जिस पर जीवन निःशंक चलाया जा सके। सीमेन्ट के दो-एक पक्के मकान जब तक न हों, मासिक आमदनी का पुख्ता वन्दोवस्त न हो, वैंक के खाते में वहती हुई अपनी एक खासी रकम न हो तो वताइए, वह जिन्दगी भी कोई जिन्दगी है! वह तो मरे हुए के समान जीना है। अजी, जीना वह है ही नहीं। वह तो सिर्फ होना है, जैसे कि वेजान चीज़ होती है। इन्सान का रहना चीजों के आसपास भरपूर लहलहाते रहने की शर्त के साथ ही हो सकता है। नहीं तो वह क्या जिन्दगी है कि जहाँ अभाव ही हमारा सरवस है! शीः!

दोहे वाले सन्त निश्चय ही विज्ञानवेत्ता नहीं थे। विज्ञान वड़ी चीज़ है, अक्षर-ज्ञान तक के वे वेत्ता थे, इसका भी प्रमाण नहीं मिलता। अधिकांश वे अपढ़ थे। और क्या, एक उजड्ड आदमी ही रहे होंगे। जीवन के वैज्ञानिक तत्त्व के विषय में एक प्रकाण्ड वौद्धिकवादी के समक्ष मौन और निरुत्तर हो जाने के अतिरिक्त उनसे वन ही क्या सकता था? प्रश्न ही जब सामाजिक है, तव समाज-निर्माण की कोई व्याख्या, कोई योजना उनसे प्राप्त ही क्या हो सकती थी? उन वेचारों का दोष क्या? दिमाग़ ही उनका उतना था।

ठीक। ठोस आधार पर हमारे खड़े हो सकने की वात भी ठीक। लेकिन यह जो इतनी वड़ी ठोस धरती है, कहते हैं वह अपने भीतर पोली है। इतना दलदार ठोसपन, क्यों जी, भीतर शून्य लेकर कैसे टिका हुआ है? यह समझने में सामान्य वुद्धि काम नहीं देती। वैज्ञानिक कहते हैं,

इसको समझने के लिए वैज्ञानिक बुद्धि चाहिए। और इतना ही नहीं कि धरती की ठोस पपड़ी को अपने ऊपर सम्हालने वाला एक पोलापन है, बल्कि यह भी कि पृथ्वी का वह समूचा पिण्ड स्वयं में शून्य में और शून्य पर ही टिका हुआ है। उस पृथ्वी के पिण्ड को अपनी स्थिति और गति में धारण रखने वाला तत्त्व केवल खिचाव है, जो किसी भी ओर से ठोस नहीं है। एक वही नहीं, समस्त सौर-परिवार परस्पराकर्षण पर टिक रहा है। जितना जहाँ जो ठोसपन है, वह उसी आधार पर अपने लिए जमने और टिकने का अवकाश खोज पाता है। जड़ पड़ कर ही कुछ ठोस बनता है, शून्यता जीवन की निशानी है।

बुद्धिमान टोककर बोले—ठहरिए जी, आप हैं कौन? क्या उस अपढ़-गँवार मलूकदास की वकालत करने आए हैं? जी नहीं, रहस्य से आप सवाल को ढँक न पायेंगे। सूरज में न उड़िए। आकर्षण को कहते हैं, वो वही तो है हमारा सेक्स। काम और कामना ही हमारी आन्तरिक प्रेरणा है। यह सिद्ध है और असंदिग्ध है। वही प्रेरणा प्रत्यक्ष में अर्थ के चक्र की रचना करती है। प्रेयसी को अमूल्य हार न दे पाए, तो प्रेमी का प्रेम सार्थक कैसे हो? फूल की माला से पहले चल जाता होगा। आज हार हीरे का चाहिए और उस पर आला कट। यह, आप ही बताइए, पैसे की सत्ता के अभाव में हो सकता है? पैसा आदमी को अपने विकास में रचना जो पड़ा, सो इसीलिए। चौदहवीं सदी के दर्शन से बीसवीं का काम नहीं चल सकता। समय कभी पीछे न जावगा। विकास को आगे ही दौड़ना है। समाज की रचना जो आज सीधी-सादी नहीं रह गई है, अत्यन्त विषम और गुँथीली हो बनी है सो व्यर्थ नहीं है। उससे घबराना न होगा, न किसी आदिम सहजता का सपना मन में भरकर उस ओर से लौटना होगा। हम निकट आ रहे हैं और दुनिया एक बन रही है। आत्मिक बातें सब को अपने-अपने में और अलग रखती थीं। भौतिक वासनाओं में से हम ने उन्नति निकाली है, जिसने संसार के इस कोने को

उस कोने से मिला दिया है। उन्नति जो नहीं कर सकते वे चाहें तो उन्नति से डरें; लेकिन इस कारण उन्नति को रुकना नहीं है। उसको उनके सिरों पर से, चाहे तो उनके शवों पर से बढ़ते ही जाना है। लेकिन सुनिए। मलूकदास को हम समझ सकते हैं। वे अशिक्षित थे, असभ्य थे। पर आप तो चश्मा लगाए हैं, आधुनिक हैं। आपको तो वस्तु-स्थिति और तत्त्व-गति समझनी चाहिए। युद्ध एक इधर गया है उधर दूसरा आ रहा है। ऐसी अवस्था में स्टेट ही एकमात्र संस्था है, जो हमको आपस में जुटाकर आपस में इकट्ठा बना सकती और दुश्मन के दाँतों को खट्टा कर सकती है। स्टेट के शरीर का रक्त है सिक्का। उसका दारोमदार उस पर है। सिक्का देकर वह सामान लेती है। उसी सिक्के में अपना कर लेती है। सिक्के को कम-ज्यादा फैलाकर समाज में वह श्रेणियाँ पैदा करती है। श्रेणियों से मानव-जाति की व्यवस्था करने और उसपर शासन करने का काम सुगम होता है। अन्यथा मानवता में सभ्यता और संस्कृति पैदा ही न हो। श्रेणियों में से नैतिक मान-मर्यादा की भावना पैदा होती है। नहीं तो बड़े न रहें, न छोटे रह जायें। ऐसे भला कोई स्थिति सम्भव है। सोचिए, पैसा हमारे बीच आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के लिए न हो तो सबकुछ क्या मटियामेट न हो जायगा ? अगर कहा जाय कि इस प्रक्रिया में पैसा श्रम से बड़ा हो उठता है, उत्पादक से दलाल महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बन जाता है, तो इसमें बेजा क्या है ? यह कल्पना ही तो है न कि श्रमिक का श्रम धनिक के धन से अधिक पवित्र है। लेखक से पुस्तक-विक्रेता का अधिक महत्त्व है, तो इसमें आपत्ति की क्या बात है ? मेहनती मजूर कोई हो सकता है, लेकिन हर कोई दलाल की तरह चतुर नहीं हो सकता। श्रम को बुद्धि की चतुराई की बराबरी पर आप नहीं तोल सकते। लेखक ने महीने भर बैठकर दो सौ पन्ने की किताब लिख दी, तो क्या हुआ ? उसको पाठ्य-पुस्तक के रूप में लगवाने में जिस कुशलता की आवश्यकता होती है, उसका पता आपको न होगा। समय चाहे उसमें उतना न लगे, पर मेहनत से

वह योग्यता कहीं ज्यादे है। लिखना तो आखिर शरीर-श्रम है। उसमें समय और सर्जन का निश्चित ही नियम काम करता है—अर्थात् घण्टे में तीन या चार फुलस्केप ही लिखे जा सकते हैं। इसलिए उसकी मजूरी की दर भी बँधी होगी। उसकी तुलना में विक्रेता का काम ऊँचा है। वह मानसिक और मानवीय है। वह तोल में नहीं तुलता, उसका सम्बन्ध गुण से है। घण्टे में चार से ऊपर शायद पृष्ठ नहीं लिखे जा सकते, लेकिन बिक्री पाँच मिनट में पाँच लाख की की जा सकती है। इस तरह बिक्री के काम और लिखने के काम को बराबरी पर रखकर देखना ही ग़लत है। दोनों में अन्तर महान है। और उस अंतर को बढ़ाने और बनाने वाली वस्तु मशीन है जो आधुनिकता का हमें वरदान है। मशीन के जोर से लेखक की भद्दी-सी पाण्डुलिपि को हजारों-लाखों की संख्या में पक्की साफ़ और सुन्दर पोथियों के रूप तक कौन पहुँचाता है? इस काम की आँख और जाँच रखने वाले आदमी को कोई कम नहीं कह सकता। इस काम में उद्यम चाहिए, साहस चाहिए और पूँजी चाहिए। तरह-तरह के लोगों से काम लेना और काम निकालना आना चाहिए। जिनमें यह सब-कुछ नहीं उन बेचारों से कलम ही चलवाकर उद्यमी प्रकाशक यदि उनके पेट पालने की व्यवस्था कर देते और कुछ पैसा उन्हें जुटा देते हैं, तो इसलिए क्या प्रकाशकों को उल्टे दोष दिया जायगा? दुनिया के कामों में दया-पालन का कोई आवश्यक नियम नहीं है। फिर भी प्रकाशक दयापूर्वक ऐसा करता है, तो इससे अधिक उससे क्या अपेक्षा की जा सकती है? वेतन बाँटने वाले मिल-मालिक न हों, तो मजूरों को क्या भूखों ही न मरना पड़े? मिल-मालिक जैसे मजदूरों का प्रतिपालक है, प्रकाशक उसी तरह लेखकों का पालनहार है। जगत की नीति दुर्धर्ष है। ममता में पड़कर जगत अपने वेग में कहीं रुक नहीं सकता। इस अव्यर्थ अमोघ जगच्चक्र के परिभ्रमण के बीच कोई यदि हठात् अपने स्वाभिमान को समक्ष लेकर क्षत-विक्षत होता है, तो वह अपनी जाने। चक्र-गति निर्बाध और निरंकुश रहेगी।

तुम्हारे दोहाकार सन्त मलूकदास होकर मर गए हैं। उनपर से सदियाँ बीत गई हैं। अब कोई है जिसको उनकी ओर से सही शास्त्रार्थ का वकालतनामा प्राप्त है इसपर विश्वास नहीं आता। लेकिन सबको देने और पालने वाला कोई राम अगर ऊपर नहीं है या और कहीं भी नहीं है, तो सिवा इस तथ्य के सत्य फिर क्या रह जायगा कि जो हमें पैसा देता है, वही पालक और मालिक है। और चूंकि पैसा सरकार की टकसाल में ठुककर बनता है इससे सरकार सबकी मालिक है। वही प्रभु है, वही देती, बाँटती, रखती और मारती है।

सन्त का रहस्यवाद सनातन है, स्टेट का साम्यवाद नूतन है। नूतन का सनातन की वेदी पर विसर्जन तो नहीं हो सकता। असल में नूतन को ही सत्य सनातन मानना होगा। सनातन धर्म था, नूतन व्यवसाय है। अब आप जो भी चाहें हों—लेखक हों तो लेखक, डाक्टर हों तो डाक्टर, वकील हों तो वकील—आवश्यक है कि धर्म और कर्त्तव्य के नाते आप अपना काम न करें, यह भावुकता होगी। बल्कि आमदनी पर निगाह रखकर व्यवसाय के रूप में आप अपनी सफलता फैलायें, बुद्धिमानी यही कही जायगी।

: ३८ :

राजनीति का संशोधक साहित्य

वाहर की वदलती हुई घटनाएँ मुझ से इस प्रश्न का उत्तर माँग रही हैं कि क्या साहित्य और राजनीति के वीच आदान-प्रदान का सम्वन्ध भी हो सकता है ? मैं हीलाहवाला करता रहा हूँ, और सवाल का सामना मैंने पूरी तरह से नहीं किया है; वल्कि मैंने अपने आपसे तर्क किया है कि दोनों ही जीवन की समग्रता के अंग हैं और उस नाते सहयोगी भी हैं, और तव जरूरी नहीं मालूम होता है कि उनमें कोई विरोध देखा जाए। स्वीकार करूं कि इस वारे में कुछ अन-वूझसा रहा हूँ, और यह स्थिति कुछ इतनी प्रवलता से हावी होती जान पड़ी कि मैं उससे वचकर भाग निकला हूँ। अपनी विवेचना में मैंने पाया है कि वह सवाल मेरे लिये कोई खास अर्थ नहीं वना सका है; लेकिन वह तो आत्मवंचना ही थी। सवाल की सचाई और दुविधा को टाला नहीं जा सकेगा, और मुझे लग रहा है कि प्रश्न महत्वपूर्ण और अनिवार्य है। साहित्य में हो कि राजनीति में हो, अपना सफल योगदान करने के लिये हमें पहले इस प्रश्न को अपने भीतर हल कर लेना होगा, सुलझा लेना होगा।

हमने युद्धों को जाना है और वे युद्ध सार्वजनीन रहे हैं। आगामी युद्ध यदि होना है तो जव भी वह होगा, शब्द के पूरे अर्थ में 'ग्लावल यानी सर्वतोमुखी, सर्वाश्लेषी होगा। प्रत्येक को और सर्व को वह स्पर्श करेगा, और किसी को भी छुट्टी नहीं होगी कि वह अपने आपको उससे अप्रभावित या वेसरोकार अनुभव करे। इस तरह राजनीति जो मानवीय प्रवृत्तियों का नियमन और शासन करती है और जिस तरह वह मानव-भाग्य का निर्णय करती है, वह उस विषय के कुछ खास विज्ञों, कुशल

'पार्लमेंटेरियनों' या कूटनीतिज्ञों के ही विपेश प्रयोजन की वस्तु नहीं मानी जानी चाहिये। कुछ चुनिन्दा और प्रतिभावान लोगों का जीवन व्यवसाय या धंधा भी हम उसे नहीं मान सकते। वह तो सब की चिन्ता और प्रयोजन का विषय होना चाहिए, ताकि मानव जाति एक कुटुम्ब का रूप ले सके, और यह जगत सबका एक घर बन जाए।

इस तरह राजनीति सबका समावेश कर लेती है और साहित्य भी समूचे जीवन-प्रसार को आश्लेपित कर लेता है। इन दोनों को एक-दूसरे से सर्वथा निर्वासित करके किन्हीं विशिष्ट भिन्न-भिन्न विभागों में नहीं बाँटा जा सकता, कि वे अपने आप से सीमित हो रहें और एक दूसरे से अलग-अलग रक्खे जायें। निश्चित ही वे एक-दूसरे पर सीधा प्रभाव डालेंगे, क्योंकि वे कोई ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं जो जीवन के इस या उस क्षेत्र से ही सीमित और सम्बन्धित हों और शेष जीवन-क्षेत्रों से कोई सरोकार न रखती हों। हर आदमी को स्वतन्त्रता है कि मन हो तो वह लिखे और इस बात की भी स्वतन्त्रता है कि बढ़कर वह कहीं अपने-आपको चुनवाले। सच तो यह है कि भाषा सबके लिए है, वैसे ही प्रगति भी सबके लिए है। हम सभी अपने-आपको व्यक्त किया चाहते हैं और हम में से हर आदमी एक-दूसरे से चढ़-बढ़ जाना चाहता है। इस तरह साहित्य और राजनीति दोनों ही अनिवार्य रूप से, समूचे और सर्वसामान्य मनुष्य से सम्बन्ध रखते हैं। उसका मनुष्य होना ही इस बात के लिए पर्याप्त है कि वह दोनों में अपना दखल रक्खे। सर्वसामान्य मनुष्य को आधार बनाकर ही दोनों पनपेंगे, इसी से दोनों को उसकी सेवा भी करनी होगी। मनुष्य से वियुक्त होकर भटक जाना साहित्य और राजनीति दोनों ही में गलत होगा।

जब साहित्य और राजनीति इतने निकट और संयुक्त हैं, तब जान लेना होगा कि यदि अपने-आपके प्रति सच्चे होना है और साथ ही

परस्पर एक-दूसरे की परिपूर्ति करना है, तो उन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध रहना चाहिए।

हम जानते हैं कि दोनों अपने लक्ष्य-दर्शन में भिन्न पड़ जाते हैं और दोनों का जोर जीवन के विभिन्न पहलुओं पर है। साहित्य के निकट मनुष्य अपने निज रूप में प्रस्तुत है। वहाँ उसकी सत्ता का ही मूल्य है, उसकी सम्पदा का नहीं। साहित्य के लिए मनुष्य साध्य है, न कि साधन। राजनीति की और बात है। वहाँ मनुष्य गौण है; वहाँ उसका मूल्य कूतते समय देखा जाता है कि उसके पास क्या है, क्या साधन-सम्पदा है, वह किस चीज का प्रतिनिधि है? वहाँ उसकी सम्पदा का प्राधान्य है और उसी के आधार पर उसका मूल्य-मान आँका जाता है। राजनीति में महत्त्व की बात यह है कि मनुष्य कितनी शक्ति, प्रभाव, धन या वस्तु-सम्पदा का स्वामी है; किसी पार्टी, संघ या तत्त्वावधान की सदस्य-संख्या के नाते वह कितने लोगों पर अपना प्रभुत्व रखता है, या वह कितने लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। मूल्य उस मनुष्य का नहीं है जो अनुभव करता है, सोचता है, पर उसका है जो वोट देता है, जो काम करता है। वहाँ आन्तरिक, सारभूत मूल्य को नहीं, बाजार-दर को अवकाश है। मनुष्य को वहाँ गुण से नहीं, वस्तु से परखा जाता है। राजनीति के लेखे मनुष्य साध्य नहीं है वहाँ वह केवल साधन है। हर आदमी की उपयोगिता या अनुपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कहाँ तक एक साध्य विशेष को प्राप्त करने में कार्य-क्षम और सुविधाजनक साधन बन सकता है। राजनीति में मनुष्य की स्थिति उतने ही अंशों में न्याय्य है, जितने अंशों में वह किसी सरकार या पार्टी का आज्ञाकारी सेवक हो रहता है। चूँकि साध्य वहाँ सरकार है और मनुष्य मात्र साधन है, और चूँकि साध्य ही वहाँ साधन की प्रमाणिकता के लिए पर्याप्त है, इसी से जो लोग वहाँ उस साध्य (यथा State) के साथ संगति नहीं साध पाते हैं, वे निरर्थक हो पड़ते हैं। उन्हें स्थानांतरित होने का हर अवसर दिया जाता है, या फिर सुरक्षा या किफा-

यत के विधान के अन्तर्गत उन्हें समाप्त भी किया जा सकता है। राजनीति के लिए यह एक नगण्य सी बात है। साध्य की प्राप्ति के लिए संकल्प-बद्ध राजनीति के लिए साधन पर रुकना जरूरी नहीं होता। वह तो सदा लड़कर विजय प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध रहती है, और वस्तुतः विजय का अर्थ होता है वहाँ बाधा का निवारण कर देना, विरोधी को, शत्रु को उखाड़ फेंकना।

निश्चय ही प्रत्येक को सर्व के लिये जीना और रहना सीखना होगा। धार्मिक मनुष्य के लिये वही 'सर्व' भगवान है; नैतिक मनुष्य के लिये वही 'शिव' है, 'सत्' है; कलाविद के लिये वही सौन्दर्य और सुसंवादिता है; और राजनीतिक के लिये वही 'सर्व' है—सर्वसत्ताधीश सरकार। पर यह जो सरकार है, यह अन्य आदर्शों की तरह सूक्ष्म नहीं है। सूक्ष्म, व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अपने को लादता नहीं है। सूक्ष्म होने के बजाय सरकार तो बेहद स्थूल है। वह मनुष्य को बंधनों में जकड़ सकती है, उसे पचा जा सकती है, उसे मौत के घाट भी उतार सकती है। स्वायत्त अधिकार हाथ रखकर सरकार अपने शासित मानवों से अपने विधान और नियमों को पूरी तरह मनवा लेती है और उनसे उनका अचूक पालन भी करवा लेती है। अपने संघटन में ही वह इतनी कसकर सर्वसत्ताधीश हो उठती है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिये कोई अवकाश ही नहीं रहने देती। बलात् समानरूपता कायम करने के लिये वह कानून जारी करती है। अपनी ठोस सत्ता का पालन कराने के लिये वह हर सम्भव भिन्नत्व का गला घोंट देती है और स्वस्थ मतभेद को इंजन के रोलर की तरह कुचल देती है। राजनीति जब 'सर्व' के लिये 'प्रत्येक' के जीने के सिद्धान्त को प्रस्थापित करने की कोशिश करती है, तो वह कुछ ऐसी जीवन-व्यवस्था उत्पन्न करती है जिसमें जीवन उन्हीं कुछ लोगों तक सीमित हो जाता है जो स्वयं सरकार बन बैठते हैं। शेष के लिये वह जीवन नहीं होता है,

प्रायः वह एक ठण्डी मौत होती है। यह राजनीति के कारण ही है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की यह समस्या उत्पन्न हो रही है और अनिवार्य वेग से आगे बढ़ती जारही है। वह समस्या अनगिनत रूपों में प्रस्तुत होती है। अल्पमत की समस्या, होड़ा-होड़ी और संघर्ष में पड़े हुए समुदायों वर्गों और संगठनों की समस्या। राजनीति अधिक से अधिक इन समस्याओं के साथ खिलवाड़ कर सकती है और एक समस्या को हल करने की कोशिश में वह और भी दो नयी समस्याएं खड़ी कर सकती है।

इस तरह देखता हूँ कि राजनीति निश्चित रूप से और ज्वलन्त रूप से विफल हुई है। यह जो अन्तहीन युद्धों की परम्परा निरन्तर मनुष्य को आतंकित किये है, उसकी नितान्त विफलता का एक प्रकाण्ड प्रमाण है। और यह परिणाम उसमें अनिवार्य था, क्योंकि राजनीति पूर्ण-सत्य के अर्ध भाग को, एक महत्वपूर्ण अर्धांग को छोड़कर चलती है। और पूर्ण सत्य का वह अर्धांग है : यदि एक सर्व के लिये है तो सर्व भी एक के लिये हो।

अनुभव करता हूँ कि इस जगह राजनीति आवश्यक संशोधन के लिये साहित्य के पास आ सकती है। साहित्य में आदर्श बाधक नहीं हो पाते। यहां भगवान को यदि होना है, तो उन्हें मनुष्य में आ रहना होगा। और उनकी भक्ति को मनुष्य के वैयक्तिक आचार-व्यवहारों के भीतर से व्यक्त करना होगा, नहीं तो साहित्य के लेखे भगवान ना-कुछ हो रहेंगे। ऐसे ही अन्य धारणा-मूलक बाधाओं के लिए भी साहित्य में अवकाश नहीं है, और न विशेष समादर है। नीतिवादी का 'श्रेय', सौन्दर्यवादी का 'सुन्दर', समाजवादी के सपने का समाज और राजनीतिक की सर्व-सत्ताधीश सरकार, ये सब साहित्य के लिये नितांत असम्बद्ध और हठात् कल्पित तत्व हैं। सर्जक तक इनकी गति नहीं है, उस पर इनकी शक्ति का प्रभाव और आतंक नहीं है। इन बड़ी-बड़ी आदर्शवादी निर्धारणाओं में

से प्रत्येक को नीचे उतर आना होगा, और टूटकर अपने आपको मनुष्य के 'प्रत्येकत्व' के भीतर विलीन कर देना होगा और तब पारस्परिक व्यवहारों की बुनावट में उन्हें बाहर आना होगा, तभी साहित्य में वे अपना मूल्य और अर्थ बना सकेंगे। अन्यथा अपने आप में उन्हें वहां कोई भी समर्थन या महत्व प्राप्त नहीं हो सकेगा। वहां साध्य होगा मनुष्य, शेष सब कुछ वहाँ साधन होगा। और इन साधनों का प्रामाण्य और सार्थकता इसी में होगी कि ये मनुष्य की सेवा करते हैं। जो निर्धारणायें एक सामग्रिक सम्पूर्णत्व का बलात्कारी दावा करती हैं, उन्हें साहित्य मनुष्य की सीमाएं नहीं लांघने देगा। वहां मनुष्य की सत्ता अभंग रहेगी।

यदि हम मानवीय सम्बन्धों में सुसंवादिता लाना चाहते हैं और अपने बीच शांति स्थापित किया चाहते हैं, तो अपना विकास इस तरह करना होगा, जिसके फलस्वरूप 'एक' 'अनेक' के लिये और 'अनेक' 'एक' के लिये जीने लगे। वे सभी प्राणि-सत्तायें जो गिरोह या सामुदायिक जीवन की द्योतक हैं, उन्हें अपनी बारी से अपने संघटक अंगों की सेवा करनी होती है। संगठन के लिए आवश्यक है कि वह मनुष्य की समग्रता को बाहर लाये, उसे उद्घाटित करे, बजाय इसके कि वह उसे अपना निश्चेतन अंग होने को बाध्य करे। जबतक 'सर्व' फैलकर हममें से प्रत्येक को परिव्याप्त नहीं कर लेता, तब तक मानव के पारस्परिक व्यवहार और मिलन में शांति नहीं आ सकेगी, सहयोग और सहकार की स्थापना नहीं हो सकेगी; तनाव सतत बढ़ता ही जायगा और नयी-नयी समस्याएं उत्पन्न करता जायगा।

साहित्य, जो 'सर्व' की 'प्रत्येकता' पर जोर देता है, और वैविध्य के वैलक्षण्य को हमारे लिये बनाये रखता है, वह राजनीति को आवश्यक संशोधन दे सकता है। अन्यथा राजनीति कभी नहीं जान पायेगी कि वह

दुश्चक्र से बाहर कैसे आये, जो उसकी एकान्तिकता ने उसके आस-पास निर्माण कर दिया है, और जिसके भीतर से उसे काम करने और आगे बढ़ने को बाध्य होना पड़ता है।*

---

* वक्तव्य मूल अंग्रेजी में था : Literature : A Corrective to Politics. हिन्दी रूपांतर श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने किया।

: ३६ :

साहित्य का जन्म

प्रश्न—साहित्य क्या है ?

उत्तर—क्या साहित्य की परिभाषा चाहते हैं ? परिभाषा अनेक दी जा सकती हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रश्न का उद्देश्य परिभाषा माँगने अथवा लेने का नहीं है। साहित्य को हमें समझना चाहिए। समष्टि रूप में हम एक हैं, व्यक्तिगत रूप में हम अनेक हैं, अलग अलग हैं। इस अनेकता के बोझ से हम ऊपर उठना चाहते हैं। आखिर तो हम समय के अंग ही हैं। उस समय के साथ ऐक्य न पालें तब तक कैसे हमें चैन मिले ? इसी से व्यक्ति में अपने को औरों में और औरों को अपने में देखने की सतत अभिलाषा है। मनुष्य के समस्त कर्म का ही यह अर्थ है। मनुष्य के हृदय की वह अभिव्यक्ति जो इस आत्मैक्य की अनुभूति में लिपिबद्ध होती है, साहित्य है।

प्रश्न—साहित्य का जन्म कैसे हुआ ?

उत्तर—इसका उत्तर तो ऊपर ही आ जाता है। मनुष्य अपने आप में अधूरा है, लेकिन वह पूर्ण होना चाहता है। इस प्रयास में क्रमशः वह भाषा का आविष्कार कर लेता है, लिपि भी बनाता है। तब वह उस लिपिबद्ध भाषा के द्वारा अपने को दूसरे के प्रति उँडेलता है। अपने को स्वयं अतिक्रमण कर जाने की इस चाह को ही साहित्य की मूल प्रेरणा समझिए।

साहित्य, राष्ट्र और समाज

प्रश्न—साहित्य और समाज का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—साहित्य सामाजिक अवस्था से आगे होकर चलता है। वह वर्तमान को ही प्रतिबिम्बित नहीं करता; भविष्य की सम्भावनाओं को भी धारण करता है। वह अग्रगामी है, अतः स्वाभाविक रूप में तात्कालिक समाज की प्रगति के साथ उसका सम्बन्ध नेतृत्व का हो जाता है। लेकिन, एक बात तो स्पष्ट ही है; वह यह कि समाज की प्रगति धीमी होती है, विचार की गति क्षिप्र। इसलिए, विचारकों में और समाज की स्थिति में खाई रहती है,—ऐसा होना अनिवार्य ही है। एक और भी बात है। कल्पना में विचरने वाला विचारक साधनाशील से कल्पनाशील अधिक हो जाता है,—वास्तव से (स्थूलार्थ में) अधिक अवास्तव में वह रह सकता है। इसलिए, समाज उसके अनुगमन में खतरा भी देखता है। इस कारण, समाज अधिकतर साहित्य से अनुरंजन ही पाया करता है, नेतृत्व नहीं। अधिकांश साहित्य होता भी ऐसा है जो लोगों को सहलाता है,—उनका मनोरंजन किया करता है। ऐसे साहित्य पर समाज कृपाशील रहता है। किन्तु, लगन से भरे और सिरजनशील साहित्य पर समाज उतना कृपाशील नहीं हुआ करता। साहित्य भावना जीवी है, समाज अर्थ-जीवी। उनमें परस्पर आदान-प्रदान तो है ही, लेकिन, साहित्य और समाज के उन प्रतिनिधियों में परस्पर विरोध भी दिख पड़ता है जो, या तो, इस किनारे होकर अतिशय साहित्यिक हैं और स्वप्न लिया करते हैं, अथवा जो दूसरे छोर पर बैठ कर केवल सामाजिक और घटना-जीवी और अतिशय व्यवहारवादी बन गये हैं।

प्रश्न—क्या साहित्य के विना राष्ट्र और समाज का उत्थान असम्भव है ?

उत्तर—मैं पूछूँ कि क्या हमारे उच्च विचारों पर हमारा उत्थान निर्भर है ? क्या विचार विना उच्च हुए हमारा उत्थान सम्भव है ? साहित्यिक और है ही क्या ? अपने सीमित अस्तित्व से हम उस असीम को छूना चाहते हैं, हम अपनी ही सीमाहीनता की अपने सीमावद्ध अस्तित्व के भीतर अनुभूति पाते हैं,—वे ही क्षण तो साहित्य के जनक हैं । अव, उत्थान किस का नाम है ? समाज का उत्थान, राष्ट्र का उत्थान,—चीज क्या है ? व्यक्तित्व के इस विकास का ही नाम तो मैं उत्थान मानता हूँ । समाज का उत्थान इस में है कि वह अपने आप में स्वस्थ रह कर अपने से वाहर के प्रति स्नेहशील और सेवापरायण हो सके । राष्ट्र का उत्थान इस में है कि वह स्वयं स्वाधीन हो और विश्व के हित में समर्पित हो । मैं अहंकार को उत्थान नहीं मानता । वड़ा साम्राज्य किसी राष्ट्र के उत्थान का लक्षण नहीं है । राष्ट्र के वासियों की अनथक निःस्वार्थ कर्मवृत्ति और स्वस्थ जीवन-शक्ति ही उस राष्ट्र के उत्थान का लक्षण हैं । साहित्य उस सवसे कोई अलग चीज नहीं है । मैं आप से फिर कहना चाहता हूँ कि लाइब्रेरी का नाम साहित्य नहीं है । साहित्य यदि कुछ है तो वह उन भावनाओं का नाम है जो समष्टि के साथ व्यष्टि की सामंजस्य-सिद्धि के साधक हों । इस तरह, क्या व्यक्ति और क्या व्यक्ति-समूह,— सव का उत्थान साहित्य के मार्ग में से है । क्योंकि साहित्य है ही उस उत्थान-मार्ग का नाम ।

: ४१ :

रोटी मुख्य है या साहित्य ?

प्रश्न—साहित्य का जीवन से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जीवन की अभिव्यक्ति का एक रूप साहित्य है। कहा जा सकता है कि व्यक्ति-जीवन की सत्योन्मुख स्फूर्ति जब भाषा द्वारा मूर्त्त और दूसरे को प्राप्त होने योग्य बनती है, तब वही साहित्य होती है।

प्रश्न—क्या साहित्य के बिना जीवन अपूर्ण है ?

उत्तर—कहना पड़ेगा कि अपूर्ण ही है। अपूर्ण न होता, तो साहित्य जन्मता ही क्यों ? यह तो जाति की और इतिहास की अपेक्षा से समझिए। व्यक्ति की अपेक्षा से आप पूछ सकते हैं कि स्वप्न के बिना क्या व्यक्ति नहीं जी सकता ? असल बात तो यह है, कि स्वप्न के साथ भी व्यक्ति अपूर्ण है। क्या स्वप्न किसी क्षण भी सम्पूर्णता का आकलन कर सकता है ? पर वह सम्पूर्णता की ओर उड़ता तो है, उसे छूता तो है; फिर भी, स्वप्न के योग के साथ भी व्यक्ति क्या अपूर्ण नहीं है ? स्वप्न के बिना तो है ही। तब, आप उत्तर यही समझें कि साहित्य के साथ भी जीवन अपूर्ण नहीं है। इतना अवश्य है कि साहित्य के बिना तो वह और भी अपूर्ण है। अपूर्णता का आधार लेकर जो सम्पूर्णता की चाह प्राणी में उठती है, वही साहित्य की आत्मा है।

प्रश्न—रोटी मुख्य है या साहित्य ?

उत्तर—यह सवाल तो ऐसा है जैसे यह पूछना कि जब आप पानी पीते हैं, तो हवा की आप के लिए क्या जरूरत है ? आदमी सिर्फ पेट ही नहीं है। और मैं यह भी कहना चाहता हूं कि पेट भी वह चीज नहीं है जिसे सिर्फ रोटी की ही जरूरत हो,—हृदय बिना पेट का भी काम

नहीं चलता । जब आप ने रोटी के मुकाबिले में साहित्य रक्खा है, तो मैं समझता हूँ आपका आशय किसी जिल्द बँधी पोथी से नहीं है । आशय उस सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना से है जो साहित्य की जननी है । मैं तो उस स्थिति की भी कल्पना कर सकता हूँ जब रोटी छूट जायगी, साहित्य ही रह जायगा । जातीय आदर्श रोटी नहीं है—रोटी में नहीं है । रोटी तो जीवन की शर्त मात्र है । रोटी ही क्यों, क्या और प्राकृतिक कर्म नहीं हैं जो जीवन के साथ लगे हैं ? लेकिन, उनके निमित्त हम नहीं जीते और न उनके लिए हम मरते हैं । आदर्श रोटीमय नहीं है,—रोटी सा पदार्थमय भी नहीं है । वह चाहे वायवीय ही हो, लेकिन, उस आदर्श के लिए हम मरते रहते हैं,—उसी में से मरने की शक्ति पाते हैं । साहित्य उस आदर्श को पाने का, उसे मूर्त्त करने का प्रयास है । रोटी के बिना हम कई दिन रह लेंगे, हवा के बिना तो क्षणों में ही हमारा काम तमाम हो जायगा,—साहित्य उस हवा से सूक्ष्म, किन्तु, उससे भी अधिक अनिवार्य है । लेकिन, साहित्य और रोटी में विरोध ही भला आप को कैसे सूझा ? वैसा कोई विरोध ही नहीं है । यह ठीक है कि जो रोटी को तरसता है उसके फैले भूखे हाथों पर साहित्य की किताब रखना विडम्बना है । लेकिन, यह भी ठीक है कि भारत के भूखे कृषक-मजदूर रामायण के पाठ में से रस लेते हैं । उनके उस रस पर प्रश्न करना, उसे छीन लेना, भी क्या निरा असम्भव नहीं है ? अन्त में, मैं कहूँगा कि आप के प्रश्न में संगति नहीं है । साहित्य आदमी से सर्वथा अलग करके रखी जाने वाली चीज नहीं है । रोटी का अस्तित्व मनुष्य से अलग है, साहित्य का वैसा अलग है ही नहीं ।

: ४२ :

साहित्य और नीति

प्रश्न—साहित्य में मदिरा को स्थान होना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—साहित्य कोई किसी का मकान तो है नहीं कि उस में रहने वाला चुन-चुन कर अमुक वस्तु को आने दे या अमुक को निकाल दे। मेरे मकान में मेरी रुचि व्यक्त होगी, दूसरे के मकान में दूसरे की रुचि व्यक्त होगी। साहित्य किसी के भी एक मकान का नाम नहीं है। फिर एक और विचारणीय बात है। साहित्य का स्थल कागज है—कागज पर वह लिखा जाता है, या छापकर संग्रह किया जाता है। जब कि उस का स्थूल स्थान कागज है, तब मूल स्थान हृदय है। अब मैं समझना चाहूँगा कि आपकी मदिरा क्या चीज है ? मदिरा क्या वह जो ज़रा लाल होती है और काँच के गिलास में दी जाती है और पीते वक्त कण्ठ को पकड़ती मालूम होती है ? वैसी मदिरा तो आप खुद सोचिए कागज़ में कैसे समा सकती है ? इसलिए साहित्य में यदि कोई मदिरा है तो वह कोई और चीज़ है। अगर यही लाल कण्ठ पकड़ने वाली मदिरा है तो फिर वह साहित्य, साहित्य ही कैसा है ? नहीं तो अधिकतर साहित्य में मदिरा शब्द रूपक के तौर पर आता है। मदिरा का एक गुण विशेष है कि वह आप को भुला देती है। महद्-भावनाओं में भी यह विशेषता पाई जाती है। वैसी ही किसी महद् भावना को व्यक्त करने के लिये अगर मदिरा की उपमा का उपयोग है, तो इसमें अन्यथा क्या है।

प्रश्न—क्या मदिरा को सामने रखकर ही महद्-भावना हो सकती है ?

उत्तर—नहीं, अधिकांश में महद् भावना सामने से हर चीज को हटा देने पर हो सकती है। वह लगभग आँख मींचने पर हुआ करती है। नहीं तो दृष्टि ऐसी चाहिए जो सब को भेदकर पार चली जाय। जब

आँखों पर पलकें वन्द हो जाती हैं तव उनमें सपने भरते हैं। यह तो हुई
महद्-भावना के उदय और जागरण की वात। जव वह जाग गई तव
क्या तो शराव और क्या और कुछ —सब के प्रति आँख खोल कर वह
प्रीति वर्तन कर सकती है। महद्-भावना के वशवर्त्ती हुए कि जो शब्द और
जो भी प्रचलित रूप प्रस्तुत मिलते हैं, उन्हीं में और उन्हीं के द्वारा
अपने को व्यक्त करने में आप को कोई घवराहट न होगी। आपको
क्या चाहिए ? भोजन चाहिए या कि आप को यहाँ ही अटक रहना है
कि वर्तन-मिट्टी का है या कलई का है ? पात्र मिट्टी का भी भला, पर उस
में भोजन प्रीति का होना चाहिए। जिन में प्रीति का रस नहीं, वैसे स्वर्ण-
थाल में भी भरे हुए व्यञ्जन किस काम के ? समीक्षकों में मैं इसी तीसरे
नेत्र की दृष्टि चाहता हूँ।

प्रश्न—भोजन तो हमें चाहिए। उसके विना गुजारा कैसे होगा ?
पर साथ ही उसका वनानेवाला भी अच्छा होना चाहिए। आपने इस
वात पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

उत्तर—यह वात अंधेरे में कव है कि प्रकाश की प्रार्थिनी हो ? जैसे
खराव मन का आदमी भी अच्छी मिठाई वना सकता है, वैसी वात
साहित्य के मामले में नहीं है। मिठाई मन से नहीं वनती, पर साहित्य
मन से ही वनता है। लेकिन यहाँ पर एक वात याद रखने की है कि
किसी को अच्छा या वुरा कह देने में हम हमेशा अपनी सम्मतियों से ही
काम लेते हैं और हमारी सम्मतियों के तल में हमारा अहंभाव भी होता
है। यदि मैं अमुक-पन्थी हूँ, तो जो उस पन्थ का नहीं है, वह कुछ न कुछ
खराव है, ऐसा समझ लेता हूँ। हमारे अपने मत-विश्वास हमारी सहानु-
भूति का परिमाण वाँध देते हैं। परिणाम यह होता है कि जीवन में हम
वहुधा अन्यायपूर्वक, आवेशपूर्वक और अहंभावपूर्वक लोगों को वुरा-
भला कह दिया करते हैं। साहित्य साहित्यिक की आत्मा को व्यक्त करता
है। साहित्य और साहित्यिक इन दोनों में वैसा पार्थक्य नहीं है, जैसा कि

हलवाई और मिठाई में होता है। रचनाकार और रचनाकृति में ऐक्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए आप यह निरपवाद मान लीजिए कि अच्छे साहित्य का कर्त्ता अच्छा ही होता है। अगर वैसा नहीं दीखता तो कहीं हमारे मत में अथवा मन में कोई गड़वड़ अवश्य है। साहित्य कृतिकार के मन का प्रतिविम्व है। इसको अच्छी तरह जानकर साहित्य-रस प्राप्त करनेके लिए हमें अपनी ही मत-धारणाओं के वन्धन से तनिक स्वाधीन होना पड़ेगा।

प्रश्न—आपने जो यह गड़वड़ की वात कही, वह कैसे हो सकती है—जवकि कृतिकार को तो जानते न हों, केवल उसकी कृति ही हमने पढ़ी हो ?

उत्तर—ऐसी हालत में तो वेशक गड़वड़ नहीं हुआ करती। कृतिकार कव सशरीर मानव-प्राणी नहीं है ? हो सकता है कि वह आपके ही कमरे में रहने वाला हो और एक दिन वाजार में आपकी आँखों के सामने पड़ जाय। अवतक रचनाओं में आप उसके विचारों का और भावनाओं का परिचय पाते रहे हैं। अव आप देखते हैं कि वह फटा हुआ जूता पहिन रहा है, साधारण कपड़े पहने है या सजवज में है, चुप है या वोल रहा है, मूँछे हैं या नहीं हैं। इस सवका आपके मन पर अजव प्रभाव पड़ता है। आपकी सहानुभूति गरीव के साथ है तो आपको चमकदार जूता वुरा लगेगा। आप नई पसन्द के आदमी हैं, तो शायद है कि उसकी अनसँवारी मूँछें आपको अच्छी न लगें। इसी तरह उसकी चाल-ढाल, कपड़े-लत्ते—इन सवका अक्स आपकी धारणाओं पर पड़ेगा। और आपकी धारणाएँ उस अक्स के अमुक अंश को अच्छा और अमुक को वुरा कह छोड़ेंगी। तव आप अक्सर देखियेगा कि कलाकृति का कलाकार और फटे-कि-चिकने जूते और वढ़िया-कि-मामूली कपड़े वाले उस आदमी में वहुधा पूरी तरह साम्य नहीं हो पाता है। ऐसी दृष्टियाँ

बहुत कम हैं, जो व्यक्ति को समग्रता में देखती हों। इसीलिए मैंने वह गड़बड़ की बात कही है। ऐसी गड़बड़ विलायतों में भी है। सभी कहीं है और सब कालों में थी। किसी के बदन पर का फटा कुरता भिन्न मनुष्यों पर भिन्न प्रकार का प्रभाव डालता है। इसीलिए व्यक्तियों के अन्दाजों में अन्तर हुआ करता है। एक आदमी के दोस्त भी होते हैं, दुश्मन भी। अगर वह अच्छा है तो उसके दुश्मन क्यों हैं? अगर बुरा ही है, तो दोस्त कहाँ से आये? परिणाम निकला कि व्यक्ति का शुद्ध यथार्थरूप क्या है, इस तथ्य तक पहुँचना ही दुर्लभ है। इसी दृष्टि से मैंने गड़बड़ की बात कही।

प्रश्न—अच्छा तो आपने मान लिया कि साहित्य में मदिरा का स्थान है—ठीक है, मैंने भी माना। परन्तु यह तो बतलाइए कि यह जो अश्लील साहित्य की रचना हो रही है, सो कहाँ तक ठीक है? दुनिया में अच्छी घटनाएँ भी होती हैं और बुरी बातें भी। फिर उनको प्रकट करने में भलाई-बुराई क्यों?—जबकि साहित्य का काम ही यही है।

उत्तर—अश्लील साहित्य अश्लील है। इसलिए उसकी रचना करना भी अश्लील है। 'अश्लील' शब्द में ही यह ध्वनि है कि वह अच्छा नहीं है। अच्छा होता तो हम अश्लील न कह पाते। जिसको एक भी व्यक्ति अश्लील कहता है, उस साहित्य में कुछ न कुछ खोट है।

जिस व्यक्ति का एक भी दुश्मन है, उसके व्यक्तित्व में कुछ न कुछ कुछ खोट है। लेकिन जब आदमी को बुरा कहने वाला कोई नहीं रहता, तब आदमी मर चुका होता है। मरने पर दुश्मन कोई नहीं रहता। इससे पहले यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। परिणाम निकला कि व्यक्ति मरने पर निर्दोष होता है। जीवन में तो निर्दोषिता की ओर बढ़ना ही होता है।

जन्म कर्म-बन्धन में से होता है। वैसे ही साहित्य असमर्थतामें से उत्पन्न होता है। किन्तु उसकी उत्पत्ति का प्रयोजन है कि सामर्थ्य दे, जैसे कि जन्म पाकर व्यक्ति का पुरुषार्थ है कि वह मुक्ति की ओर बढ़े।

इसलिए जिससे कोई विचलित नहीं होता ऐसा पुरुष और ऐसा साहित्य निर्जीव है।

यहाँ आपको लगेगा जैसे हम चक्कर में फंस गये हैं। हां, वह चक्कर तो है। और इसी को समझ लेना बड़ी बात है।

दुनिया में बुरा-भला सब कुछ है। ईश्वर सबको देखता है, फिर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि वह अलिप्त रह सकता है और रह रहा है, इसलिए उसीको सामर्थ्य प्राप्त है कि वह अनादि इतिहास के सब पाप और सब पुण्य देखता रहे। सब पाप और सब पुण्य उसमें लय हो जाते हैं।

हम में वैसी अलिप्तता नहीं है। इसलिए हम सब कुछ नहीं देख सकते। स्पर्द्धापूर्वक अगर हम अपने सामर्थ्य से अधिक देखने जानने का यत्न करेंगे तो हमारी आँखें फूट जायँगी और हमारा सिर फिर जायगा।

ऐसा ही सिर-फिरा साहित्य अश्लील होता है।

जहाँ स्त्री को घृणापूर्वक (अर्थात् रसपूर्वक) वेश्या, व्यभिचारिणी आदि कहा जाता है वहाँ अवश्य अश्लीलता है, चाहे वहाँ कितनी ही चतुराई से काम लिया गया हो। घृणा अश्लील है।

जहाँ स्त्री में माता-भगिनी की बुद्धि है, वहाँ अश्लीलता नहीं है; चाहे वहाँ शारीरिक नग्नता का जिक्र भी क्यों न आ जाय।

सूरज के प्रति धरती क्या अप्रकट है? धरती है ही सूरज का भाग। इसलिए सूरज जब धरती को अपनी धूप का दान करता है और धरती उस दान को स्वीकार कर उजली होती और खिल पड़ती

है—तब क्या उस में आसक्ति है ? तब क्या सूरज कोई मैला रस पा रहा होता है ?

इसलिए धरती तक सूरज की किरणें उसके तमाम वस्त्रों को भेद-कर पहुँच ही जाती हैं और वह धरती पाप के अगणित परमाणुओं से आवेष्टित होकर भी सूरज की आँखों के आगे सदा दिग्वसना है और वैसी होकर कृतज्ञ है।

इसलिए प्रकट-अप्रकट का प्रश्न न कीजिए। बड़ा प्रश्न अनासक्ति के अधिकार का है। जहाँ प्रदर्शन है वहाँ आसक्ति है और जहाँ अना-सक्ति है वहाँ अभिव्यंजन-प्रकाशन ही हो सकता है।

प्रश्न—दुनिया में हरेक तरह की घटनाएँ होती हैं, उनमें अश्लील भी होती हैं। क्या उनको प्रकट करने में साहित्य को आपत्ति है ?

उत्तर—घटना घटना होती है। अपने आप में न वह अश्लील होती है, न शिष्ट। हमारा उस घटना के साथ क्या नाता है, उसके प्रति क्या वृत्ति है,—अश्लीलता इस पर निर्भर करती है।

प्रश्न—किसी लेखक ने यदि किसी अश्लील घटना का हूबहू वर्णन वर्णन कर दिया, तो साहित्य उस पर आपत्ति न उठाएगा।

उत्तर—मैंने कहा तो कि घटना कोई अश्लील नहीं होती और किसी घटना का हूबहू वर्णन नहीं हो सकता। बाहरी जगत् का हमारे मन के साथ सम्बन्ध है और उस जगत् की वस्तु और घटनाओं के साथ हमारे चित्त के राग-द्वेष रुचि-अरुचि का आश्लेष लग जाया करता है। जैसा मैंने कहा, बहुत कुछ अथवा सब कुछ उस सम्बन्ध पर अवलम्बित है, जो वस्तु-जगत् के साथ लेखक अपना लेता है। इस तरह दो व्यक्ति कभी एक घटना का एक तरह वर्णन नहीं कर सकते। दावा दोनों कर सकते हैं कि उनका वर्णन हूबहू है, पर ऐसा हो नहीं सकता। साहित्य में तो ऐसा है ही नहीं। हाँ, विज्ञान में थोड़ा बहुत है। पर विज्ञान में अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

: ४३ :

हिन्दी और अंग्रेजी

कुछ पहले यहां गुलामी शब्द का बहुत चलन था। हर कहीं सुन पड़ता था कि गुलामी की वेड़ियों को काटना और स्वराज्य पा लेना है। अंग्रेज़ों ने देश को गुलाम बना रक्खा है। अब हम हैं कि स्वाधीन होंगे और स्वराज्य लेंगे।

सुनता हूं कि वह स्वराज्य ले लिया गया है और स्वाधीनता हमारे बीच विराजमान हो आई है। अंग्रेज चला गया है और उसके साथ-साथ दासता भी चली गई है।

समाचार वह अवश्य सत्य ही है। उस सत्यता के अनेक प्रमाण हैं, लेकिन वह बात मेरे लिए उतनी साफ नहीं हो पाती है। मेरे अन्दर की हीनता जरूरी बनाती है कि मैं गुलामी को और उसके छुटकारे को ठीक-ठीक समझूं।

बहुत पहले की बात है। उन दिनों जीविकोपार्जन का प्रश्न मेरे लिए खुला ही था। बन्द वह अब तक नहीं हुआ है। लेकिन तब पहलेपहल अनुभव हुआ था कि तुम्हारी उमर इतनी अक्षम्य हो आई है कि तुम्हें अपनी सगी मां पर और वसुधा माता पर बोझ न रहना चाहिए, बल्कि सहारा बनना चाहिए। तब की नौकरी पाने की कोशिशों का एक अलग इतिहास है। लेकिन खैर, कभी जाकर एक नौकरी मिलने की आस बंधी। आधार यह कि मैं कुछ अंग्रेजी जानता था। पर अंग्रेजी लिखने का मौका आया तो प्रकट हुआ कि लिखावट मेरी बढ़िया नहीं है। इससे नौकरी मिलते-मिलते नहीं मिली। उस मिलने वाली सफलता को और मिली असफलता को समझने में मुझे अब तक कभी दिक्कत नहीं हुई। कारण, राज्य अंग्रेजी था।

उसके बाद फिर एक हिन्दी मासिक पत्रिका के दफ्तर में नौकरी हाथ आई। वह क्लर्की भी मिली इसलिए कि विज्ञापनदाताओं को भेजे जाने वाले एक गश्ती पत्र का ड्राफ्ट, जो अंग्रेजी में होना आवश्यक था, मुझ से ऐसा बन पाया कि सम्पादक को, जो मालिक भी थे, स्वीकार हुआ। वह मासिक पत्रिका हिन्दी की भले हो, पर दफ्तर अंग्रेजी का था। कहना अनावश्यक है कि महीने के आस-पास मेरा वहाँ गुजारा रहा, बाद छुट्टी मिल गई। कारण, उतने समय में यह ज्ञात हो गया कि असल में आवश्यक से में काफी कम अंग्रेजी जानता हूँ।

तब से अब तक जी तो मैं जैसे-तैसे गया हूँ, और इस काल का काफी हिस्सा हिन्दी लेखक की हैसियत से जीना हुआ है। लेकिन हिन्द की भूमि पर सिर्फ हिन्दी बन कर जीने की सुविधा है, ऐसा मेरे अनुभव में पहले भी नहीं आया, अब भी नहीं आ रहा है। वह सुविधा यत्किंचित् मेरे लिए अंग्रेजी ने ही जुटाई है। वह अंग्रेजी तो उतरन के तौर पर ही मुझ पर टिकती है, मेरी अपनी हो कर साथ नहीं रह सकती।

इस पर मुझे शिकायत नहीं है। जीवन एक दौड़ है और संघर्ष। उसमें अयोग्य गिरेंगे और निर्बल हारेंगे। यह तो अनिवार्य ही है। इससे शिकायत करना और सुनना दोनों व्यर्थ हैं। तिस पर दुनिया एक बन रही है और देश नजदीक आ रहे हैं। एक अमुक देश जो अपने को हिन्द कहता है अपनी भाषा हिन्दी समझे, यह अत्यन्त नगण्य बात है। हिन्द की हस्ती दुनिया से अलग कहाँ है ? और दुनिया की भाषा है अंग्रेजी! अतः हिन्द को बढ़-चढ़ कर दुनिया में आगे रहना है तो हिन्दी से अधिक क्यों न अंग्रेजी उसकी भाषा होनी चाहिए ?

मुझे इस सम्बन्ध में कुछ खास नहीं कहना है। अंग्रेजी गति और उन्नति की भाषा है। भारत को प्रगति और उन्नति करनी है। इससे अंग्रेजी के पल्ले को भी कभी-कभी उसे नहीं छोड़ना है।

वह दृष्टि जो हमें ऐसा समझाती है एक दम स्पष्ट है। लेकिन मैं

गुलामी को समझना चाहता हूँ। उसी के सहारे फिर मैं आजादी को समझना चाहता हूँ। हिन्द की धरती पर सुविधा-पूर्वक यदि वही जी सके जो अंग्रेजी जानता है तो यह गुलामी है कि आजादी ?

मैं अपनी हार मानता हूँ। किसी तरह मैं नहीं कह पाता हूँ कि यह लक्षण आजादी का है।

अंग्रेजी भाषा हीनतर नहीं है, लेकिन श्रेष्ठतर भी नहीं है। सिर्फ यह है कि अंग्रेज (या अमरीकन) के लिए वह सहज है, उसकी वह मातृ-भाषा है। इतने से अन्तर के कारण एक पूरी जाति, पूरा देश, एक सभ्यता, एक रंग ही विशिष्ट बन जाय, इतना विशिष्ट कि दूसरे को उसके सम्मुख निम्न और हीन बनना पड़े, यह निश्चय ही स्वस्थ स्थिति का लक्षण नहीं है।

कहना चाहिए कि भारत को उस अर्थ में स्वस्थ नहीं बनने दिया जा रहा है, उसको बीमार रखा जा रहा है। यह नहीं कि भारत में जान नहीं है, या स्वास्थ्य की शक्ति नहीं है। लेकिन बीमारी को फैशन बनाकर पोसा जा रहा है और आज की सरकार इस अपराध से इन्कार नहीं कर सकती।

पहले घटी सारी घटनाओं को भुलाया जा सकता है। लेकिन अब की और हाल की बातों को बर्दाश्त करना गलत होगा। हमारे पास सार्वजनिक जीवन की दो धाराएँ हैं—एक सरकारी, दूसरी गैर-सरकारी। लोक-राज्य में सरकारी को जागृत लोक-मत का प्रतिनिधि होना चाहिए, गैर-सरकारी से उसे अलग होकर नहीं चलना चाहिए। गैर-सरकारी जीवन पर सरकारी जीवन का बड़ा प्रभाव पड़ता है। उस प्रभाव से सरकार अनजान नहीं रह सकती। इसलिए बाहर जो हो रहा है सरकार उसकी ओट नहीं ले सकती। यह उसके लिए अपनी जिम्मेदारी से बचना होगा। बाहर अंग्रेजी और हिन्दी में फर्क किया जाता है। एक ही काम अगर अंग्रेजी में होगा तो ऊँचे मूल्य का समझा जायगा। हिन्दी (या किसी

और देशी भाषा) में होगा तो उसका मूल्य कम होगा। बाहर की स्थिति की आड़ लेकर सरकार इस सम्बन्ध में अपने को निर्दोष नहीं मान सकती।

बाजार-दर बनती और बनाई जाती है। बाजार को मान मानकर अन्याय और शोषण को स्थायी नहीं किया जा सकता।

पिछले दिनों रेडियो में हिन्दी-अंग्रेजी में यही भेद था। अब भी वही हो तो मैं जानता नहीं हूँ। लेकिन वह एकदम नहीं रहना चाहिए। सिर्फ इसलिए कि अंग्रेजी की दर हिन्दुस्तान के बाजार में ऊँची है इस तरह का भेद-भाव करना किसी तरह समर्थनीय नहीं हो सकता।

रेडियो के अलावा और विभागों की बात की जाय तो स्थिति दयनीय है। खास कर प्रकाशन-विभाग अभी जाने किस दुनिया में रहता है। इसके डायरेक्टर महोदय अपने को असमर्थ पाते हैं। ऊपर का इशारा मिले तो वह स्थिति को समझें और ऊपर के इशारे की प्रतीक्षा अनन्त काल तक की जा सकती है। क्योंकि चालू हालत (स्टेटस को) से आगे का तर्क शासन को सुलभ ही कब होता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि हिन्दी लेखक की हैसियत से मैं सरकार की कोई भी सहायता नहीं कर सकता हूँ, और सरकार मेरी सहायता नहीं कर सकती है। मानो ये अपने-अपने रहने के दो लोक है। सरकार जिस माध्यम से और जिन मूल्यों से चलती है वे एक हैं और जिनसे हिन्दी के लेखक को चलना पड़ता है वे दूसरे हैं। यह दोनों में किसी के लिये भी शुभ और स्वस्थ स्थिति नहीं है। लोक-राज्य में शासक कोई होता ही नहीं, लोकमत ही शासन पर अदल-बदल कर लोगों को विठाया करता है। इसलिए लोक-शासन को उत्तरोत्तर आत्म-शासन के रूप में ढलते जाना होगा। आत्म-शासन वह जहाँ शास्ता और शासित में भेद नहीं है।

भारत की अनगिनत जनसंख्या धरती से लग कर रहती है। इससे जनता की भाषाएँ धरती से टूट या बिछड़ नहीं सकती। मातृ-भाषा

सब वही हैं जो सीधी यहाँ की धरती और हवा में से हमको प्राप्त हुई हैं। भारतीय जीवन की सहज प्रतिभा का वास वहाँ है। भारतीयता की शक्ति भी वहाँ है। भारतीय प्रजा उसी में बोलती और साँस लेती है। अंग्रेजी उस अपार जन-सागर की बूँद तक भी कठिनाई से पहुँचती है, उनके मन को छूने की तो बात ही दूर है। अंग्रेजी प्रजा के दुःख-सुख की भाषा बन कर नहीं उठती, वह तो बस उस वर्ग के स्वार्थ की वाहन है जो या तो स्वयं शासनस्थ है, या वहाँ पहुँचने या उसका सहारा पाने के जोड़तोड़ में रहता है।

यह वर्ग कृत्रिम मूल्यों को थामता और बनाता है। इसने बाजार को औंधा कर रखा है। परिणाम यह है कि श्रम भूखों मरता है और धन सब पदार्थ-राशि को अपनी ओर खींच ले जाता है। इससे आज के बाजार को समर्थन देना या उससे समर्थन लेना अन्याय को पोषण देना है।

आज का लोक-राज्य कल गिर जायगा अगर वह अंग्रेजी से और अंग्रेजियत से उतर कर देश में चलने वाले सीधे-सादे चलन को नहीं अपनायगा।

जानता हूँ कि सरकार की कठिनाई बड़ी है। आलोचना आसान है, रचना मुश्किल है। जानता हूँ कि नई-नई आफतें और मुसीबतें राष्ट्रीय सरकार के माथे आ टूटी हैं और उलझनें उसकी कम नहीं हैं। लेकिन इसीलिए यह कहना और भी जरूरी है, क्योंकि शायद आज की सब से बड़ी आफत और मुसीबत यह अंग्रेजियत है जो सरकार को अपने ऊपर लेकर ढोनी पड़ रही है। सरकार एक बड़ा सा व्यूह है जिसके ऊपर गाँधी टोपी पहनने वाले चन्द देसी लोग दीखते हैं, लेकिन उसका मुख्य कलेवर बने हुए नाना अमलदारियों (सरविसेज) के वे (काले) साहब लोग हैं जिन्हें अंग्रेजी तौर-तर्ज में ढाला गया है। पहले उनका काम राजा और प्रजा के बीच खाई बनाये रखना था, आज भी काम वही है। उस गहरी खाई के पानी में पहले फाइलें चलती रहती थीं, आज उन फाइलों की गिनती बढ़

गई है। लेकिन वे डोंगियां खूबसूरत लाल फीतों की पाल फहराए यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ विहार करती हुई घूमती रहकर नाना सुन्दर व्यूहों की रचना भले करें, वे राजा और प्रजा इन दो तटों के बीच किसी सद्भाव की सृष्टि कर उनमें अभेद लाने की सम्भावना को निकट नहीं लातीं।

क्या यह सम्भव नहीं है कि शाही सर्विसों के अफसर लोग अंग्रेजियत से उतरें और उनको कुछ भारतीयता पहनाई जा सके ? अंग्रेजी एफीशियेन्सी भारतीय को भारी पड़ रही है। करदाता की उससे कमर टूट रही है। उसका तनाव सारे जीवन को भ्रष्टाचार की ओर खींच रहा है।

भारतीयता कुछ यहाँ के अनुकूल होगी, कम खर्चीली होगी। सम्भव है वह प्रजा पर आतंक डालने के बजाय उसे आश्वासन पहुँचाए। क्या यह नहीं हो सकता कि पन्द्रह साल की अवधि की दृष्टि से आज ही से कुछ विभागों को और फाइलों को सर्वथा हिन्दी में चलाए जाने का प्रयोग प्रारम्भ किया जाय और सर्विसों के लिए यथाशीघ्र आवश्यक हिन्दी जान लेना अनिवार्य हो जाय। भारतीय सर्विसों में प्रायः सभी प्रान्तों के लोग हैं। सबकी अलग-अलग मातृ-भाषाएँ हैं। 'हिन्दी होने से उत्तर भारत के लोगों को एक विशेष सुविधा मिलेगी, दक्षिण-भारतीय उससे वंचित रहेंगे, क्या यह अन्याय न होगा ? अंग्रेजी माध्यम रख कर राज्य इस अन्याय से बचता है।' इस तरह का तर्क दक्षिण भारत की आड़ लेकर शासन की ओर से भी आता है तो कुतर्क ही है। क्योंकि दक्षिण भारत में इस सम्बन्ध की भीरुता न थी, न है; और यदि कुछ वहाँ मन का संशय है तो उसके कारण कृत्रिम हैं और आपसी हैं। उनकी ओट किसी तरह भी नहीं ली जा सकती है।

शासक का पहला दायित्व प्रजा के प्रति है। भारत की प्रजा गाँव में बसती है। शहरी वर्ग स्वयं शासन के भोग में हिस्सा बटाने वाला वर्ग है। जो उस शासन को अपनी कमर पर थामते हैं, देखा जाय तो वे देहाती ही राज्य के सच्चे मालिक हैं। उनकी बोली ही राज-काज की सच्ची भाषा

नहीं होगी तो शासन अपराधी ठहरेगा। मालिक की सेवा शासनपदासीन से कैसे हो पायेगी जब वह उसके ऊपर होकर अनजान बोली-बोलता हुआ अफसर बन कर आयगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी में भाषा सम्बन्धी कुछ आशय है तो यही कि यह वह भाषा है जिसमें यहाँ की अपढ़ करोड़ों जनता एक है।

हिन्दी के अधिपतियों द्वारा इस मूल आशय की छाती पर बहुतेरे विवाद और कलह कोलाहल की रचना हुई है। वह सुविधा-प्राप्त लोगों के मनोविनोद की क्रीड़ा रही है। हिन्दी के उर्दू से, या इन दोनों के हिन्दुस्तानी से, विरोध का अवकाश मूलाशय में नहीं रहा है। अंग्रेजी की गुलामी के प्रतिषेध की ही उसमें प्रधान ध्वनि रही है। भाषा कौन श्रेष्ठ है यह प्रश्न ही नहीं है। जनता को समझ आने वाली उनके मन तक उतरने वाली भाषा ही राष्ट्र और राज्य दोनों की भाषा है।

प्रश्न जनता और जनसेवा का न रहने देकर भाषा का और भाषा की श्रेष्ठता की तरतमता का जो बना दिया गया, उस कृत्रिमता के पीछे से अंग्रेजी को आ जमने के लिए फिर से अभिसन्धि का द्वार मिल गया। आपसी फूट पर पराये का शासन आप ही आ रहना हुआ।

अंग्रेजी के ज्ञान पर किसी को यहाँ विशिष्ट बन आने का अवसर हो तो इससे बड़े दुर्भाग्य की बात दूसरी न होगी। जनता से अलग समझ कर शिक्षित अपने भाग्य को बिगाड़ ही सकता है, सच्चे अर्थों में बना नहीं सकता। अंग्रेजी में कितने ही महापुरुष हुए हों, लेकिन देश की जनता की भाषा वह नहीं है, तो वह देश के लिए मोह का कारण नहीं हो सकती।

जानता हूँ कि राज्य में बड़ों-बड़ों को वैसा मोह है। उन्नति उन्हें सब अंग्रेजी भाषा में और उस भाषा के देशों में दीखती है, अवनति सब यहाँ। वह मोह हमें रखना है तो गुलामी छोड़ने की जरूरत न थी।

यह गुलामी ही है जो उधर हमारी टकटकी लगवाए रखती है। गुलामी से छूटना है तो अपनी धरती से लग कर रहने वालों की ओर हमें मुँह मोड़ना होगा। जो उन्नत थे, समृद्ध थे, सम्पन्न थे, मालिक की जगह पर से हमने जान-बूझ कर उन्हें हटा दिया है। अमरीका के वैभव पर हम विस्मय कर लेंगे, लेकिन मालिक की जगह उसे नहीं बिठाएँगे। क्या यह इसलिए नहीं कि हमने जान लिया है कि जो हीन हैं, दरिद्र हैं, भूखे हैं और नंगे हैं—वे देशवासी हमारे सच्चे मालिक हैं। ऐसा यदि जान बूझ कर हमने किया है तो क्यों विलायती फैशन के तर्क अपनी दिशा से हमें मोड़ने के लिए हम ही अपने बीच पैदा कर चलते हैं।

हिन्दी का सम्मेलन इस काम में पूरा काम नहीं आया और नहीं आ रहा है। असम्भव नहीं कि वह अनजाने अंग्रेजी को ऊपर मजबूत बनाने में सहायक हो गया हो। कारण, वह हिन्दी का इतना है कि हिन्द की जनता का होने की उसे आवश्यकता नहीं है। वह भाषा का है, सेवा का नहीं है। वह आन्दोलन का है, रचना का नहीं है। भाषा के विवाद की सतह पर से अंग्रेजी यदि सर्वश्रेष्ठ और सर्व-सुलभ भाषा बनकर हमारे बीच विराजमान रहे तो इसमें फिर क्या अचरज होना चाहिए।

लेकिन हिन्दी का तर्क उससे अमोघ है। सम्मेलन नाम की संस्था के आचरण से उसका सम्बन्ध नहीं है। वह जन-जीवन और राष्ट्र-जीवन का तर्क है। उस पर आश्रित हिन्दी एक ही साथ हिन्दुस्तानी है। वह उर्दू से अविरोधी है। वह यहाँ की धरती-माता से उपजी है और हर मातृ-भाषा से उसका संग-साथ है। वह किसी भी तरह अंग्रेजी का आधिपत्य अपने ऊपर नहीं ले सकती। उसमें अंग्रेजी के साथ पूरी सहानुभूति है और उसके प्रति पूरी सराहना है। किन्तु सहानुभूति और सराहना गुण हैं जो आधीनता में नहीं स्वाधीनता में ही स्वस्थ-भाव से पनप सकते हैं।

समय है कि पद-प्राप्त अमलदार हकूमत, उसके लोक-प्राप्त नेता और अधिकारी अपने को टटोलें। यदि कहीं भी अंग्रेजी उपयोगिता के कारण

नहीं प्रत्युत झूठी मान-प्रतिष्ठा के कारण हिन्दी को दवाती हो तो तत्काल उसका उपाय करें। क्योंकि यह भाषा का प्रश्न नहीं, स्वयं लोक-राज्य की परीक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी-भर अहंमन्यों का बनकर शासन नहीं रहना है, तो उसे जनभाषा की सतह पर आकर रहना होगा। अन्यथा कुछ की अहंमन्यता जनमत में विष पैदा करेगी, जो हिंसक उपायों पर विश्वास करने वाले राजनीतिक दलों के लिये बारूद का काम देगी।

: ४४ :

अपनी कैफियत

मेरा कहानी लिखना कैसे शुरू हुआ, यह याद करता हूँ तो विस्मय होता है। विस्मय शायद इसलिए कि औरों की बात मैं नहीं जानता। मेरा आरम्भ किसी तैयारी के साथ नहीं हुआ। जब तक चाहता रहा कि कहानी लिखूं, तब तक सोचता ही रह गया कि कैसे लिखूं। और जब लिखी गई तब पता भी न था कि वह कहानी है।

बात यों हुई। वक्त खाली था और नहीं जानता था कि अपना क्या बनाऊं। दुनिया से एक माँ की मार्फत मेरा नाता था। शेष दुनिया अलग थी और मैं अपने में बन्द अलग था। एक बूंद अलग होकर सूख ही सकती है। मैं भी सूख ही रहा था।

पर जिन्दगी अकेले तो चल नहीं सकती। आखिर खाने को तो चाहिए। उसके लिए कमाई चाहिए। तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र हो जाए तो आदमी को कुछ करने की सुध लेनी चाहिए। सुध तो लेता था, पर जुगत कुछ न मिलती थी। नतीजा यह कि दिन के कुछ घण्टे तो लाइब्रेरी के सहारे काटता था, बाकी कुछ खामखयाली और मटरगश्ती में।

इस हालत में पहली जो कहानी लिखी गई, वह यों कि एक पुराने साथी थे, जिनका ब्याह हुआ। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्रिकाएँ पढ़ती थीं और चाहती थीं कि कुछ लिखें जिससे उनका लिखा छपे और साथ तस्वीर भी छपे। हम भी मन ही मन यह चाहते थे। दोनों ने सोचा कि कुछ लिखना चाहिए। तय हुआ कि अगले शनिवार को दोनों को अपना लिखा हुआ एक-दूसरे के सामने पेश करना होगा। शनिवार आया

और देखा कि उनकी कहानी तैयार थी, हमें कुछ बात पकड़ न आ सकी थी कि लिखा जाता । ऐसे एक हफ्ता दो हफ्ता निकल गए । भाभी तो भी कुछ-न-कुछ लिख जाती थीं । यहाँ दिमाग दुनिया भर में घूमकर कोरा-का-कोरा रहता था । हम अपनी हार को लेकर मन-ही-मन ओछे पड़े जाते थे । होते-होते हम जड हो गए और सोच लिया कि कुछ हमसे होने-हाने वाला नहीं है । यह हमारा निकम्मापन इस तरह तय हो चुका था कि एक दिन घटी एक दिलचस्प घटना को हमने ज्यों-का-त्यों कागज पर उतार डाला । जाकर सुनाया भाभी को। (घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी ।) भाभी लजाईं, मगर खुश भी हुईं । मैं मानता हूँ कि वह पहली कहानी थी जो फिर जाने क्या हुई ।

दूसरी-तीसरी और चौथी-पाँचवीं कहानियों का बानक यों बना कि एक मित्र सन् २०-२१ की गर्मागर्म देश-सेवा के बाद सन् २६-२७ होते-होते खाली हाथ होगए । अब क्या करें ? जमने की जगह हो तो नेता-गिरी के काम की भी सुविधा है । यों आँधी के वक्त की बात दूसरी है और ठंडे वक्त की दूसरी । सो मित्र—बड़े विचक्षण, बड़े योग्य—अन्त में शायद पचीस रुपये पर एक पाठशाला में मुख्याध्यापक हुए । पाठशाला छोटी थी, पर उनके खयाल बड़े थे । उन्होंने तीसरी-चौथी क्लास के विद्यार्थियों को लेकर वहाँ एक हाथ लिखी पत्रिका निकालनी शुरू की । मुझे लिखा कि उसमें तुम भी लिखो। कहीं पता होता कि यह तो लेखक बनने का रास्ता खुल रहा है तो मेरा जी डूब जाता । सच कहता हूँ, मन ऐसी दुस्सम्भावना का बोझ तब नहीं उठा सकता था । सो मित्र का खत आता और मैं जवाब लिख भेजता । जवाब जरा लम्बा होता और सूझ में जो उलझता झाँक देता । इस तरह शायद छः महीने हुए होंगे कि मित्र का वहाँ से पत्ता कट गया । निकले तो साथ अपनी हथलिखी पत्रिका के अंक भी उठा लाए । उन दिनों एक हितैषी बुजुर्ग कभी-कभी

घर पधारते थे। ठाली उत्सुकता में पत्रिका के अंक उन्होंने देखे और कहीं जा रहे थे कि साथ लेते गए।

चलो छुट्टी हुई। लेकिन दो-एक महीने बाद लाइब्रेरी में बैठा हुआ देखता क्या हूँ कि 'विशाल भारत' में 'श्री जिनेन्द्र' की कहानी छपी है, 'खेल'। वह 'खेल' तो जरूर मेरा है—तो क्या 'विशाल भारत' में छपने वाला 'श्री जिनेन्द्र' मैं ही हूँ? बस तब की बात पूछिए नहीं। दिल उठता था और गिरता था। जाने किस घड़ी कथा लिखी गई थी वह 'खेल' कि अब जगह-जगह उसे छपी देखता हूँ और सुनता हूँ कि वह 'एक चीज' है। क्यों न हो, लोग कहते हैं तो जरूर होगी वह चीज। पर सच मानिए कि उसके 'चीज' होने का गुमान भी होता तो 'खेल' का वह खेल 'जैनेन्द्र' से न हो पाता।

कहानी का लिखना तो ऐसे शुरू हुआ; पर उसके कुछ काल जारी रहने का भेद दूसरा है। वह रहस्य यह कि शायद 'खेल' के ही पारिश्रमिक स्वरूप 'विशाल भारत' से चार रुपए का मनीआर्डर चला आया। मनीआर्डर क्या आया, मेरे तो आगे तिलिस्म खुल गया। इन २३-२४ बरसों को दुनिया में बिताकर भी मैं क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपए का आवागमन होता है! रुपया मेरे आगे फरिश्ते की मानिन्द था जिसका जन्म न जाने किस लोक का है! अवश्य, वह इस लोक का तो है नहीं। वह अतिथि की भांति मेरे 'खेल' के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा, तो एकाएक मैं अभिभूत हो रहा। मेरी मां को भी कम विस्मय नहीं हुआ। तो बेटे के निकम्मेपन की भी कुछ कीमत है! मां से ज्यादा बेटा अपने निकम्मेपन को जानता था। पर 'विशाल भारत' के मनीआर्डर से मालूम हुआ कि आदमी अपने को नहीं जान सकता। दुनिया अति विचित्र है और जाने यहां किसका क्या मोल लग जाए। मोल यहां असली है नहीं, इसलिए मोल की तोल भी मनमानी है।

खैर, फिर तो कुछ और भी लिखा। इसी जमाने की एक बात याद आती है। उन पाठशाला वाले मित्र के पहले खत के जवाब में मैंने कुछ लिखना शुरू किया। उस कहानी में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो भारतमाता की याद अंग्रेजी में ही कर पाते हैं। कहानी पूरी हुई तो मालूम हुआ कि अपनी भारतमाता की भक्ति तो खासी ऊँची अंग्रेजी में वह महोदय कर गए हैं—तीसरी-चौथी क्लास के बच्चों के मन वह कैसे उतरेगी ? इससे उस रचना को तो मैंने अपने पास रोक रखा, दूसरा कुछ और लिख भेजा। पहली रचना को शीर्षक दिया गया था—'देश प्रेम'। वह मेरा 'देश प्रेम' एक दिन दिल्ली के एक मासिक पत्र के कार्यालय में मेरे हाथों से छिन गया। छिन तो गया, पर तीन-चार महीने हो गए, उसकी सूरत फिर उस पत्रिका में देखने में नहीं आई।

मैं डरते-डरते कार्यालय में पहुचा। सम्पादक, जो मालिक भी थे, बोले, आपका लिखा हुआ साफ नहीं था और अशुद्ध भी था। सो हमारे सहायक गए तो उसे साथ ले गए। देखिए अभी इसी डाक से उसकी शुद्ध प्रतिलिपि उन्होंने भेजी है। अब अगले अंक में यह जा रहा है।

मैंने रचना देखनी चाही तो सम्पादक ने मेरे हाथ में दे दी।

मैंने खड़े-खड़े उसे उलटा-पलटा कि मस्तक हाथ में ले मैं कुर्सी में आ रहा। देखता हूँ कि रचना सचमुच एकदम शुद्ध बना दी गई है।

मैंने सम्पादक से कहा कि यह रचना मुझे ले जाने दीजिए, क्योंकि निस्सन्देह वह शुद्ध तो है, पर वह मेरी नहीं रही है। अपने से अधिक शुद्धता मेरा नाम कैसे उठा सकेगा ?

सम्पादक हंस कर बोले—"जैसी आपकी इच्छा। ले जाइए। लेकिन आपकी एक कहानी हमारी हो चुकी है। यह ले जा सकते हैं, लेकिन दूसरी देनी होगी, और कल शाम तक मिल जानी चाहिए ?"

मैंने कहा—"यह कैसे सम्भव है ?"

बोले—"तो रहने दीजिए। यह छप जाएगी।"

मैंने कहा—"इतनी शुद्ध होकर यह मेरे नाम से कैसे छप सकती है, क्योंकि मैं कहाँ उतना शुद्ध हूँ ?"

बोले—"तो कल दफ्तर के समय तक दूसरी रचना देने का वादा कीजिए।"

आप कहेंगे कि क्या वह रचना खरीद ली गई थी ? नहीं, पर पैसे के अधिकार से बड़ा प्रेम का अधिकार होता है। सम्पादक जी का, जो मालिक भी थे, मेरी उस रचना पर यही अधिकार था।

मैंने कहा—"अच्छा, कोशिश करूंगा।"

बोले—"कोशिश नहीं, वादा कीजिए। कल चार बजे तक पहुँचा देने का वादा करें तो यह ले जा सकते हैं।"

मेरी हालत दयनीय थी। लेखक को दयनीय होना ही चाहिए। उसका अधिकार केवल कर्त्तव्य है। लेकिन मैं अति परिशुद्ध अपना वह 'देश प्रेम' छपने के लिए वहाँ कैसे छोड़ सकता था ? उस 'देश प्रेम' को खासी अच्छी तरह काटा-छीला गया था। मुझे तो ऐसा लगा कि उस मरम्मत से जगह-जगह उस बेचारे 'देश प्रेम' में लहू की लाली उभर आई है।

सम्पादक जी बोले—"कहिए, वादा करते हैं ?"

अपने 'देश प्रेम' की बेहद छिली और रंदी दशा को देखते हुए नीची आंखों से मैंने कहा—"अच्छा।"

सम्पादक जी बोले—"तो खुशी से ले जाइए।"

यह सुनते ही उस 'देश प्रेम' को मोड़-माड़ कर जेब में डाल मैं तत्काल कार्यालय से बाहर आ गया।

यह लगभग शाम का समय था। गर्मियों के दिन थे। घर आया। खाना खाया। कोठरी से निकालकर खटोली खुले खंडहर पर बाहर डाली और सोचने लगा कि कल क्या करूंगा ? मन एक बोझ से दबा हुआ था और कल्पना उड़ न पाती थी। रात हुई और उसी खंडहर पर खटिया डाले ऊपर देखता मैं पड़ा रहा।

मेरे और तारों के बीच केवल शून्य था। ऐसे समय मुझे नेपोलियन का नाम सूझा। नेपोलियन क्या सफल हुआ ? क्या उसका जीवन सार्थक हुआ ? क्या वह तृप्ति लेकर गया ? क्या उसमें अपने आदर्श का देखा जा सकता है ?...क्या आदर्श को अपने से बाहर रखना होगा ?... नहीं, आदर्श को अपने से दूर, अलग, किसी दूसरे में आरोपित करने से नहीं चलेगा।...

ऐसे खयाल पर खयाल आते रहे। इन्हीं के बहाव में मन में उठा कि अच्छी बात है, एक पात्र बनाया जाए जो नेपोलियन में अपना आदर्श डालकर चले। दूसरा उसके मुकाबले में पात्र हो जो अपने आदर्श के बारे में मुखर न हो। ये दोनों फिर आपस में दूर न हों, बल्कि घनिष्ठ हों...पर सब विचार आपस में ऐसे घुले-मिले धूमिल थे कि वे थे ही, यह भी कहना कठिन है।

इस हालत में शनैः-शनैः नींद आ गई। सवेरे उठ कर निवृत्त होना था कि याद आया कि चार बजे तक कहानी पहुँचानी है। मन को झुँझलाहट हुई। उसने विद्रोह करना चाहा। पर अपने से कोई बचाव न था, क्योंकि मुझ में असली शक्ति नहीं थी। इसलिए वचनबद्धता की जकड़ मुझ से टूट न सकती थी। अतः लिखने बैठना पड़ा। उस समय रात का उठा हुआ अस्पष्ट सा विचार सूझ आया। बस, उसका सहारा थाम में लिख चला। अन्त में पाया कि 'स्पर्धा' कहानी बन गई।

वह कहानी शनैः-शनैः कैसे बनती गई और उसके उपकरण कैसे-कैसे लिखने के साथ-साथ मन में और मस्तिष्क में जुटते गए—उस विषय को यहाँ छोड़े देता हूँ, यद्यपि कहानी के अन्तरंग के निर्माण को स्वयं समझने की दृष्टि से वह विषय काफी संगत है।

खैर, कहानी हुई और उसे गुड़ी-मुड़ी कर मैंने जेब में डाला। कहानी जैसा जो स्लिप आया—लम्बा, कम लम्बा, छोटा—उसी पर लिखी गई थी। इससे वह लपेटी ही जा सकती थी, उसकी तह नहीं की जा सकती थी। उस रोज ठीक याद नहीं पड़ता कि क्यों, पर ५) की बेहद जरूरत थी। माँ से माँग नहीं सकता था। वे पांच रुपए अपने लिए नहीं, किसी और ही जरूरी बात के लिए चाहिए थे। खैर, तीसरे पहर का समय और मैं चला पैदल।

फतहपुरी पर मुझे भाई ऋषभचरण मिले। बोले—"कहाँ जा रहे हो?—ओ, यह जेब आज कैसे फूली हुई है?" और देखते-देखते जेब में की लिखे कागजों की रील उन्होंने निकाल ली।

"ओफ्फ़ोह, कहानी है! तो कहानी लिखी है? कहाँ ले जा रहे हो?"

मैंने बताया—"अमुक कार्यालय में ले जा रहा हूँ और पांच रु० की जरूरत है। सोचता हूँ कि कहूँगा कि उधार ही सही, इस कहानी पर पांच रुपए दे दें तो अहसान हो।"

ऋषभ भाई की सलाह थी कि मैं ऐसा न करूं, क्योंकि उससे कोई फायदा न होगा।

खैर, पहुँचकर कहानी की रील सम्पादक जी को दिखलाई और पांच रुपए की अपनी गरज भी जतला दी। पर सम्पादक जी, जो मालिक भी थे, लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में देना चाहते थे। बस, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे। तब तक मन पर पत्थर रखकर उन्हें अपनी असमर्थता प्रकट करनी ही पड़ेगी।

मैं नहीं जानता था कि तब ऐसी अटक मुझे क्या आ पड़ी थी। मैंने कहा कि मैं तो उधार चाहता हूँ। पर सम्पादक जी असमर्थ ही थे। उन्होंने कहा—"आप चाहें तो कहानी ले जाइए, यद्यपि देखा जाए तो कहानी हमारी हो चुकी है। पर क्या कहूँ, कहानी पर पैसा देने की स्थिति तो बिलकुल नहीं है।"

लौट आया और वह कहानी फिर शायद एकाध महीने मेरे पास ही पड़ी रही। फिर एक दिन कमर से साहस बाँध के मैंने क्या किया कि अपनी उस 'स्पर्धा' को प्रेमचन्द जी के पते पर रवाना कर दिया। साथ एक खत लिखा कि 'माधुरी'-सम्पादक को नहीं, कहानी सम्राट् प्रेमचन्द को यह भेज रहा हूँ, और छपने के लिए नहीं, बस कुछ जानने भर के लिए यह साहस बन पड़ा है।

डाक में डालकर धड़कते मन से जवाब का इन्तजार करने लगा। छः-सात दिन में छपा कार्ड आया, जिसमें लिखा था कि कहानी सधन्य-वाद वापस की जा रही है। कहानी की वापसी पर मन ने चाहे खिन्न ही होना चाहा, पर उसके 'सधन्यवाद' ने उसे पानी-पानी कर रखा। पत्र पर प्रेमचन्द जी के दस्तखत न थे।

चलो, बखेड़ा कटा। जिन्दगी की मुक्ति मौत में है और आशा की सफलता निराशा में। पर हाय राम, कागजों की सबसे पिछली स्लिप की पीठ पर फीकी सी लाल स्याही में अंग्रेजी में क्या लिखा देखता हूँ ? हो न हो, यह प्रेमचन्द के अक्षर हैं। लिखा है—प्लीज आस्क देदर दिस इज ए ट्रान्सलेशन (कृपा पूछिए यह अनुवाद है क्या ?)

कहना चाहिए कि प्रेमचन्द के परिचय का द्वार इस राह से मेरे लिए खुला। मैंने इस पर उन्हें कुछ नहीं लिखा। सिर्फ कुछ दिन बाद एक दूसरी कहानी भेज दी। 'स्पर्धा' कहानी के पात्र विदेशी थे और रंग विदेशी था। इसकी एक लाचारी ही हो गई थी। दूसरी कहानी

आसपास को लेकर थी । वस, उस 'अन्धे के भेद' से चिट्ठी-पत्री शुरू हो गई ।

यहाँ शायद आप प्रेमचन्द की कहानीकला पर कुछ कहने की मुझ से अपेक्षा रखते हैं । सचमुच मैं अधिक नहीं कह सकता । प्रेमचन्द जी को मैं कहानी की कला के विषय में वात करने तक कभी न ला सका । यों तो कोशिश भी विशेष न की, पर जव उस तरह की वात आई वह उसे टाल ही गए । पर कहानी उनके लिए निर्जीव विषय न थी । इससे उसकी टेकनीक पर रस के साथ वह चर्चा भी क्या कर सकते थे । कहानी में मानव-चरित्र और मानव-हृदय उनके लिए प्रधान था और लेखन-सम्वन्धी कला एकदम गौण थी ।

एक वार प्रेमचन्द जी ने कहा—"जैनेन्द्र, उपन्यास लिखो ।" मैंने कहा—"कैसे लिखूँ ?" बोले—"अरे घर के नाते-रिश्तेदार जो हों वस उन्हीं को लेकर लिख दो ।"

वह एक वात आज भी मुझे याद है । मैं नाते-रिश्तेदारों को लेकर नहीं लिख सका, न ही लिख पाता हूँ, यह वात विलकुल अलग है । लेकिन प्रेमचन्द जी की सलाह न सिर्फ पक्की है, वल्कि विलकुल सच्ची है । यानी प्रेमचन्द को वह सही-सही व्यक्त करती है । प्रेमचन्द जी की कला का मूल उनकी उस नसीहत में वसा है । दूर कहाँ जाना है और चरित्र को भी कहाँ से खोज कर लाना है ? आस-पास के जीवन में ही जो जीते-जागते व्यक्ति तरह-तरह के स्वभाव लेकर तरह-तरह के कर्म करते हुए जी रहे हैं, उनमें ही तुम क्या नहीं पा सकते हो ? किसी परिवार को ले लो । तीन पीढ़ियाँ तो मिल ही जाती हैं । उनके जीवन-व्यापार पर अंकित है उन तीनों पीढ़ियों का इतिहास । जीवन की गति के विकास को भी उसमें से शोधा जा सकता है । उन्हीं के संश्लिष्ट जीवन-चित्र में से नीति और दर्शन के निचोड़ को पाया जा सकता है ।

मेरा अनुमान है कि उनकी कहानियों के चौखटे आसपास के यथार्थ जीवन पर से उठाकर लिए गए हैं। उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है। उनके पात्र सामाजिक हैं। उनके चरित्र महान् इसलिए नहीं हैं कि प्रेमचन्दजी ने उन्हें महान् वनने देना नहीं चाहा है। सव-के-सव गुण-दोषों के पुंज हैं। किसी का दोष विराट, अथवा कि इतनी सघनता से काला नहीं वन पाता कि उसी में चमक आ जाए। न किसी का गुण हिमालय की भाँति शुभ्र और अलौकिक कान्ति देने वाला वन पाता है। औसत आदमी की सम्भावनाओं से परे उनके पात्र नहीं जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते हैं, पर रोमांस तक नहीं उठने देते। जैसे उन्होंने अपने को एक कर्त्तव्य से वांध लिया है और वह कर्त्तव्य उनका वर्त्तमान के प्रति है। मोक्ष से और भविष्य से उनका उतना सम्वन्ध नहीं है जितना कि मानव-समाज और उसकी आज की समस्याओं से है। वह समाज-हितैषिता से छूट नहीं सकते। यह उनकी शक्ति और यही उनकी सीमा है।

एक रोज वोले—"जैनेन्द्र, मुझ में प्रतिभा नहीं है। मैं तो प्लाड' करता हूं। महीने में दो कहानी पूरी कर दूं, तो समझूं वहुत हुआ। मुझ में वह रौ नहीं है, जिसे प्रतिभा का लक्षण माना जाय।"

इस वक्तव्य को भी उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से मैं वहुत लाक्षणिक कह सकता हूँ। वह साधनापूर्वक साहित्यकार वने थे। साहित्य उनके लिए कभी विलास का रूप न था। वह कहानी गढ़ते थे, तैयार करते थे। उसे निकाल नहीं फेंकते थे।

मैंने उन्हें उपन्यास लिखते हुए देखा है। छोटी कहानी के वारे में तो नहीं कह सकता। शायद हो कि कहानी भी एक से अधिक वैठकों में वह लिखते हों। शायद उनके उपन्यास के लिखने की पद्धति से कहानी के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता हो। उनकी रफ (अपरिष्कृत) पाण्डु-लिपियों के शुरू में अक्सर उपन्यास के कुछ परिच्छेदों का मैंने सिनॉप्सिस

(संक्षिप्त रूपरेखा) देखा है। पात्रों के नामों की फेहरिस्त कहीं-कहीं अलग लिखी मिली हैं। फिर उन पात्रों के अलग-अलग चरित्रों की कल्पना को सांगोपांग किया गया है। जैसे—

'दमयन्ती साधारण सुन्दर। शील का गर्व रखती है। कम पर तेज़ बोलने वाली। वात्सल्यमयी, पर ईर्ष्यालु'...इत्यादि।

इस प्रकार परिस्थिति से अलग और पहले पात्र की रूप-रेखा को निर्दिष्ट करके चलने में शायद प्रेमचन्दजी सुविधा देखते थे। उसी भाँति प्लाट (कथानक) का भी एक खाका बना लेते थे। यानी पूर्व-परिस्थितियों में से ही परवर्त्ती स्थिति पैदा होने दी जाए, यह नहीं; बल्कि पूर्व और पर, ये दोनों स्थितियाँ पहले से निश्चित कर ली जाती थीं। इसलिए उनकी रचनाओं में वैसी तरलता नहीं है कि पात्र हाथ न आते हों; उनकी रेखाएँ काफी उभारदार हैं।

लेकिन जैसा कि पहले कहा, प्रेमचन्दजी में एक बड़ी विशेषता थी। वह यह कि वह कोई कथा-रचना का अपने पास साँचा नहीं रखते थे, न साँचे के होने पर विश्वास रखते थे। इसलिए यदि कभी मैंने नौसिखिए की भाँति चाहा भी कि हाथ पकड़कर वह मुझे कहानी लिख चलना बताएँ तो इस दुराशा में कभी उन्होंने मेरी सहायता नहीं की। और मैं अब मानता हूँ कि इस मामले में मुझे अपने ऊपर निर्भर रहने देना और किसी तरह का आरोप मुझ पर न आने देना ही उनकी बड़ी सहायता थी।

अब मैं नहीं जानता कि मुझ से अपने लिखने के बारे में पूछा जा सकता है। पूछा ही जाए तो मैं उसका एक उत्तर नहीं दे सकता। कुछ कहानियाँ बाहर देखकर लिखी हैं, जैसे कि एक अन्धा भिखारी आया करता था। मेरी भानजी, जो अब आकर तबियत में मुझ से बुज़ुर्ग बन गई है, बोली कि मामा, इस अन्धे पर कहानी लिखो।

मैंने कहा—"अच्छा।"

कहानी शुरू होने में तो दिक्कत न थी। यानी कि मेरी जिन्दगी चल रही है, उसका अपना दायरा और अपनी व्यस्तताएँ हैं—उस दायरे को आ छूता है एक अन्धा भिखारी। चलो, यहाँ तक तो जो घटा वही लिख दिया गया। आगे क्या किया जाय ? आगे जो कुछ हो, वह कल्पना के बल पर ही किया जा सकता है। इसलिए कुछ तो कल्पना को उस अन्धे के अतीत की ओर बढ़ने दिया, और तनिक भविष्य की भी ओर। कल्पना की आँखों से मैंने देखा कि उसके दो बच्चे हैं, पत्नी भी है, और एक छोटी-सी कोठरी में रहता है, और जैसे-तैसे बच्चों का पेट पालता है। स्त्री...वह साथ नहीं है...क्योंकि बच्चों के लिए भीख की रोटी काफी नहीं होती। पेट के लिए हो भी जाय, पर पढ़ाई के लिए क्या हो ? इससे स्त्री को भी कुछ कमाई करनी चाहिए। और वह माँ-बेटों के लिए वेश्या बन जाती है। ...और हाँ, उसी ने तो पति की आँख फोड़ी है ...इससे वेश्या बनाकर अपने को नर्क में डाले, यही उसने अपने लिए दण्ड चुन लिया है। ...इत्यादि-इत्यादि। बस, इस तरह वर्तमान पर जो वह अन्धा आया था, उसको तनिक अतीत और जरा अनागत की ओर फैलाकर देखा कि कहानी हाथ आ गई। कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति से स्थित्यंतर, अर्थात् जीवन-गति होनी चाहिए। काल का कुछ स्पन्दन, कुछ तनाव अनुभव हो, वही तो कहानी का रस है। यह घटना द्वारा अनुभव कराया जाय, या चाहे तो बिना घटना के ही अनुभव करा दिया जाय। चुनांचे ऐसी भी सफल कहानियाँ हैं जिनमें खोजो तो घटना तो है नहीं, फिर भी रस भरपूर है।

ऊपर 'अन्धे का भेद' कहानी के उदाहरण में यथार्थ घटना या यथार्थपात्र से कहानी आरम्भ हुई। पर मेरे साथ अधिकांश ऐसा नहीं भी होता है। जैसे कि पहले 'स्पर्धा' का जिक्र आ चुका है। वह एकदम खयाल में से बना ली गई है। समूची कहानी जैसे इस दृष्टि के प्रतिपादन के लिए है कि आदर्श को किसी बाहरी वस्तु में डालकर और फिर उसके प्रति अपना रोमांटिक सम्बन्ध बनाकर चलना सफल नहीं होगा। वरंच

आदर्श की तो मौन एवं तत्पर आराधना ही फलदायक हो सकती है। इस धारणा से ही पात्र वन खड़े हुए और उनके घात-प्रतिघात से कुछ घटनाक्रम भी बन गया। मेरे मत से उसमें चरित्र प्रधान नहीं, बल्कि परिणाम और भाव प्रधान है।

मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार लिखी हुई कहानियों को सोद्देश्य कहना गलत होगा, या कि सही है।

कुछ कहानियाँ हैं जो मानो न वस्तु पर और न व्यक्ति पर ही लिखी गई हैं। एक बार मुझे ख्याल है कि संध्यानंतर अकेले सूने मैदान में से जाते हुए मुझे अपनी चेतना पर एक अजब तरह का दबाव अनुभव हुआ था। था कहीं कुछ नहीं, तो भी एक डर लगा। बाहर का 'न कुछ' ही जैसे जाने 'क्या कुछ' हो गया था और उसकी सीधी प्रतिक्रिया मेरे अन्तर मानस पर होती थी। मैं तेज चलने लगा था और साँस फूलने लगी थी। छाती धक्-धक् कर आई थी। वह एक ऐसा अनुभव था कि कुछ देर टिकता और अधिक तीव्र होता तो उसके नीचे जान ही सुन्न पड़ गई होती। कोरे डर से जाने कितने मर गए हैं! यह डर, जिसे कोरा कहते हैं, क्या है? वह कुछ है अवश्य। और मानो उसी का सचेतन भाव से पुनः स्पर्श पाने के लिए मैंने एक कहानी लिख दी। उसमें तो पात्र भी नहीं हैं, घटना भी नहीं है, केवल मात्र वातावरण है। उसमें प्राणी हैं तो प्रेत के मानिन्द, जिनमें देह है ही नहीं और वे निरे वहम के बने हैं। ऐसी कहानियों में सोते पेड़, बिछी घास, बहता पानी, सूना विस्तार, रुका वायु, टिका आस्मान, मटमैला अंधियारा, यही जैसे व्यक्तिगत संज्ञा धारण कर लेते हैं। ऐसे में धरती आसमान से बातें करने लगती है और जो अचर है वह भी मनुष्य की वाणी बोलने लगता है।

क्या मुझे मानना होगा कि जहाँ पेड़ और पौधे और चिड़ियाँ आदमी की बोली में बोलते हैं, वह कहानी अयथार्थ है? क्या वह एकदम

असम्भव, इसलिए एकदम व्यर्थ वस्तु है ? हो सकती है वह असम्भव और अयथार्थ। और किसी के लिए एकदम व्यर्थ भी हो सकती है। पर डर भी तो अयथार्थ ही है। पर जो डर के मारे मर तक गया है, उसकी मृत्यु ही क्या उसके निकट उस डर के अत्यन्त यथार्थ होने का प्रमाण नहीं है ?

इसलिए मैं मानता हूँ कि वातावरण-प्रधान कहानियाँ अनिष्ट और अनुपयोगी नहीं हैं। बल्कि चूँकि उनमें हाड़-माँस की देह नहीं है, इसलिए हो सकता है कि उनकी उम्र भी शायद अधिक ही हो। देह मर्त्य है, अमर आत्मा है। इससे जिसमें दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है, उन कहानियों में स्थायित्व भी अधिक होगा, ऐसा मानने को मेरा जी करता है।

तभी तो जो असम्भव की रेखा को छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत् की सम्भवता की सीमाओं से पराजित नहीं है वह कथा जाने काल के कितने स्थूल पटल को भेदती हुई शताब्दियों से अब तक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देवता और राक्षस वाली कहानियाँ, जातक की कथाएँ और ईसप की पशु-पक्षियों की वार्ताएँ फैलकर हमारे नित्य-प्रति के जीवन में घुल-मिल गई हैं। अतः यथार्थता का आवन्धन और अवलेप जिस पर जितना कम है, वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे तो मुझे अचरज न होगा।

: ४५ :

मैं और मेरी कृति

मैंने लिखा यह अनहोनी ही बात हुई। कारण, लिखना मेरे लिए कभी सहज न था, न अब सहज है। सपने में भी न सूझता था कि कभी लिखूंगा और लेखक समझा जाऊंगा। जब तक पढ़ा, लिखने से बचता ही रहा। इम्तहान अलग, यों क्लास में शायद ही कुछ लिखा हो। निबन्ध लिखने के नाम मेरा दम टूटता था। हाथ में कलम लेता कि भाषा दिमाग से उड़ जाती और काम का एक भी शब्द मेरे पास आने को तैयार न दीखता।

किताबों में बड़े-बड़े आदमियों की बातें पढ़ने को मिलतीं। पढ़ते मन उठता, फिर गिर भी जाता। पूत के पांव पालने में नज़र आ जाते हैं। यह सोचता और अपने पांव की ओर देखता। वे मैले दीखते और बे-डौल। देखता कि जिन्दगी मेरी हर-तरह नीची और मामूली है, हौसला एकदम गायब है। जिस उमर में लोग प्रख्यात हो गये हैं उसमें मेरा हाल हर तरह से बेहाल है। यहां तक कि जीना दूभर हो रहा है। इस पर मन बैठ-सा जाता था।

ऐसे में बाईस-तेईस वर्ष का हो आया। हाथ पैर से जवान, वैसे नादान। करने-धरने लायक कुछ भी नहीं। पढ़ा तो अधूरा और हर हुनर से अनजान। दुनिया तब तिलिस्म लगती, कि जिसके दरवाजे मुझ पर बन्द थे। पर जहां-तहां झरोखों से झांकी देता दीखता कि उस दुनिया में खासी ले-दे, घूमघाम और चहल-पहल मची है। इशारे से वह मुझे बुलाती मालूम होती। पर उस रंगा-रंग सैरगाह की चारदीवारी से बाहर हो कर पाता कि मैं अकेला हूं और सुनसान, सुनसान और अकेला।

समय तब, खाली और ठोस, सिर पर ऐसा खड़ा मालूम होता कि किनारा ही न हो। सूझ न पड़ता कि इसका एक-एक पल कैसे काटूँ, और अपना क्या बनाऊँ। जितना बन सकता, समय लायब्रेरी में बिताता। इधर-उधर के अखबार पढ़ता, किताबें पढ़ता, और लायब्रेरी बन्द होती तो मन मार घर आ जाता। घर भी किताब का साथ न छोड़ता। वह काम न देती तो नींद को संग लेकर समय को अपने ऊपर से गुजार डालता।

आप देख सकते हैं कि जिन्दगी ऐसे तो कोई जीई नहीं जाती। दिमाग पर कौन रह सकता है ? रहना धरती पर होता है, और सिर को धरती पर लाया नहीं जा सकता। प्रार्थना में ही वह झुकता है, नहीं तो सिर स्वभाव से आसमान की तरफ सतर तनना चाहता है। जीने के लिए कुछ ठोस, कुछ जीता-जागता चाहिये, जिससे लेन-देन और रगड़-झगड़ हो सके। इसलिए खयाल से दुनिया के साथ वास्ता नहीं बनता, और बे-वास्ते चला नहीं जाता।

उस दुनिया में निश्चय ही बहुत-कुछ हो रहा था। आन्दोलन हो रहा था, और छोटे-बड़े पैमाने पर यहाँ और वहाँ लड़ाइयाँ हो रही थीं। पर मैं अखबार में से उनको देखता और किताब में से उनको जानता था। नतीजा यह कि वहीं-का-वहीं रह कर मैं अपने में घुल और घूम रहा था।

ऐसी दशा में एक दिन अखबार में पढ़ा कि 'अवारी' गिरफ्तार हो गया है। 'ई' की मात्रा काट कर लोग जैसे उसे अवारा ही समझना चाहते थे। मैं उसका साथी रहा था। वह नहीं, तो मैं तो अवारा था ही। खबर पढ़ कर मन सुस्त हो आया। खाली मन यों ही भारी रहता था, इस खबर ने और बोझ डाला। कुछ रोज बाद पढ़ा कि उसे दो साल की सख्त सजा सुना दी गई है। यह चीज आखिरी तिनका बन उठी। उस अनुभव को शब्दों में नहीं दे सकता। उस भारी मार के तले जैसे

में रह ही न गया। पिच-दबकर मानो मैं मिट गया। एकाकिता का भान न रहा, न अपनी हीनता का। मन का त्रास ही जैसे मैं हो गया। नशा कुछ इसी को कहते होंगे। उस झोंक में पीले रद्दी कागज के टुकड़े जमा कर उन पर कुछ लकीरें काढ़ गया। होने पर पढ़ा तो लगा कि उनमें तो कुछ अर्थ और भाव भी आ गया है। यानी कुछ वह अच्छा और अपना लगा। इससे साफ कागज पर स्याही से नकल कर उन पन्नों को लेकर मैं चला श्री चतुसेरन शास्त्री की तरफ।

तब तक नशा था। चलते-चलते वह टूटा। पाँव नीचे से काँपने लगे। यह तो खैर हुई कि शास्त्रीजी घर पर नहीं मिले। चलो, जी में जी आया। नहीं तो जाने दहशत में क्या हो जाता। शास्त्री जी जैसे नामी-गरामी लेखक के घर में कदम रखते मैं पीले पत्ते-सा काँप रहा था। आखिर उनके पीछे कागज वहीं मेज पर छोड़ मैं चुपचाप चला आया। फिर तो डर के मारे तीन रोज तक नहीं गया। चौथे दिन पहुँचा तो इधर-उधर की तमाम चर्चा हुई, पर उन कागजों की बात नहीं छिड़ी। होते-होते वही बोले—जैनेन्द्र, जाने कौन मेरे यहाँ कागज छोड़ गया! जिसने लिखा है, अच्छा लिखा है।

उन्हीं दिनों मैंने शास्त्री जी की एक किताब पढ़ी थी। उसका असर सिर पर था। अचरज नहीं उस लिखत में उनकी शैली कुछ उतर आई हो। उनसे अच्छा सुना तो हिम्मत बंधी। बताया कि वह तो मेरा ही लिखा है, आपके पढ़ने के लिये छोड़ गया था। फिर कहा कि लेख अवारी को लेकर है, मध्य प्रान्त के किसी साप्ताहिक में निकल जाय तो पक्ष में लोकमत कुछ जगे। उन्होंने श्री माखनलाल चतुर्वेदी के नाम पत्र लिख कर उसे 'कर्मवीर' में छपने भेज दिया। पर वह नहीं छपा। मैं था अधीर, सो उसी रंग में दूसरा लेख लिख डाला। उसे शास्त्री जी ने शायद 'विश्वमित्र' में छपने भेजा। पर वह भी नहीं छपा। आरम्भ का यह असगुन याद रहता है। शुरू के उन दोनों

लेखों को भी याद करता हूँ कि मिलते तो उनके दर्पण में तब की अपनी तस्वीर तो देखता !

ऐसा लगता है कि वाहर का सव-कुछ आदमी के लिये तव तक वेकार है, प्रपंच है, जब तक कि वह किसी अपने में होकर मूर्त न हो जाय। अवारी के उपलक्ष से जैसे वाहर होता हुआ आन्दोलन, वहाँ का घात-प्रतिघात मुझे उपस्थित हो सका। अन्यथा वह था, लेकिन मुझे न छू रहा था। देखता हूँ कि व्यक्तियों की मार्फत ही सत्य हम तक आता या हम उस तक जा सकते हैं। व्यक्ति-निरपेक्ष हो कर जैसे वह शून्य ही हो जाता है, जिसमें अपने को खो तो सकते हैं, पा नहीं सकते।

यह सन् '२८ की वात होगी। समय उतार का था और राष्ट्रीय आन्दोलन देश में ऊंघ चला था। सन् '२१ के कई सरगर्म काम करने वाले अब पैरों तले धरती पाने की टोह में यहाँ-वहाँ फिर निकले थे। ऐसे ही एक मित्र घर आए। असहयोग में प्रतापी जन-नेता थे, उससे पहले विस्फोटक क्रान्तिकर्ता। वहुत योग्य, कई हुनर के माहिर। मगर आए तो कहते हुए कि कोई नौकरी बताओ। मासिक साठ रुपये मंजूर हो जाएँगे। साठ नहीं तो चलो पचास सही। तुम्हीं देखो पचास से कम क्या हो सकता है। आखिर दौड़-धूप का फल निकला। एक प्राइमरी की चालीस रुपये की हैडमास्टरी उन्हें हाथ आई। मैंने शायद कहा कि मित्र में प्रतिभा थी। पर प्रतिभा के पैर में चक्कर ही होता है क्या ? क्योंकि छः महीने न हुए होंगे कि वहाँ से उनकी डोर कट गई। आए मेरे यहाँ, तो देखता हूँ 'ज्योति' के चारों-पांचों अंक साथ लेते आए हैं। वहाँ चटसाल के वालकों को लेकर हजरत ने एक मासिक पत्रिका निकाल डाली थी। अपने हाथों उसे खूब सजाते संवारते थे। अस्तु, अपनी अनिवार्य भटकन में वह तो मेरे यहाँ से आगे वढ़ गये, उनकी 'ज्योति' पीछे छूट गई।

अब इसी को कहते हैं संयोग, कि जिससे जिन्दगी बनती बताई जाती है। समझदार कहते हैं कि जिन्दगी आदमी अपने आप बनाता है। ठीक-ठीक मैं कुछ जान नहीं पाता। लेकिन मैं अपने को बना सकता हूँ, या किसी तरह कुछ भी बना सका हूँ, ऐसा आश्वासन कहीं से भी मुझे नहीं मिलता है। तर्क बहुत मिल जाता है, पर उससे किसी का मुँह भले भर जाय, अन्दर का भूखा जी तो तनिक भी नहीं भरता। पर छोड़िये वह बात। सो, हुआ यह कि स्वामी (अब स्वर्गीय) आनन्द भिक्षु सरस्वती आए और जिल्द के अन्दर बन्द उस 'ज्योति' को उठा कर साथ लेते गए। अब बात यह कि मास्टरी के ज़माने में मित्र आए महीने कार्ड में तार की सतर का एक तीर तान मारा करते कि 'ज्योति' के लिये कुछ लिख भेजो। बच्चों की बात ठहरी। सो मन में दुविधा न होती। कुछ-न-कुछ लिख जाता और चला जाता। मैं न जानता था कि इस करनी में से कांटे फूटेंगे। वह करनी 'ज्योति' की उन किरणों में दर्ज थी।

आप अनुमान न कर सकेंगे तब की हालत को कि जब लायब्रेरी में बैठा 'विशाल भारत' खोलता हूँ और किसी श्री जिनेन्द्र का लेख वहाँ विराजमान पाता हूँ! समझ न आता था कि आँखों का विश्वास करूँ, या क्या? क्या लेख के ऊपर छपा बैठा जिनेन्द्र मैं ही हूँ? मैं नहीं तो कौन है वह जो मेरा ही लिखा लिख गया है? उस लेख को मैंने कई बार पढ़ा। हर बार मानना पड़ा कि है तो वही जो मुझ से भी लिखा गया था। तो क्या छपने पर भी वह है जो लिखा था! मन मानने की हिम्मत ही न करता था कि छापे में कुछ हो सकता है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में किसी भी और का नहीं, इस विचारे-से मुझ 'जिनेन्द्र' का लिखा हुआ है। मुझ पर सच गाज गिरी। यह तो पीछे पता चला कि उस गाज ने चोट देकर कुछ गिराया था, तो वह अहंकार का ही अंश था और शायद अन्दर से उसका कुछ गिरना जरूरी भी होता हो।

उस दिन के बाद से एक तरह के अचरज में और हठ में मैं जी रहा हूँ। खबर मिलती रही है कि मैं लेखक हूँ। तस्दीक भी उसकी है। यानी नाज जो खाता हूँ वह पैसे से आता है, कपड़ा पहनता हूँ, सामान जो उपयोग में लाता हूँ, सब पैसे से आता है। और पैसा लिखने के और लिखे हुए के एवज में मुझ तक आता है। यह प्रमाण अन्तिम नहीं तो क्या है? फिर आलोचक हैं, तत्त्वज्ञ हैं। उनकी बात न मानी जाय तो मानने की मर्यादा क्या रह जाय? लेकिन इस छापे के संयोग से और चाहे कुछ फर्क पड़ा हो, अन्दर किसी तरह का कोई लाभ नहीं मिला। लाभ, यानी किसी ज्ञान का लाभ—कुछ प्राप्ति जो अलग से मेरे साथ न हो, मुझ में ही रम कर खो गई हो।

ऐसा भी लगता है कि अन्दर की प्राप्ति के रूप ही बाहर का जितना जगत प्राप्त होता है उतना ही वास्तव बनता है। अन्यथा वह अलग है और वास्तव अलग है। अपने अनुभव में आने वाले सुख-दुःख के मार्ग से चल कर हम में जो नहीं उतरता वह प्रेत की तरह भ्रमता रहता है, आत्मा पाकर वह सत्त्व या सत्य नहीं बन पाता।

अन्दर की अपेक्षा में ही बाहर को मानने की लाचारी जैसे रोग की तरह शुरू से मुझ में बसी हुई है। जानता हूँ इसमें कारण मेरी शारीरिक और मानसिक कमजोरी है। लेकिन क्या कमजोरी को स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए।

'विशाल भारत' में अपना वह लेख पढ़ने की बात सन् '२८-२९ की होगी। वह चीज बच्चों का 'खेल' ही थी। 'ज्योति' में से ली हुई दूसरी कहानी 'फोटोग्राफी' छपी, जिसको बहुत हद तक एक अपने संग बीती घटना का फोटोग्राफ कह दें तो हानि नहीं। 'विशाल भारत' में गलत नाम से कुछ छपा, जिसमें नहीं जानता कारण क्या हुआ। अहिंसा की चर्चा थी और गांधी इस शब्द के पीछे होकर अनबूझ पहेली बनते जा रहे थे। उसी अहिंसा के आमने-सामने होकर जैसे मैंने पूछना चाहा

कि देवी, तुम कौन हो ? क्या हो ? माया तुम्हारी दीखती है जो बड़ी रंगीन है, पर मरीचिका न होकर क्या कुछ सत्य भी तुम में है ? यह कहानी न थी, क्योंकि उसमें कोई व्यक्ति न था। यह एक ख्याली चीज थी जो हल्की और हवाई थी, फिर भी मेरी अपनी तकलीफ से जुदा नहीं थी।

उन्हीं दिनों एक अन्धा फकीर गली में भीख मांगता फिरता था। मेरी भानजी तब एक हिन्दी के ऊँचे इम्तहान की तैयारी कर रही थी। बोली, मामा, इस अन्धे पर कहानी लिखो। सो उसी रूप में अन्धे को लिया और कल्पना से कुछ उसका अतीत रच डाला। उस अतीत में बिठा कर सामने ऐसे पेश कर दिया कि उसके आगामी भाग्य में आपकी उत्सुकता जगी रहे। यह 'अन्धे का भेद' हुआ।

उन्हीं दिनों की बात है कि लायब्रेरी में बैठा मैं एक पत्रिका पढ़ रहा था लेख में कुछ वैवाहिक नीति-अनीति की चर्चा थी। पढ़ते-पढ़ते कान में कई बार ठुक-ठुक की आवाज पड़ी जो बुरी लगी। आंख ऊपर हुई तो देखता हूं कि सामने की आलमारी पर बढ़ई ठोक-पीट कर रहा है। मैंने कहा, देखता हूं। लेकिन आंखें सचमुच देखती थीं, यह कहना मुश्किल है। आंख और उसके साथ मैं दोनों जैसे बंधे रह गये थे। कोई तीस सैकिंड इस तरह जड़ीभूत मैं बैठा रहा हूंगा फिर उठा, घर आया, कागज लिए और कहानी लिखी गई 'व्याह'। उस कहानी में एक खूब पढ़ी-लिखी खानदानी लड़की, अपनी जरा बहक में सहृदय, आई० सी० एस० अंग्रेज युवक प्रेमी को छोड़ कर एक बूढ़े बढ़ई के साथ भाग जाती और दूर सरहद में जाकर उसके अपढ़ देहाती लड़के से व्याह रचा बैठती है। इतना ही नहीं वह इस स्थिति में बड़ी मगन है और उसके प्रेमी और अभिभावक वहां पहुंचते हैं, तो आगे बढ़कर उनका ऐसा निश्छल स्वागत करती है कि उन्हें कुछ नहीं सूझता, और वे हठात उसके आनन्द में शामिल हो जाते हैं।

यह तफसील से अपनी कुछ कहानियों की बात इसलिए की कि आप देखें कि मेरा और मेरी कृति का सम्बन्ध दूरी का नहीं है। एक तरह वह सम्बन्ध अभिन्नता का है। लेकिन जो तार हम दोनों को जोड़े हुए है वह एक दम अदृश्य है। इस तरह उसे असत कहना चाहें तो कह सकते हैं। रोमांटिक होना मुझे स्वीकार है। इसमें कर्ता और कृति का सम्बन्ध आत्मीयता का ही रहता है। रोमांस का सम्बन्ध सजीव है, कृत्रिम नहीं। कोरा दिमाग का सम्बन्ध जरूर कृत्रिम हो जाता है। उसमें लेखक और उसके लेख के बीच में अनात्मीयता का फासला पड़ सकता है।

लेकिन कृति कर्ता में बन्द तो नहीं। वह कर्ता में अन्तर्भूत हो कर स्वतन्त्र भी कुछ है। इससे कृति का श्रेय कर्ता को है, यह मुझे नहीं लगता। सच तो यह है कि सोचने पर कोई कृतित्व ही मुझे अपने में नहीं प्रतीत होता। लोग कहने वाले मिलते हैं कि वह कृतित्व परिस्थिति में है। जैसे परिस्थिति अपने में भी कुछ चीज होती हो! किन्तु अपनी कृति का कर्ता मैं अपने को मानूँ तो यह भी मानना पड़ जायगा कि मेरे मरने के साथ उन्हें भी नहीं जीना है। यह मानना घोर अहंकार होगा। यानी मेरी कृति मेरी ही नहीं, जगत और जगदाधार का उसमें हाथ है। आप कहेंगे यह मैं निषिद्ध क्षेत्र में जा रहा हूँ। आपकी बात सही है और मैं उधर आगे नहीं बढ़ूँगा। कहना यही है कि कर्ता-कृति के सम्बन्ध-विषय पर शोध वैज्ञानिक रीति से होना जरूरी है।

: ४६ :

मैं और मेरी कला

'मैं और मेरी कला' इस शीर्षक पर बोलने के लिये मुझ से कहा गया तो एकाएक तो मैं चकित हुआ। इच्छा हुई कि हँसू और माफी माँग लूँ। लेकिन वैसा मैंने नहीं किया और अपनी कला पर बोलना स्वीकार कर लिया। स्वीकृति में यह तो आ ही जाता है कि मैं मानता हूँ कि मेरे पास कुछ है जिसको कला कहा जा सकता है। पर सच यह है कि वह बात झूठ है और अगर यह मौका मैंने अपनाया है तो असल में इसीलिये कि मैं कह दूँ कि जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे अपने अन्दर किसी भी कोने में कोई कला नहीं मिली है और यह भी कि मेरा उस बड़भागिन से दूर का भी रिश्ता नहीं है।

कला शब्द बहुत दिनों से और बहुत दिशाओं से सुनता आया हूँ। लेकिन अपने बारे में उस शब्द का प्रयोग पाता हूँ, तो जी बिगड़ता है। और कला से तो चलो मैं अनजान रहूँ, तो कुछ हरज नहीं; लेकिन मुझ में ही जो बताई जाती है, उस से जब अपने को अनभिज्ञ पाता हूँ तो सहना मुश्किल होता और प्रतिकार आवश्यक जान पड़ता है। मेरा निवेदन है कि मैं अपराधी नहीं हूँ! 'आई प्लीड नाट गिल्टी'।

कहानियाँ कुछ लिखी हैं और शायद उन्हीं में कहीं कला देख ली गई होगी! पर मेरी ओर से उनमें कला के नाम पर भी कुछ डाला गया है, यह सूचना लांछना है।

तो सवाल होगा कि कहानियाँ लिखना क्या कला नहीं है? क्या उसमें किसी कला की आवश्यकता नहीं है? कला न हो, तो हर लिखने वाले की हर कहानी क्यों न अच्छी उतरे? और वैसा नहीं है, तो स्पष्ट

है कि कहानी की एक विशिष्ट कला है। नहीं तो वताइये, कि अन्तर क्यों ?

इस तर्क का उत्तर मुझ से न वनेगा। एक फूल जैसा सुन्दर होता है, दूसरे फूल ठीक वैसे नहीं होते। तो क्या इस कहने में अर्थ देखा जायगा कि गुलाव (या चमेली) के पास गुलाव (या चमेली) होने की कला है ? मैं सोचता हूँ कि उस भाषा में कोई खास अर्थ नही है। गुलाव की ओर से वह एक मजवूरी भी हो सकती है। गुलाव का यह कव वश है कि वह कुछ और हो जाय। अपने स्वभाव से वाहर वह जा नहीं सकता। तो क्या अपने स्वभाव में रहने को कला कहा जायगा।

कला शब्द में ध्वनि है कि वह जैसे कोई हुनर हो। सीखा जाता हो, समझा जाता हो, उसके कुछ गुर हों और तरीका हो। चुनाचे फिर वाकायदा उस सव में कमाल हासिल किया जाता हो।

ऐसा होता हो तो मुझे पता नहीं। कम-से-कम मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ। हर कहानी के साथ मैंने अनुभव किया है कि मैं निपट नया हूँ। पहिले लिखी जा चुकी कहानियाँ उस वक्त काम आने से साफ वच गईं, ऐसा कभी मालूम नहीं हुआ ! आज भी कहानी लिखूँ तो उसी झिझक और द्विविधा का वोध होगा जो पहली कहानी लिखते समय हुआ था। लिखना मेरे लिये ऐसा चलना है जहाँ आगे राह नहीं है।

इससे मुझे ख्याल होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि कहानी कला या शिल्प हो ही नहीं, वल्कि सृष्टि हो। हर शिशु अपना वनाव और अपना स्वभाव लेकर जनमता है। दो प्राणी कभी एक से हो नहीं सकते। कारण, वे सृष्ट होते हैं, वनते नहीं हैं। एक माता-पिता की सन्तति समान नहीं हो पाती। क्योंकि सृष्टि माता-पिता की कृति नहीं है. केवल उनके द्वारा हुई अनन्य की अभिव्यक्ति है। यहाँ कला का प्रश्न नहीं है, यहाँ का रहस्य शायद दूसरा है। प्रत्येक सृष्टि पृथक गर्भ का

फल है। यानी अपना पृथक आनन्द, पृथक वेदना। एक फार्मूले और एक युक्ति में से जब जितनी चाहें एक नमूने की वस्तु निकाली जा सकती हैं और इस काम में शायद कुछ हुनर भी दरकार हो। पर कहानी लिखने में ठीक वैसा सुभीता होता है, यह मेरा अनुभव नहीं है।

दिमाग में नाम और नक्शे जमा लिये जायें और अमुक सिद्धान्त-ध्यान में रख लिये जायें, तो उन की मदद से साफ सुथरी कहानी क्यों नहीं उतर आनी चाहिए ? इसका जवाब मेरे पास नहीं है। शायद सधी और सही तराश की चीज यों उतर भी आये। लेकिन फिर उस में जाव कहां से आयेगी ? जान, जो कहानी को धड़कन देती है, जो खुद जीती और दूसरे को जिलाती है। वह चीज भी क्या किसी हुनर या कला में से आ सकती होगी ?

और अपने अनुभव से मुझे जान पड़ता है कि कहानी में ध्रुव वस्तु वह जान है। अपने प्राणों के सिवाय कहीं और से वह चीज़ रचना में नहीं पहुँच सकती। भीतर प्राण हो, तब ऊपर रूप-सौन्दर्य की झलक का हो आना भी दुर्लभ नहीं रहता। असल में रूप-सौन्दर्य की प्राण से स्वतन्त्र स्थिति ही नहीं है। आकार-प्रकार की लाख साधन-सज्जा प्राण के अभाव में कहानी को चेता नहीं सकती। वह बल्कि तब उल्टे व्यंग्य और विडम्बना बन जाती है।

शिल्प अनावश्यक नहीं है। कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नहीं समझा जा सकता। लेकिन उससे किनारे बनते हैं, नदी का पानी नहीं बनता। वस्तु और व्यक्ति जड़ और चेतन में यही अन्तर है। कहानी का क्षेत्र वस्तु से अधिक व्यक्ति का और स्थिति से अधिक गति का है। पदार्थ को जैसे गणित के सूत्रों से साव-बांध सकते हैं, ऋण या गुणित कर सकते हैं, सचेतन प्राणियों के साथ वैसा नहीं कर सकते। उनका गणित हो तो दूसरा है। उसके नियम अपने को बाद देकर घटाने से घटते ही नहीं हैं। असल में वास्तविक से अधिक वे हार्दिक होते हैं।

वे सहृदयता के हैं, इसलिए विज्ञान के नहीं हैं। अर्थात्, कहानी मे क्योंकि जीवित व्यक्तियों की अवतारणा है इससे शायद उसकी कला भी जीवन की कला से अलग या भिन्न नहीं होती है। और जीवन की कला जानने में नहीं, वल्कि होने में है। वर्तन से अलग उसके ज्ञान का कुछ अर्थ ही नहीं।

यहाँ मुझे अपने शुरू दिनों की याद आती है। तब जीना मेरे लिये दूभर था और मैं अपने आप को भारी था। लिखने की तो तब सोच भी नहीं सकता था। लिखना तो जीने की आवश्यकता में से जैसे उग वैठा। उस समय जो लिखा गया वह अपने को लेकर। मैं समझता हूँ कि अगर वह दूसरे को कुछ भी प्रिय हो तो उसका कारण यही रहा होगा कि मेरी अपनी निरीहता रचना में यत्किंचित फूट आई होगी।

यहीं सब से वड़ी उलझन है। आदमी अपने को दे तो कैसे दे? सचाई तो नाम और शब्द में आती नहीं। ज्यों की त्यों वात कही नहीं जा सकती। प्रथम तो घटना ज्यों की त्यों पकड़ में नहीं आती। फिर उसको सर्वथा अपनी वेतैयार हालत में प्रकट कर देने से दूसरी दिक्कतें पैदा हो सकती हैं। यहाँ पर जैसे छल की आवश्यकता होती है। उसी को कहिये तो कला कह लीजिये—कला इसलिए कि उस छल में कोई दोष नहीं है। सत्य के आविष्करण में वह छल सहायक होता है, इस से वह स्वयं सत्य वनता है। वास्तव में देश-काल के चौखटे में से देखी-भोगी गई घटनाएँ अपने आप में सत्य हैं भी तो नहीं। वे तो अनित्य हैं, क्षणिक हैं। इससे उन में फेरफार कर देने से सत्य की क्षति नहीं होती है।

मेरी पहली उपन्यास-पुस्तक है "परख" और उसकी नायिका का नाम है "कट्टो"। यह तो सही है कि उस पुस्तक में भावोद्रेक के क्षण हैं तो वह अनभूति में से ही आये होंगे। लेकिन क्या यह आवश्यक

कहा जायगा कि नायिका का नाम 'कट्टो' न होकर वह होता जो यथार्थ में था। यथार्थ को ओट में रखकर काल्पनिक कट्टो को समक्ष करने में सत्य का कोई अपलाप नहीं देखता हूँ। फिर भी यथानाम और यथातथ्य तो वह है नहीं। इसीलिए शायद उसे कला कहा जाता हो तो मैं समझ सकता हूँ। नामधाम जहाँ केवलमात्र उपलक्ष रह जायँ जहाँ उन की पृथक प्रतीति ही मानो विस्मृत हो जाय, और अपने ही मनोराग पुस्तक के पट पर चित्र-लेख से प्रत्यक्ष हो जायँ, वहाँ कहा जा सकता है कि रचनाकार का छल एक कौशल है और इस माया-सृष्टि द्वारा सत्य की किंचित साधना और सेवा ही होती है।

तो जिसको कहते हैं सचाई, वह इस कला की पहिली आवश्यक शर्त हो जाती है। सचाई बाहर के प्रति नहीं, क्योंकि बाहर तो सिर्फ अक्स है और वह प्रतिक्षण बदल रहा है। इसलिए उस बाह्य यथार्थ के साथ तो मनचाही स्वतन्त्रता लेने में कला के लिये कोई बाधा नहीं है। वह तो प्रकृत में यथार्थ को रूप में चित्रित और वस्तु में जड़ित देखने की सुविधा करने वाली वास्तविकता है। कोई आवश्यक नहीं कि आपकी प्रेयसी की आँखें हरिणी की तरह कनपटी पर हों, सामने न हों। फिर भी पुस्तक में बड़ी आसानी से वह मृगलोचनी बन आती है। सोलह वर्ष की उम्र में आठवीं कक्षा में फेल होकर मास्टर की कमची और माँ-बाप के झिड़की खाने वाली लड़की किसी कवि की आँखों में अप्सरा बन झूमें तो इसमें तनिक भी दोष नहीं है। सत्य की साधना में ही यथार्थ को स्वप्न की ओर उठना होता है।

जगत ऋणी है तो उस कल्पना और उस पुरुषार्थ का जो उस को अपनी ऐंद्रियिक प्रतीति से उत्तीर्ण करके सत्यानुभूत संकल्प की ओर उठाती और इस प्रकार उसे परिपूर्णता प्रदान करती है।

'परख' पुस्तक के सत्यधन, बिहारी, कट्टो और गरिमा ऐसे यथार्थ में से आकर भी उस यथार्थ का यथाशक्य परिहार करके बने हैं। ठीक

उतने ही अंश में वह कला-सृष्टि अथवा कलाकृति कहे जा सकते हैं। कला है तो सिर्फ इसमें कि वह झूठ-मूठ होकर भी आपका स्वयं, सच-मुच और अपने जान पड़ें। मूल में झूठ होकर वे सच्चे प्रतीत नहीं हो सकते। सच्चे प्रतीत होंगे तो लेखक के भीतर की सचाई के जोर से। बाहर से उतार कर ली जाने वाली कोई यथार्थता चरित्र की सच्ची प्रतीति पाठक को नहीं पहुँचा सकती।

प्रश्न होगा कि लेखक के लिये आवश्यक यह सचाई क्या है? सोचता हूँ तो उसके दो रहस्य हाथ लगते हैं। एक अपने प्रति आत्यन्तिक निर्ममता, दूसरा, शेष के प्रति आत्यन्तिक सहृदयता।

अपनी तरफ की ईमानदारी हमें लाचार करेगी कि दोष हमें अपने ही दीखें और दूसरे के गुण ही दीख सकें। रचना आलोचना-परायण न होकर, प्रीतिपरायण हो। अपने मत अथवा रुचि-अरुचि के साथ चिपकने का अवकाश वहाँ कम रहेगा। प्रचार की आकांक्षा शून्य हो जायगी। अहंता के दर्प की जगह व्यथा का भार होगा जो प्रेरणा बनेगा।

दूसरों की मानरक्षा, उनके प्रति सम्पूर्ण क्षमा और करुणा, एवं अपना विसर्जन, यानी कठोर से कठोर अपना विश्लेषण और आलोचन। ईमानदारी हम से हमारी महत्वाकांक्षाओं को हर लेगी और हमारी निरीहता को उजागर कर देगी।

कला यदि कुछ होती है तो मेरे लेखे लगभग वह इस एक सूत्र में समा जाती है कि अपने प्रति कलाकार सच्चा रहे। इस प्रयत्न में बाहर के प्रति सच्चा रहना असम्भव और सहज अनावश्यक होता जायगा। अतः उस बाहर के प्रति विनयशील और स्नेहशील रह कर ही कलाकार का धर्म पूरा हो जाना चाहिए। संसार पकड़ में नहीं आता, इससे उसको पकड़ने का मोह ही वृथा है। कला उस मोह में पड़ कर केवल फैशन

और आडम्बर में भटकती है। अपनी सार्थकता ऐसे वह नहीं प्राप्त कर सकती।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं अपने लिखने में स्वैराचार के दोष से मुक्त नहीं हूँ। जो शब्द आया मैंने स्वीकार किया है और वाक्य जैसा बना बनने दिया है। प्रेमचन्द जी ने एक बार मुझे कहा था—"जैनेन्द्र, हिन्दी में तो चलो, तुम जो चाहो लिख दो। साँझ लिखो, कि संझा लिख दो। पर यह मनमानी तुम्हारी उर्दू में नहीं चल सकती।" मैं उर्दू की बात नहीं जानता। लेकिन वह भाषा दरिद्र है जो जिन्दगी का साथ देने के बजाय उस पर सवारी कसती है। जो हो, अपने अज्ञान को अपने से उतार कर मैं अलग नहीं रख सका हूँ। सदा उसे साथ रख कर मुझे चलना पड़ा है। इसमें कला बनी है कि बिगड़ी है, मुझे ज्ञात नहीं। लेकिन ईमानदारी यदि आत्मा के प्रति होगी तो देखता हूँ कि किसी भी दूसरी वेदी पर, शास्त्र पर या देवता पर, उसका अर्घ्य नहीं चढ़ सकता है।

तब जो कुछ मेरे पास रहा है—बाहर का दीखना, बुद्धि का विचारना और मन का चाहना—सब-कुछ घुल-मिल गया है और किसी एक अनुभूति के कण के चारों ओर जुड़ कर वह कहानी की रचना कर देता रहा है।

काफी पहिले की बात है। मेरा विवाह नया ही हुआ था। घर पर एक अंधा भिखारी चला आया करता था। वह आया, सब ने उसका तमाशा बनाया और अच्छा दृश्य जान मुझे भी वहाँ बुलाया गया। काम के अभाव में मैं तब हराम में और आराम में रहता था। चलो, खासा मनोविनोद हुआ, रूखा-सूखा कुछ उसे दे डाला गया, और अंधा चला गया। उसके चले जाने पर विदुषी में पढ़ने वाली मेरी भानजी ने कहा—"मामा! इस अन्धे पर कहानी लिखो—"

अंधे की कहानी जो बनी उसमें खासा गुस्सा मैंने अपने ऊपर उतार लिया। वेश्या को मेरा मन उतना बुरा न कहता था, जितना अपने को कहना चाहता था। न उस अंधे भिखारी को निम्न मानने की मुझे हिम्मत होती थी। यह है मेरे अन्दर के मन की बात। क्योंकि यों तो मेरे घर से बासी-से-बासी टुकड़ा और फटे-से-फटा चीथड़ा ही उस अंधे पर फेंका गया था और मैं बाधा में कुछ नहीं बोला था। यह भी सच है कि वेश्या, मुझ सामाजिक व्यक्ति से, प्रकट रूप में असम्मान के सिवाय कुछ नहीं पा सकती। लेकिन कहानी बेकार है और सारा साहित्य बेकार है, अगर मन को यहाँ की पिटारी में बन्द रहना पड़े। साहित्य में अवश्य ही उस मन की क्रीड़ा को अवकाश है उसको निमंत्रण है, कि जो बाहर की सधी-बंधी जिन्दगी में खुल नहीं पाता है। उस कल्पना-क्रीड़ा के पीछे अवश्य ईमानदारी की वृत्ति, जो सदा विधायक होती है, होनी चाहिये।

और भी दूसरी जगह अपने लिखने में मैंने यही किया है। दीखे या भुगते तत्त्व को लिया है, अपनी भावना का उसे मेल दिया है और कल्पना से गढ़कर फिर सब को ऐसे प्रस्तुत कर दिया है कि जिज्ञासा खुले और सहानुभूति फैले। ऐसे आदमी व्यवहार की दीवारों से बाहर आकर खुली हवा पाता और परिणाम में स्वास्थ्य का लाभ करता है।

कहानी का इसमें कैसे तो आदि होता, कैसे कथावस्तु का निर्वाह और परिपाक हो जाता और फिर किस प्रकार समाहर हुआ करता है, इस सम्बन्ध में कोई नियम मेरे पास नहीं रहा है। इतना ही जानता हूं कि मैंने मन-बुद्धि को अपने पास रोका नहीं है और भीतर में से प्राप्त उद्भावना के साथ अपने को चलने दिया है।

: ४७ :

साहित्य और धर्म

प्रश्न—साहित्य में धर्म का क्या स्थान है ?

उत्तर—'साहित्य में धर्म का क्या स्थान है?' के स्थान पर प्रश्न यों कर दिया जाय कि 'धर्म में साहित्य का क्या स्थान है ?' तो मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़े। हम सब को, जो भी है उस सभी कुछ को, जो धारण किये हुए है, वह अतीन्द्रिय तत्त्व है—धर्म। साहित्य मानव की उन अनुभूतियों का संग्रह है जो शब्दों में, भाषा में, व्यक्त हुई हैं। मैं समझता हूँ धर्म से आपका तात्पर्य किसी मत-वाद से नहीं है—जैसे हिन्दू धर्म, बौद्ध-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि। ऐसे मत-वादों से साहित्य का सम्बन्ध बेशक नहीं है। पर मूलभूत धर्म को तो साहित्य पोषण ही देता है।

प्रश्न—अच्छा तो हिन्दू-धर्म में साहित्य कौन-सा साहित्य है ?

उत्तर—इस प्रश्न का ठीक-ठीक आशय मैं नहीं पकड़ सका। हिन्दू लोग जिन्हें आगम-प्रमाण मानते हैं ऐसे ग्रन्थ उनका पहला साहित्य हैं। फिर कुछ वह ग्रन्थ आते हैं जिनमें व्यावहारिक जीवन के नियमन के लिये विधि-निषेधों का प्रतिपादन है। वे हैं आचार-ग्रन्थ। उन से उतर कर तरह-तरह के ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ हैं। क्या आप यह चाहते हैं कि उन सबके नाम गिनाये जायें? मेरे खयाल में इतना जान लेना काफी है कि एक हिन्दू, यहाँ हिन्दू होने से भी पहले आदमी है। इससे हिन्दू-समाज के जीवन में विविध प्रकार का वैसा सब साहित्य मिलेगा जैसा इतर जन-समाजों के जीवन में मिलता है। अत्यन्त गम्भीर और प्राथमिक तत्त्वों की जिसमें गवेषणा होती है वह साहित्य धार्मिक हो जाता है। उसकी अवस्था भी अधिक होती है, उसमें स्थायित्व भी अधिक होता है। इससे उतर कर केवल मनोरंजन और व्यसन का साहित्य भी होता है। मनुष्य की उत्तरोत्तर

उच्च वृत्तियों को जो जितनी ही स्फूर्ति दे, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। वह श्रेष्ठता एक विशेष स्थल पर आकर धार्मिक हो ही जाती है।

प्रश्न—क्या इन मत-वादों का साहित्य भी कोई अलग होता है ?

उत्तर—हां, होता ही है। सत्य यद्यपि एक है, पर हमारी बुद्धियां अलग-अलग हैं। मनुष्य काल-परिमाण से घिरा है। इससे वह सत्य का आंशिक आकलन ही कर पाता है। परिस्थितियों के अनुसार उस आकलन के रूपों में भी विभिन्नता होती है। यही धर्मों की अनेकता का कारण है। ऐसा भी लगेगा कि उनमें विरोध भी कहीं-कहीं है। पर विरोध असल आत्मा का नहीं है। वह दीखने-भर का है। गहराई में जाकर तो सबके प्राणों में करुणा ही है।

प्रश्न—किसी एक सम्प्रदाय को उत्तेजना देने वाले साहित्य को आप क्या कहेंगे ?

उत्तर—मेरा जी होता है कि मैं उसे साहित्य ही न कहूं। पर मैं डिक्टेटर तो हूँ नहीं। एक और भी बात है। दुर्बल प्रकृतियों को उत्तेजना चाहिए ही चाहिए। उनमें जागृति होती है तो वासना को लेकर। अन्यथा जड़ता ही उन पर छाई रहती है। तमाशा तो आज यही है कि अच्छे-अच्छे सिद्धान्तों के नाम पर बुरे आदमी बुरे बनने का मौका पा लेते हैं। आप तो जानते हैं कि धर्म के नाम पर कितनी लड़ाइयां लड़ी गई हैं। आमने-सामने दो भाई एक दूसरे का गला काटने को चलते हैं और उनमें से एक आदमी जोर से चिल्लाता है 'परमेश्वर' और दूसरा चिल्लाता है, 'अल्ला हो-अकबर'। 'अल्लाह' और 'परमात्मा' क्या दो हैं ? पर ये दोनों आदमी एक ही ईश्वर को याद करते हुए, एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। इस आदमी के मन के पागलपन को देखकर हम को अधीर नहीं हो जाना होगा। आदमी की लड़ाई में परमात्मा का कसूर नहीं है। परमात्मा शब्द डिक्शनरी (कोष) में से

मिटा दीजियेगा तो लड़ाई मिट जायगी, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। मनुष्य के मन में लड़ाई की जड़ जहाँ है वहाँ परमात्मा तो है ही नहीं। वहाँ तो मनुष्य की ही क्षुद्रता है। उस क्षुद्रता की जड़ें जब तक वहाँ से नहीं उखड़ेंगी, तब तक अच्छे शब्द बुरे काम में आते रहेंगे। सम्प्रदायान्धों को अच्छे धार्मिक ग्रन्थों में से भी उत्तेजना का मसाला प्राप्त हो जाता है, यह मैं जानता हूँ। इसीलिए मैंने ऊपर की बातें कहीं। जो संकीर्ण साम्प्रदायिकता को भड़काता है और जो उसका शिकार होता है उन दोनों के मनों से बद्ध-मूल क्षुद्रता उखड़ गई है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। धार्मिक-साहित्य का जन्म क्षुद्रता में से नहीं होता है। वह तो प्रेम के उत्स में से ही खिलता है। मेरी चले तो मानसिक संकीर्णता का विष फैलाने वाली पुस्तकों का प्रचार ही मैं निषिद्ध ठहरा दूँ। उनसे समाज का बड़ा अकल्याण होता है।

प्रश्न—मुगल-काल में राजपूतों को उत्साह दिलाने के लिए उस समय के कवियों ने जो साहित्य रचा, वह भी क्या आप की ऊपर कही गई व्याख्या में आ जाता है।

उत्तर—इस प्रश्न में एक भूल मालूम होती है। उपयोगिता की दृष्टि से आपके लिए उपयोगी वस्तु वही हो सकती है, जो कल या परसों अनुपयोगी हो जाय। जिसमें अनुपयोगी होने का सामर्थ्य नही वह वस्तु उपयोगी ही नहीं। जिसने शूरता और बलिदान का ओज-दान किया वह साहित्य निर्जीव नहीं रहा होगा। उस की सजीवता असंदिग्ध है। किन्तु यदि उसके साथ यह भी मिलता हो कि यवन को मारो और आज उस यवन शब्द की ध्वनि में एक विशिष्ट जाति का बोध समाविष्ट रहता है तो कहना होगा कि वह अंश ग़लत है। आज वह ओज-संचारी भी नहीं हो सकता। अमुक को विरोध में रखकर यदि हम अपने भीतर शक्ति पाते हैं, तो वह शक्ति नहीं है, वैर है। साहित्य प्रेमोत्सर्ग की शक्ति देता है। द्वेष और घृणा की शक्ति

देने वाला उतने ही अंश में असाहित्य है । तब की परिस्थितियों में विशिष्ट रूप से उपयोगी पड़ने वाले साहित्य का हक है कि वह आज के लिए अनुपयोगी हो जाय । उस ज़माने का बहुत-सा साहित्य हमारे बढ़ते हुए जीवन का अब भी साथ नहीं दे पा रहा है और छूटता जा रहा है ।

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब यह है कि उस समय के साहित्य को निकाल दिया जाय ? यदि यही मतलब हो तो भूषणादि कवियों की बहुत-सी कविताएँ निकल जायँगी ।

उत्तर—यह मतलब कैसे हो सकता है कि एक जादू से सबको साफ कर दिया जाय । हाँ, यह तो ठीक ही है कि पुराना सब-कुछ जीवन की गति के साथ-साथ निभ नहीं सकता । निकाल देने की बात तो शासन-प्राप्त लोग करें । मैं तो यही कहने योग्य हूँ कि जो लेने और पाने योग्य है उसको लेने और पाने में, जो छूटने योग्य है वह स्वयमेव छूट जायगा। आज अगर हिन्दी में भी भूषण से अधिक रवीन्द्र पढ़े जाते हैं तो क्या मैं इसको भूषण का अपमान समझूँ ? दिन आ सकता है कि रवीन्द्र भी एक दिन न पढ़े जायें । लेकिन इन बातों में मानापमान का प्रश्न ही कहाँ से उठता है ? यदि आज, आज ही रात के बारह बजे खत्म हो जायगा, कल के दिन बिलकुल शेष न रहेगा, तो क्या किसी प्रकार भी यह इस 'आज' की अवगणना है ? ऐसा नहीं है । 'आज' का तो अर्थ ही यह है कि वह कल न रहेगा और यह उस 'आज' को भी मालूम होना चाहिए । उसके पक्ष में यह दावा पेश करना कि नहीं, इस आज के 'आज' को हम तो सनातन तत्त्व की भांति सदा कायम रखेंगे—यह दावा पहले से ही अपने आप में हारा हुआ है । भूषण आदि के ग्रन्थ मैंने समीक्षा-बुद्धिपूर्वक नहीं देखे हैं । वस्तुतः देखे ही नहीं हैं । बस, जहाँ-तहाँ कुछ देखा है । उनके किस अंश को रखकर किस अंश को अपने साथ से छूटने देना है, यह तो किसी हिन्दी के ज्ञाता विद्वान से पूछने की बात है ।

प्रश्न—तो आप शायद शिवा-बावनी को उड़ा देने के पक्ष में हैं ?

उत्तर—मैंने कहा न, इस बारे में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूं। मोह-पूर्वक न मुझे कुछ रखना है न निकालना है। इस प्रश्न का निर्णय निर्मोही वृत्ति से जो हो, कर लेना चाहिए।

स्थायी और उच्च साहित्य

प्रश्न—आदमी क्यों लिखता है ?

उत्तर—मैं अपने भीतर देखूँ कि आदमी क्यों लिखता है। अगर वह एक हो, अकेला हो, कोई भी और कुछ भी दूसरा न हो, तो क्या वह लिखेगा ? ऐसी हालत में मेरे ख्याल में लिखना तो क्या, और किसी भी प्रकार के मानवी व्यापार की कल्पना नहीं हो सकती। मनुष्य जीता है, खाता-पीता, हँसता-बोलता, पढ़ता-लिखता है तो तभी जब कइयों के बीच में वह एक है।

मानवी व्यापार एक से दूसरे का आदान-प्रदान सम्भव बनाने के लिए सृष्ट होते हैं। मानव अपने आप में समाप्त नहीं है। वह सबका अंश है। वह सब है। सब हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं। मुक्ति बिना तृप्ति नहीं। उसी तृप्ति की राह में लिखना भी आता है। 'स्व' अपने को नाना सम्बन्धों द्वारा 'पर' से जुड़ा हुआ पाता है। इन सम्बन्धों की अपेक्षा उसमें नाना भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। भावनाएँ उसके भीतर समाती नहीं, वे फूटने के लिए बेचैन होती हैं। न फूटने दें तो वे हमें ग्रस्त कर छोड़ती हैं। वे हमें प्रभावित किये बिना तो रहती नहीं। व्यक्त वे होंगी और होकर रहेंगी। कृत्य में व्यक्त होंगी, वाणी में होंगी, नहीं तो शरीर में ही आधि-व्याधि के रूप में फूट बैठेंगी। इनका अतिरेक सह्य नहीं होता। जो उन्हें सम्पूर्णता से झेलकर आत्म-निष्ठ होता है, वह योगी है। योगी में भी भावनाएँ मरती हों, सो नहीं, वे आत्मा में रम जाती हैं। वैसा सन्त योगी साहित्यातीत अर्थात् द्वन्द्वातीत है। पर योगी की उस अवस्था के नीचे जब उन भावनाओं का व्यक्ती-

करण शब्दों में अंकित होता है, तब हम कहते हैं, साहित्य रचा गया। मनुष्य अपने को मुक्त करने के लिये और दूसरे में अपना दान करने के लिये लिखता है।

प्रश्न—क्या जो लिखा जाता है वह सब साहित्य है ?

उत्तर—नहीं, सब साहित्य नहीं है। मनुष्य विचित्र प्राणी है। न जाने कितनी साधना से उसने स्वर पाया। फिर न जाने कितनी मुद्दत बाद उसने भाषा पाई, शब्द पाये। फिर बड़े परिश्रम से उन शब्दों को अक्षरों में बाँधने की पद्धति का आविष्कार किया। जब यह हो गया, तब वह धीमे-धीमे भाषा का महत्त्व भूलने लगा। जो आत्म-दान का साधन था, वह आत्म-वंचना का वाहन बना। व्यक्ति उसमें भावना से अधिक अपना अहंकार गुंजारने लगा। जहाँ यह है, वहाँ भाषा का व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है। वह साहित्य नहीं है।

जो हमारे भीतर की अथवा किसी के भीतर की रुद्ध वेदना को पिंजरबद्ध भावनाओं को, रूप देकर आकाश के प्रकाश में मुक्त नहीं करता है, जिसमें अपने 'स्व' का सेवन है और दान नहीं है, वह भी साहित्य नहीं है।

साहित्य का लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहंकार का उत्सर्ग है। इससे साहित्य का लक्षण ही उत्सर्ग है।

प्रश्न—लेकिन स्थायी साहित्य कौन-सा ? उच्च साहित्य कौन सा ?

उत्तर—स्थायी साहित्य वह जिसमें मानव की अधिक स्थायी वृत्तियों का समर्पण हो। जिसमें जितना ही रूप का दान है, शरीर-सौन्दर्य का दान है, उस का आनन्द उतना ही अल्प स्थायी है। ऐन्द्रिकता की अपीलवाला साहित्य क्षणस्थायी है।

हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व-स्व का उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग है,

जहाँ सर्वस्व-समर्पण है, वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। उसी तत्त्व के माप से हम लोग मरणशील अथवा अमर इन संज्ञाओं से साहित्य का विवेक किया करते हैं।

इसी प्रकार जहाँ हमारे जितने ऊँचे अंश का उत्सर्ग है, वहाँ साहित्य में उतनी ही उच्चता है।

प्रश्न—क्या साहित्य समयानुसार बदलता रहता है।

उत्तर—साहित्य का रूप तो समयानुसार बदलेगा ही, पर उसकी आत्मा वही एक और चिरन्तन है। मानवीय सब कुछ बदलता है। पर मरणशील मानवों के बीच में एक अमर सत्य भी है। क्षण-क्षण जैसे एक निरन्तरता है, वैसे ही खण्ड-खण्ड में एक अखण्डता है। उसी निरंतरता की अभिव्यक्ति क्षणों में होती है। क्षण स्वयं तो क्षणजीवी ही हैं, पर वे क्षणातीत को भी धारण कर रहे हैं। यही बात साहित्य के मामले में भी समझनी चाहिए। उसका सब कुछ बदलेगा, वह हर घड़ी बदल रहा है, पर उसका तत्त्व अपरिवर्तनीय है।

प्रश्न—यहाँ आप का रूप से क्या मतलब है? क्या रूप का मतलब साहित्य के बाह्य कलेवर से है?

उत्तर—हाँ, रूप से मेरा वही भावार्थ है। उस में भाषा, शैली, मुहावरे, व्यञ्जना के और साधन, सब आ जाते हैं। इधर एक नई चीज़ पैदा की जा रही है, जिसको कहते हैं 'टेकनीक'। वह आत्मा से तोड़कर साहित्य को नियमित शास्त्र का रूप देना चाहती है। उसको भी मैं साहित्य के परिवर्तनीय रूपों में गिनता हूँ।

प्रश्न—साहित्य का तो शायद आत्मा से सम्बन्ध है और रहना ही चाहिए, फिर यह 'टेकनीक' का साहित्य से आत्मा को अलग करना ठीक है?

उत्तर—इसको समझने के लिए आप अपने को लीजिए। आपका

आत्मा से सम्बन्ध है या नहीं ? और आप शरीर में भी हैं या नहीं ? अब अगर मैं यह कहूँ कि जितने अधिक आप आत्मा हैं और जितने अधिक उस आत्मा के अविरुद्ध आप का शरीर है उतने ही अधिक आप महान् हैं—तो क्या ऐसा कहने में कुछ अयथार्थ होगा ? इस जगत में कुछ प्राणी हैं जो सिर के बालों को तरह-तरह के लच्छों में काढ़ते हैं, अंगोपांगों को प्रकार-प्रकार से सुसज्जित रखते हैं और शरीर को आभूषित रखने में पर्याप्त चिन्ता व्यय करते हैं। उस शरीर-सज्जा का योग लगभग आत्मा से होता ही नहीं। मैं उसको क्या कहूँ ? क्या मैं यह न कहूँ कि उस साज-सज्जा में जीवन की शुद्ध कला अभिव्यक्त नहीं होती। वहाँ जो है वह कुछ नकली-सा है। साहित्य में भी ऐसा हो सकता और हुआ करता है। मूल भाव के प्रति अपेक्षाकृत उदासीन होकर हम उस के अंगोपांगों की परिसज्जा में लुभा पड़ेंगे तो हम साहित्य के नाम पर ठेठ असाहित्यिक हो चलेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। देखिये न आज, नायिका-भेद की चर्चा में कहाँ तक औचित्य रह गया है ! वह क्या व्यसन की हदतक नहीं पहुँच गई थी ?

साहित्य को एक शास्त्र अथवा एक विद्या बनाना इस खतरे से खाली नहीं है। आजकल स्पेशलाइज़ेशन की (विशेषीकरण की) प्रवृत्ति बहुत है। हर-बात का एक अलग शास्त्र है। इस से फायदा तो होता है। आविष्कारों की सूझ इसी पद्धति से हाथ आती है। लेकिन जब कि पदार्थ-ज्ञान को इस तरह भेद-विभेदों में विभक्त करके देखने में कुछ लाभ भी है, तब यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वास्तव जीवन में वैसे खण्ड हैं नहीं। जीवन एक समूचा तत्त्व है। साहित्य के हर विभाग में साहित्यकता उतने ही अंश में है, जहाँ तक कि उसमें जीवन-स्पन्दन है। विज्ञान के नाना शास्त्रों की भाँति साहित्य को भी विविध शास्त्रों में विभक्त करके चलना बहुत सही बात नहीं है।

यों हर ज्ञान को विज्ञान का रूप देने से उस ज्ञान के सम्बन्ध में

मानव का अधिकार, उस पर मनुष्य का प्रभुत्व, बढ़ जाता है और इसमें कोई हरज भी नहीं है। यह प्रक्रिया अनिवार्य भी है। लेकिन जब वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण समझ ली जाती है तब पाखण्ड हो जाती है।

शरीर की एक-एक हड्डी को जोड़कर उन का इकट्ठा ढांचा खड़ा कर देने से मनुष्य नहीं बन जायगा। इस तरह जो चीज़ बनेगी वह ठठरी ही होगी। मनुष्य में जो धधकते हुए प्राण होते हैं—मनुष्य का असली लक्षण तो वह हैं। ऐसे ही शिल्प-कौशल की विद्वत्ता अपने आप में साहित्यिकता नहीं हो सकती। यदि विद्वान के भीतर सहानुभूति से भरा सा आता हुआ हृदय नहीं है तो वह विद्वत्ता साहित्य की दृष्टि से कुछ बेजान सी चीज़ है।

'टेकनीक' उस ढांचे के नियमों का नाम है। पर ढांचे की जानकारी की उपयोगिता इसी में है कि वह सजीव मनुष्य के जीवन में काम आये। वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य-सृजन में योग देने के लिये है।

शरीर-शास्त्र-विद् हुए बिना भी जैसे प्रेम के बल से माता-पिता बनकर शिशु-सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना 'टेकनीक' की मदद के साहित्य सिरजा जा सकता है।

प्रश्न—तो चिरस्थायी साहित्य कौन-सा है?

उत्तर—शरीर और आत्मा की एकता जिस में जितनी सिद्ध हुई है वह उतना ही चिरजीवी साहित्य है, यानी जिसमें यदि शरीर है तो मात्र आत्मा को धारण करने के लिए है। जो साहित्य जितना ही उन भावनाओं को व्यक्त करता है, जो सब देश-काल के मनुष्यों में एक समान हैं, वह उतना ही चिरस्थायी है। ऐसा वही कर सकता है जिसने अपना अहं समष्टि में खो दिया है। पर जो सम्पूर्णतः अशेषतः ऐसा हो, वह व्यक्ति न तो हुआ, न होगा। इस से जब हम साहित्य की अमरता की बात करते हैं तो वह बात एकान्तिक ही समझनी चाहिए। सब को एक

दिन मिट जाना है। इसलिए चिरस्थायित्व में तरतमता ही हमारे कहने का अभिप्राय हो सकता है। जिन ग्रन्थों में युग-युगानुमोदित जातीय आदर्शों को स्वरूप मिला है, जिनमें लक्ष-लक्ष मानव-प्राणियों की आकांक्षाओं को, उन वेदनाओं को मूर्त्ताकार प्राप्त हुआ है वे ग्रन्थ उस जाति, उस देश के व्यक्तियों के मनों में गहरे घुसकर पैंठ जाते हैं। वे फिर उनके जीवन से कठिनाई से अलग किये जा सकते हैं। महाभारत और रामायण को भारतवर्ष के प्राणों में से खींच कर अलहदा कर सकने की कोई कल्पना कर सकता है? ये ग्रन्थ अमुक व्यक्ति ने अमुक-स्थान पर बैठकर नहीं लिख दिये। ये तो भारतवर्ष के पूर्वजों में श्रुति-स्मृति द्वारा गहरे अंकित होते गये और प्राणों में बस गए।

राष्ट्रभाषा

प्रश्न—भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही क्यों हो ?

उत्तर—और कौन सी भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है ? हिन्दी के साथ प्रान्तीयता सब से कम है। उसे हम किस विशेष प्रान्त की भाषा कहें ? यों तो वह किसी प्रान्त अथवा प्रान्त-खण्ड की ठेठ भाषा नहीं है। साहित्य में जिसे खड़ी बोली कहते हैं, वह एक दृष्टि से किसी की भी घरेलू भाषा नहीं है। सब जगह कुछ हेर-फेर के साथ वह बोली जाती है। ब्रज में वह ब्रज है, अवध में अवधी, मिथिला में मैथिल। इसी भाँति और भी उस बोल-चाल की भाषा के रूप हैं। पंजाबी को भी हम एक तरह की हिन्दी क्यों न कहें ? मारवाड़ी तो हिन्दी है ही। इस भाँति हिन्दी तनिक प्रादेशिक संशोधन के अवकाश के साथ अब भी भारत के वृहत् भू-भाग की भाषा है। उर्दू और हिन्दी में तो फर्क ही क्यों किया जाय ? मुसलमान लोग भारतवर्ष भर में फैले हैं, सब कहीं वे उर्दू समझते और बोलते हैं। उनके कारण और सब जगह घूमते हुए साधु-सन्तों के कारण, हिन्दी का अजनबीपन सब प्रान्तों से मिट-सा चुका है। अब भी हिन्दुस्तान में कहीं जाइए, हिन्दी से आपका काम निकल ही जायगा। फिर नाम भी तो उसका 'हिन्दी' है अर्थात्, हिन्द-देश की, सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की। हिन्दी न कहना हो तो उसे हिन्दुस्तानी कह लीजिए। बात वही है। ऐसी अवस्था में हिन्दी हिन्द की राष्ट्रभाषा हो, यह परिस्थिति अनिवार्यता ही समझनी चाहिए। इसमें किसी प्रकार का भारत के प्राकृतिक विकास पर आरोप नहीं समझना चाहिए। भारत के राष्ट्र का ऐक्य तो सम्पन्न होना ही है। तब वह किसके माध्यम से हो, इसे किसी बाहरी तर्क से निर्णय करके देखने की जरूरत ही नहीं

रहती । पारिस्थिति का तर्क ही बड़ा तर्क है । और हिन्दी राष्ट्रभाषा उतनी बनाई नहीं जा रही है, जितनी कि वह बनी जा रही है । तब हम इस इष्ट के साधन में मददगार ही हो सकते हैं ।

प्रश्न—क्या यह सच है कि हिन्दी के प्रचार से साम्प्रादायिक द्वेष-भाव बढ़ेगा ।

उत्तर—नहीं, सच नहीं है । अगर हिन्दी शब्द से उर्दू के पार्थक्य की गन्ध किसी को हठात् आती ही हो तो उसको संशोधन कर हम हिन्दुस्तानी कह सकते हैं । जो भाषा आम-तौर पर बोली जाती है उसे हिन्दी कह लीजिए, चाहे तो 'उर्दू' कह लीजिए । वह भाषा खास तौर से फारसी से लगाव रक्खे, अथवा संस्कृत के प्रति ही ऋणी हो, यह जरूरी नहीं है । फारसी और संस्कृत दोनों का मोह छोड़ा जा सकता है । वह मोह छोड़ देना चाहिए । फिर भी दोनों भाषाओं के साथ आदर और लेन-देन का सम्बन्ध रक्खा जा सकता है । जरूरी होने पर और भाषाओं के भी शब्द अपना लेने में हमें हिचक क्यों हो ? इसका यह मतलब न होगा कि उन-उन भाषाओं के साथ अथवा उनके साहित्य के साथ हमने स्पर्द्धा ठान ली है । इस्लामी साहित्य, अरबी, फारसी और उर्दू में है । उस साहित्य में क्या सन्तों की अमरवाणी भी नहीं है ? जिस भाषा में मनुष्य की अमर अभिलाषाओं और भावनाओं का स्फुरण हुआ है, वह भाषा क्यों कभी क्षीण होने लगी ? एक भाषा के (अर्थात् हिन्दुस्तानी के) प्रचार में यह अर्थ हो ही कैसे सकता है कि विविध भाषाओं में जो ज्ञान-कोष है, वह कम होवे ? किसी को चोट देने अथवा पहुँचने की बात ही वहाँ नहीं है । उन-उन भाषाओं में जो कुछ श्रेष्ठ है, चिरस्थायी है, उसको विस्तृत और व्यापक बनाने ही की सुविधा भाषा-ऐक्य के साधन से बढ़ती है, अहित किसी का भी नहीं होता । परस्पर के आदान-प्रदान को और घनिष्ठ बनाने के ही हेतु से हिन्दी को प्रचार में लाने की बात है । किन्हीं के मनों को फाड़ने के लिए ऐसा थोड़े ही कहा जाता है ।

प्रश्न—हिन्दी की अपूर्णता राष्ट्रकार्य-संचालन में बाधक तो नहीं होगी ?

उत्तर—शुरू में दिक्कत तो होगी, लेकिन पूर्णता की राह ही और क्या है ? और पूर्णता तो आदर्श है। वहां पहुँचा कभी नहीं जाता, उस ओर तो चलते ही रहना होता है। जो कठिनाई होगी उसे सोचकर बढ़े नहीं, तो कठिनाई कभी पार ही न हो और उसके योग्य सामर्थ्य भी संचित होने का कभी भी मौका न आवे। आज अंग्रेज़ी बिना काम चलता नहीं दिखता। पर अंग्रेज़ी न थी, तब भी हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान था और सभी तरह के काम भी तब चलते थे। अंग्रेज़ी के प्रति बहिष्कार-बुद्धि रखने का उद्देश्य नहीं हैं; पर परवशता अनुभव करना और परावलम्बन को अनिवार्य बना लेना श्रेयस्कर नहीं है। परस्पर सहयोग होना चाहिए, निरा परावलम्बी बन जाने में अहित है। किन्तु स्वाश्रयी बनने का बल ही कैसे आवेगा, जब तक कि अपना आश्रय स्वयं उठाने का संकल्प ही हम नहीं बांधेंगे ? इसके बाद मुश्किलें तो पड़ेंगी पर वे आसान हो रहेंगी। और मुल्कों ने देखते-देखते अपनी-अपनी भाषाओं को सर्व-सम्पन्न बना लिया है। एक बेर सोचा कि अपनी ही भाषा में अपने को व्यक्त करेंगे, और जब राष्ट्र-भर ने यह सोचा, तब राष्ट्र की राष्ट्रभाषा को समर्थ होने में देर क्या लगेगी ?

प्रश्न—हिन्दी-साहित्य को पुष्ट और रुचिकर बनाने के लिए आप की राय में कौन-कौन से उपाय होने चाहिए ?

उत्तर—मैं तो एक ही उपाय जानता हूँ। यह मैं लेखक की हैसियत से कहता हूं, ऐडमिनिस्ट्रेटर की हैसियत से नहीं। और लेखक की हैसियत से जो मैं उपाय जानता हूँ, वह यह है कि छोटे संकुचित स्वार्थ से मैं बाहर निकलूँ, मेरी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक हो। कर्म से मैं विमुख न रहूं, जो सोचूँ पूरे हृदय से सोचूँ। अपने को बचाऊँ नहीं

श्रौर अपने जीवन में अपने आदर्श को उतारूँ। मेरा प्रेम मेरे साहित्य को रुचिकर बनायगा। अपने विश्वासों के प्रति मेरी लगन श्रौर तत्परता मेरे साहित्य को पुष्टता देगी।

इस के अतिरिक्त आप के प्रश्न पर मैं किसी दूसरी दृष्टि से अभी यहाँ विचार नहीं करना चाहता।

: ५० :

साहित्य-सेवी का अहंभाव

प्रश्न—हम साहित्य-सेवी कैसे वन सकते हैं ?

उत्तर—अच्छी वातों के सोचने और फिर उन अच्छी वातों के लिखने से। अपने को औरों में खोने और दूसरों को अपने में पाने से। प्रेम की साधना से और अहंकार के नाश से।

प्रश्न—लेकिन साहित्यिकों में तो अहंभाव कुछ विशेष ही पाया जाता है।

उत्तर—यह तो मैं मान लूँगा कि लेख आदि लिखने वालों में अहंभाव हुआ करता है। उसकी पहली वजह यह है कि वे अपने को पाना चाहते हैं। वे दुनिया के प्रार्थी होकर नहीं जीना चाहते, खुद होकर जीना चाहते हैं। जो वनी हुई मान्यताएँ हैं, वे ही उनको मान्य नहीं होतीं। वे उन्हें स्वयं वनाने का कष्ट उठाना चाहते हैं। जव तक उनकी वे मान्यतायें वनती रहती हैं, तव तक लगभग आवश्यक ही है कि वे न झुकने की चिन्ता रक्खें। जो सत्य पा लिया गया है, उतने ही से उनकी पूर्ति नहीं होती अथवा कहो, वे अपनी निज की साधना द्वारा भी उसे अपने दिल के भीतर पाना चाहते हैं। वे गहरे में आप ही डुवकी लगाना चाहते हैं। इस प्रकार दुनिया से उनकी सहज अन-वन सी रहती है। उनकी भावनाएँ ज्यादा धारदार हो चलती हैं। छोटी वात भी उन्हें वड़ी लगती है। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति व्यावहारिक पुरुप की तुलना में कुछ कम सहिष्णु दीख पड़ेगा। किन्तु ऐसा इच्छापूर्वक नहीं होता। मानो लेखन-प्राण व्यक्ति इस दुनिया के संघर्ष में अपने को खोना नहीं चाहता। उसमें अपने व्यक्तित्व को अखण्डित रखने की चिन्ता जग जाती और अहंकार-पूर्वक वह अपने को कायम रखता हुआ दीखता है।

पर यह सब ऊपर की बातें हैं। और जब तक साहित्यिक व्यक्ति वास्तव में साहित्यिक बनने की तैयारी में रहता है तब तक की यह बातें हैं। न तो असल में वह भीतर से अहंकारी है, और न अपनी मान्यताओं को स्पष्ट और दृढ़ बना लेने के बाद उसमें अहं का भाव दीख पड़ता है। हाँ, उसके चलन का नियम उसके भीतर ही रहता है। सामाजिक नीति के कोड (कानून) के अनुसार वह नहीं भी चलता दीखता है।

आप एक बात देखियेगा। जो होनहार बालक दीखते हैं, उनमें अहं जल्दी पैदा हो जाता है। यह है तो बुरा ही, पर किसी भलाई को भी सूचित करता है। वह अहम् इसलिए नहीं है कि भीतर गड़ जाय। वह तो मात्र इतने के ही लिए है कि व्यक्तित्व संचित होता चले। समर्थ व्यक्तित्व ही व्यापक स्नेह को धारण करने में समर्थ होता है।

अतः एक अहम् वह भी है, जो श्रद्धा में से बनता है, और स्नेह से पलता है। वह अहंकार नहीं होता, वह मात्र बहाव में न बहने के संकल्प की द्योतक दृढ़ता है। पर यदि दम्भपूर्ण अहं दिखलाई देता है, तो आप समझ लीजिए कि वहाँ साहित्यिक श्रद्धा का अभाव है। मैं मानता हूँ कि लेखकों म सब देश और काल में, ऐसे लोग थोड़े नहीं होते। किन्तु यह भी आप मान लीजिए कि दर्प के मूल में सदा न्यूनता होती है। कुछ त्रुटि है तभी मन को हठात फुलाकर उसको भरने की यह प्रक्रिया है। भरा हुआ मनुष्य फलों से लदे वृक्ष जैसा नम्र होता है; बेचारे अध-भरे को छलकना पड़ता है।

कहानी क्या ?

प्रश्न—हम कहानी क्यों लिखते हैं?

उत्तर—वह तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करते रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती हैं और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का, पाने का, सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है, और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते हैं।

प्रश्न—'टेकनीक' के विषय में आपका क्या ख़याल है ?

उत्तर—टेकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने आप ही जन्म लेती है। उसके लिये खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहानी-लेखक किसी घटना को, सत्य को या भाव को अनुभव करता और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उस के मन में पैठ जाता है। बस, इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढ़ती गई। जहाँ खतम होना है वहाँ खतम हो गई ... जहाँ उसे रोका टेकनीक बिगड़ गई ... उस समय तो हमें अपनी कलम का नेतृत्व एकदम मान लेना चाहिए, वह जहाँ ले जाय आँख मूँदे चल देना चाहिए। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निस्संदेह सही रास्ते पर जायेंगे।

प्रश्न—पश्चिमी कहानियों के विषय में आप की क्या सम्मति है ?

उत्तर—रूसी कहानी में जोर है। भावना है, जान है, Passion है और खूब है; लेकिन व्यक्तीकरण की Felicity नहीं है, प्रमोद नहीं है, आनन्द नहीं है। रूसी कहानी में ध्येय भी होता है। लेकिन उसका तरीका मनोरम नहीं है। फ्रेंच कहानी में बात ठीक इससे उलटी है। वहाँ प्रकट करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, सुहावना है, हम उसके साथ बह जाते हैं, पर कहाँ बह रहे हैं नहीं जानते, क्योंकि उनका कोई हेतु नहीं। वे न जाने क्यों लिखते हैं ! बस लिखते हैं इसलिए लिखते हैं। रूसी कहानी की ताकत फ्रेंच कहानी में नहीं है।...सब-कुछ कह-सुन लेने के बाद रूसी कहानी अपने ढंग की एक है, यह मानना ही होगा।

: ५२ :

साहित्य-सृजन

जीविका की चिन्ता व साहित्य-सृजन

प्रश्न—आपकी राय में क्या कोई ऐसी योजना बनायी जा सकती है कि हिन्दी-साहित्य के कुछ उदीयमान लेखकों को जीविका की चिन्ता से मुक्त किया जा सके और केवल साहित्य के सृजन में लगाया जा सके ?

उत्तर—शायद बन सकती हो, शायद बन सकती है। लेकिन मेरा उधर ध्यान नहीं है। मैं उस प्रकार के सारे प्रश्नों का हल, या उस हल का आरम्भ, इसमें देखता हूँ कि कोई साहित्यकार जन्मे, जो इच्छा और साधनापूर्वक अकिंचन बने। रोटी भूख की ही ले अथवा स्नेह की ही ले और दुनिया पर अपना कोई दावा या अधिकार न जताये। कमाने के नाम एक पाई कमा सकने के अयोग्य अपने को बना ले। कमाई में अहंकार है, कमाकर आदमी गरीब से भी गरीब नहीं बन सकता। प्रेम के आदमी को इस तरह शून्य बने बिना चैन कैसे आए ? ऐसा आदमी अपने प्रेम की वाणी को सब जगह गुंजारता और बिखेरता फिरे तो मुझे आशा होती है कि हमारे बहुत से संकटों का हल भी हमें दीखने लग जाय। बड़ा संकट है आज के दिन राजसत्ता का और सत्ताधिपों का मदासक्त हो जाना। उनकी ओर से लेखक के लिये रक्षण भी चाहा जा सकता है, लेकिन मुझे लगता है कि राजसत्ता की तरफ ताकने और लपकने वाले या उसका भोग करने वाले इस तरह विनाश की ओर जा रहे हैं कि उन्हें स्वयं रक्षा की आवश्यकता है। वह रक्षा केवल एक ऐसे निःस्व बन गये हुए अकिंचन व्यक्ति की ओर से ही प्राप्त हो सकती है। मुझे तो लगता है कि ऐसे सन्त साहित्यकार को समय जब

जन्म दे सकेगा तो समस्या उतनी विकट नहीं दीखेगी। उस गर्भ से ही अंधेरे को उजला देने वाले प्रकाश की रेखा तब हमें दीख आयगी।

साहित्यकार की परिभाषा

प्रश्न—मैं आपसे शून्य, अकिंचन और सन्त साहित्यिक की बाबत नहीं, बल्कि ऐसे साहित्यिक की बात पूछना चाहता हूँ जिसे जीवन के छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे सब पहलुओं को देखकर जीवन को सच्चे रंग में रखना है। मेरी दृष्टि में सच्चा साहित्यकार वही हो सकता है जिसने पूर्ण जीवन का अनुभव किया है; जीवन के नकारात्मक पहलू का ही नहीं। ऐसा साहित्यिक तो सन्त नहीं होगा।

उत्तर—सन्त और शून्य जैसे शब्दों के आप धोखे में कृपया न आएँ। क्या आप नहीं जानते कि फकीर शाह होता है और असली फकीर शाहंशाह होता है। सन्त से शायद आपने वह समझा जो गऊ और साधु से समझा जाता है। वे शब्द नकारात्मक लगते हों, पर मेरे सन्त में आपको समझ लेना चाहिए कि दुष्ट पूरा-का-पूरा समाया हुआ है। जिसे आसक्ति नहीं है उसे ही भय भी नहीं है। एक आदमी सच्चाई से डर सकता है, दूसरा आदमी बुराई से डर सकता है, पर जिसके पास डर जैसा कुछ है ही नहीं, जिसकी आंख सब ओर भरपूर खुल सकती है, जिसे खट्टा-मीठा और कड़वा कुछ भी अग्राह्य नहीं है, सब अनुभव जिसके पास आते और अपनी विशेषता और एकांतता को वहीं विसर्जित करके कृतार्थ होकर वापस लौट जाते हैं; जो इस तरह सज्जनता के एक खाने में बन्द होकर नहीं रहता; बल्कि ईश्वर की इस खुली प्रकृति में सम्पूर्णता के साथ खुलकर घुल-मिल कर रहता है,—वही है जिसको शून्य विशेषण दिया जा सकता है। बाकी जो किसी मानी हुई सज्जनता और साधुता की धारणा में बन्द होकर बैठ रहता है, वह कैसा शाह? न वह सन्त है न ही वह शाह। मैं आपको कहना चाहता हूँ कि जिस सन्त की मैंने ऊपर बात की वह ऐसा शून्य होगा कि उसी कारण वह हमें विराट दीख पड़ेगा।

निजता की सीमा उसे ढके और ओढ़े हुए न रहेगी, बल्कि स्वयं हमें अपना अपनापन उसमें अधिक झलकता और उभरता हुआ दीखेगा। वहाँ भाव की जगह सद्भाव दिखाई देगा। मैं नहीं जानता कि आपके सामने कुछ उस प्रकार के व्यक्ति का चित्र इन शब्दों से मैं किंचित उभार सका या भीतर जगा सका हूँ। पर आप मान लें कि ऐसा सन्त रह-रह कर जगत् को मिलता रहा है और जगत् ने फाँसी दे कर, या गोली मार कर उसका सत्कार किया है। केवल मात्र भाव से निकला हुआ होता तो उस पर लोगों को तरस तो आता, रोष कभी नहीं आ सकता। ऐसी सद्गति ही प्रमाण हैं कि वे निरे भाव के नहीं, बल्कि समग्र सद्भाव के प्रतीक थे।

साहित्य का सृजनकर्ता

प्रश्न—मेरे ख्याल में कुछ अपवादों को छोड़कर जो व्यक्ति इतने पहुँचे हुए हो जाते हैं वे चुप हो जाते हैं और मौन में ही प्रसन्न रहते हैं। वे आत्मनिवेदन की आत्माभिव्यक्ति से उदासीन हो जाते हैं। इसलिए साहित्य की रचना प्रायः ऐसे व्यक्तियों से होती है जो सन्देह में झूलते रहते हैं, लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते और सन्त नहीं बन पाते।

उत्तर—हाँ, साहित्य की रचना के लिए आदमी दोयम दरजे का चाहिए। जिसे पहुँचा हुआ कहें उस पर साहित्य लिखा जाता है, उसे नहीं लिखना पड़ता है। उसका चरित्र ही सामग्री होती है और उसकी वाणी अंकित होने पर साहित्य।

दूसरी बात को मैं अपने शब्दों में रखूँ तो यह कहना अधिक ठीक होगा कि पहुँचे हुए, यानी लगभग पहुँचे हुए पुरुष की वाणी या भाषा मौन होती है। अर्थात् मौन की शक्ति से आप्त पुरुषों की बातें प्रभाव डालती हैं। आँख देखती रहे, सब इन्द्रियाँ काम करती हों, मुँह को ही हठात् बन्द रखा जाय, इसी का नाम न मौन है? मौन इस तरह सहज

अवस्था नहीं है। जो व्यक्ति की अत्यन्त प्रकृत और आत्मगत अवस्था हो, उसमें निःशब्द और सशब्द स्थिति में कोई जातिगत भेद नहीं रहता। वहाँ भाषा द्वारा कोई आग्रह नहीं दिया जाता है, बल्कि उसी पद्धति से स्नेह उससे बहता है जैसे आँखों की दृष्टि से स्नेह झलक कर दूसरे को प्राप्त हो जाता है। मौन का भी मोह वहाँ क्यों ?

: ५३ :

साहित्य की गतिविधि

प्रश्न—साधारणतः यह समझा जा रहा है कि नये साहित्य के स्रष्टा मुख्यतः प्रगतिवादी हैं और वे आदर्शवाद को पुरानी प्रणाली समझ चुके हैं। क्या यह सच है ?

उत्तर—नहीं, सच नहीं है। वाद के साथ लगी प्रगति या उसके साथ लगा हुआ आदर्श दोनों सामान्य भाषा के शब्द न रहकर कुछ संकीर्ण अर्थ के द्योतक हो जाते हैं। मेरा मानना है कि लेखक चाहे वह आज का भी हो, मन में बिना किसी प्रकार का ध्येय या आदर्श लिये चल नहीं सकता। न उसके लिये अपने आस-पास की घटनात्मक सामयिकता से नितान्त बचे रहना सम्भव है। यह मानना होगा कि जिस वाद का शोर अधिक है, इसलिए फैशन भी अधिक है, वह प्रगतिवाद कहलाता है। लेकिन उस फैशन से लेखन या लेखक का सम्बन्ध नहीं।

प्रश्न—यह भी धारणा घर करती जा रही है कि आज के लेखक पर फ्रायड या मार्क्स का प्रभाव अधिक है। अभिप्राय यह कि फ्रायड ने जो मनोवैज्ञानिक विचारधारा चलायी है उसके अनुसार ही नयी कहानियों की आयोजना बन रही है। फ्रायड का मत यह है कि उत्खनन प्रणाली से हम मनोविकारों को दूर कर सकते हैं, तो यह उत्खनन प्रणाली भी आज की कहानी का आधार बन गयी है। दूसरी बात यह कि अधिकांश साहित्यकार मार्क्सवाद से प्रभावित हुए हैं या वह व्यक्ति के साहित्य की अभिव्यक्ति के बजाय जनता के साहित्य की अभिव्यक्ति को साहित्य का ध्येय मान रहा है। यह दोनों फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा विदेशीपन लिये हुए हैं। क्या आप समझते हैं कि इसका प्रभाव हमारे आज के साहित्यिकों पर है ? क्या इससे हमारे साहित्य को नयी

दिशा मिली है और यदि मिली है तो वह क्या भारतीयता के अनुकूल है ?

उत्तर—आपके प्रश्न में कई प्रश्न आ गये हैं। साहित्य में देश-विदेश की सरहदें मैं नहीं देखता। फ्रायड और मार्क्स का प्रभाव है और काफी है। हो नहीं सकता था कि वह प्रभाव न होता। उस प्रभाव को जिसने ऊपर से लिया है उसके लिये अर्थात् उसके लेखन के लिए वह अनिष्टकर होगा। जिसने उसे अपने भीतर समाकर स्वीकार किया है वह उसमें से अभीष्ट सार भी प्राप्त कर सकता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों का मंथन और चिन्तन मनुष्य की वुद्धि के लिए सहायक होता है। वुद्धि वाहर की परिस्थिति और अन्दर की मनःस्थिति दोनों में गहरे पैठकर तल को पा लेना चाहती है। मार्क्स समाज के विश्लेषण और अन्वेषण में दूर तक गये हैं और फ्रायड आभ्यन्तर के अवगाहन में गहरे उतरे हैं। दोनों को एक दूसरे से विमुख मानकर भी देखा जा सकता है। फिर भी दोनों आधुनिक हैं और आधुनिक साहित्य पर, फिर वह भारत का हो या वाहर का, उनका प्रभाव असंदिग्ध है। अभारतीय उसे कहने की आवश्यकता मेरे लिये इसलिए नहीं है कि मैं भारत को एकदम अलग, वन्द, कटा हुआ दुनिया का खंड नहीं मानता। जहाँ उनके प्रभाव को अनात्मीय भाव से लिया गया है, वहाँ वह अभारतीय भी हो गया है, किन्तु उस प्रभाव को भारतीय रूप में भी आत्मसात् करके साहित्य में अभिव्यक्त किया गया है, ऐसा मेरा मानना है। केवल भारत में जन्मे व्यक्ति में से नहीं आया है इसलिए किसी प्रभाव को अनिष्ट और अभारतीय कहकर अपने से दूर रखने और अपने को उससे अस्पृश्य रखने की चेष्टा को मैं असाहित्यिक और असांस्कृतिक मानूँगा। संकीर्ण राष्ट्रीयता उस प्रकार की वृत्ति रख सकती है। साहित्यिक अभिवृद्धि के लिये वह रुख नितान्त अनावश्यक और अनर्थक है।

प्रश्न—आपकी राय में अभ्यंतर का मंथन हमारे आत्मदर्शी ऋषियों

की प्रणाली से अधिक अच्छा हुआ है या आज के मनोवैज्ञानिक फ्रायड की प्रणाली द्वारा ?

उत्तर—अच्छा शब्द उत्तर में ही मैं बचाना चाहूँगा। फैसला देने का काम मैं नहीं लेता। अपने प्राचीन अन्वेषण को मैं अधिक भेदक, तलस्पर्शी और निरपेक्ष, अतः स्थायी कह सकता हूँ। फ्रायड के अवगाहन को और उसके परिणामों के प्रस्तुतीकरण को अधिक वैज्ञानिक, तर्कशुद्ध, ब्यौरेवार और परिपूर्ण कह सकता हूँ। मेरा मानना है कि फ्रायड यदि अधिक संत होते यानी आजीविका के प्रश्न की ओर से अधिक मुक्त होते तो उनका अन्वेषण 'लिबिडो' के आविष्कार से और गहरा जाता। शायद आत्मा का या कहो परमात्मा का आविष्कार वह कर पाता। मेरी तो यह भी मानने की इच्छा होती है कि मार्क्स भी अपने वस्तु-सत्य के अन्वेषण में अधिक तटस्थ और तत्पर होकर चलते तो वह भी परमात्म-तत्त्व यानी द्वैत की जगह अद्वैत तत्त्व तक जा पहुँचते। अद्वैत वह जो कि अन्तर बाह्य सब कहीं एकरूप व्याप्त है। इसलिए बाहर खोजने चलो तो और अन्दर की ओर आँख मोड़कर खोजो तो भी वही चरम तत्त्व के रूप में हाथ आता है। उससे पहले श्रद्धा कहीं टिक नहीं सकती और बुद्धि को आगे चलने के लिए सदा ही चुनौती और अवकाश रहता है।

प्रश्न—यह शिकायत आम सुनी जाती है कि पिछले कुछ वर्षों से अच्छे स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है। क्या आप मानते हैं कि यह बात ठीक है ? तो इसका क्या कारण है ? यदि ठीक नहीं है तो यह धारणा क्यों बन रही है ?

उत्तर—हां, मैं जानता हूँ कि धारणा निराधार नहीं है। और बहुत अंश में ठीक है। कारण लगन की कमी है। लगन वह जो सत्य को पाने के लिये अपने को खोने को तैयार है। आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति को देखते आदमी अपने को बचाने, रखने और बढ़ाने की सोचने के लिये अधिक विवश है। इसलिए यदि बाहर

की ओर उसकी लगन बढ़ती है तो वह राजनीतिक क्रांति जैसी चीज के मोह में पड़ जाता है और अपने स्वभाव से विवश होकर भीतर की ओर मुड़ता है। तो अहंकार पर अर्थात् अहंकृत धारणाओं पर आकर टिक जाता है। इसके परिणाम में भला महान साहित्य कैसे मिल सकता है। जब तक अपने स्वतत्त्व को भी सत्य की शोध में विसर्जन करके तैयारी नहीं होगी तब तक वैसा साहित्य नहीं सिरजा जा सकेगा।

प्रश्न—जिस साहित्य की बात आप कहते हैं, वह व्यक्ति के अभ्यंतर का साहित्य है या जनता का साहित्य ? या एक साहित्यिक आत्मिक सत्य को दृष्टि में रखे या लोक-हित को ?

उत्तर—प्रश्न में आत्महित और लोकहित ये दोही नहीं हो जाते, बल्कि जैसे वह परस्पर विमुख भी हो जाते हैं, वैसा मैं नहीं मानता। सत्य व्यक्ति से अछूता तो नहीं है। अर्थात् व्यक्ति में अन्तर्भूत है। फिर भी वह निर्वैयक्तिक है। यानी जहाँ व्यक्ति अपनी ही निजता में डूब कर अपनी निस्वता के तट पर जा पहुँचता है, वहाँ वह उससे तत्सम हो जाता है। जो उसका आत्म होकर भी उसमें बन्द नहीं बल्कि उससे बाहर होकर भी तत्सम रूप में सब कहीं व्याप्त है, इसी को वस्तुपरक भाषा में यों कह सकते हैं कि वह तत्त्व लोक-व्याप्त होकर भी लोकाबद्ध नहीं, लोकातीत है। यह भाषा शायद कुछ अटपटी और अस्पष्ट लगती होगी, किन्तु जन में और जनता में द्वैत देखकर चला जायगा तो मेरे ख्याल में सत्य पर नहीं, बल्कि संघर्ष पर जा पहुँचा जायगा। जन और जगत्, मन और मिट्टी का ऐक्य ही हो सकता है। यानी सत्य उनके अद्वैत में भेद देखकर और पहचान कर भी उनमें अभेद को पा लेने में है।

प्रश्न—आपकी दृष्टि में कोई ऐसा उपन्यास है जो सैक्स के बिना लिखा गया है या लिखा जा सकता है ?

उत्तर—नहीं है, नहीं होना चाहिये। भगवान की ही कल्पना का

रूप अर्धनारीश्वर हो सकता है। सृष्टि के तल पर शेष सब स्त्री-पुरुष द्वैत में बँटा है। सैक्स शब्द में जो एक हठात् विचिकित्सा और जुगुप्सा का आरोप है इसीलिए उससे बचने की बात सूझती है। पर परमेश्वर की प्रकृति में उससे बचने की चेष्टा कहीं नहीं है। इससे कोई उपन्यास-कार जो जीवन का स्वीकार, सत्कार और पुरस्कार करना चाहता है उससे बचने का बहाना खोजने की आवश्यकता में नहीं रहता और नहीं रह सकता।

प्रश्न—केवल वर्णनात्मक साहित्य को, जैसा मध्यकाल में कालिदास, बाणभट्ट आदि का है जिसमें विशेष विश्लेषण भी नहीं और उद्बोधन भी नहीं, आप आज के साहित्य की दृष्टि की अपेक्षा किस कोटि का समझते हैं ?

उत्तर—केवल वर्णनात्मक मेरी समझ में कोई साहित्य नहीं होता। कालिदास का भी नहीं था न और किसी का। उद्बोधन और विश्लेषण की 'अतिरिक्तता' अवश्य साहित्य के लिये खतरा है। उस अतिरेक की उपेक्षा में ही शायद हम मानते हैं कि अमुक वर्णनात्मक नहीं कुछ और आत्मक है। सच यह कि वह मन की कल्पना की लहरों की दृष्टि से अधिक वर्णनात्मक हो जाता है। इसीलिए उसमें उद्बोधन, विश्लेषण आदि की विशेषता दीखती है। साहित्य तो वह, जिसमें भावना उस तरह से भरी हो जैसे अंगूर में रस। फिर भी वह छिलके पर छलकता नहीं हो, छिलके के भीतर समाया हो, इसलिए ऊपर से हमें रस नहीं दिखता, छिलका दीखता है। लेकिन यदि साहित्य के नाम पर वह हमें रस देता हो तो हम मान लें कि वह वर्णन का छिलका नहीं है, बल्कि कवि के हृदय की भावना का केवल मात्र आवरण और उपादान है। वर्णन देने भर से कालिदास कालिदास नहीं हैं, बल्कि उस मनो-प्रकृति की वाणी में से बोल कर ही वह अपने हृदयगत रस को सार्वकालिक भाव से हमारे निकट उपलब्ध कर गये हैं। इसीलिए वह कवि-शिरोमणि

कालिदास जो अपनी बात इस तरह कहता है कि जैसे वह समय में कुछ कहता है। काव्यगत दृष्टि ही सब-कुछ उसकी ओर से कह देती है। वही सफल साहित्यकार है।

प्रश्न—आपकी राय में साहित्य-जीवी होकर अर्थात् साहित्य को जीविका का साधन मानते हुए कोई साहित्य का निर्माण कर सकेगा ? या उसे स्वतंत्र होना होगा ?

उत्तर—साहित्य में से उपजीविका प्राप्त हो सकती है, लेकिन साहित्य-सृष्टि पर उसका बोझ पड़े, इसको मैं इष्ट नहीं मानता। मेरी धारणा है कि इसका परिणाम भी इष्ट नहीं हो सकता। मैं सोचता हूं कि यह हो सकता है कि कोई कुछ लिखे और उस लिखने का फल यह हो कि उसे अनेक-अनेक का प्रेम प्राप्त हो। इस तरह आजीविका आदि का प्रश्न उसके लिये कहीं रह ही नहीं जाय, लेकिन उसके मन की ओर से उसके साहित्य पर इस आजीविका के विचार का जिस मात्रा में बोझ पड़ेगा उसी मात्रा में साहित्य की उत्तमता में क्षति आजानी चाहिए, ऐसा मैं समझता हूं।

: ५४ :

विविध

इन्दौर की साहित्यिक गोष्ठी में मेरी हवाई-सी वातों को सुनकर एक सज्जन ने मुझ से प्रश्न किया कि 'ज्ञान-विज्ञान में दक्षता प्राप्त करना वहुत आवश्यक नहीं है क्या ? और यदि यह आवश्यक है तो क्या आप इससे सहमत हैं ?' उन्हें शायद यह भ्रम हुआ होगा कि मैं इससे सहमत नहीं हूँ। पढ़ने-लिखनेवाले छात्र विद्यालय से निकलने के वाद ऐसा अनुभव करते हैं कि सीखा हुआ नव्वे प्रतिशत उन्हें भूल जाना पड़ा है। ज्ञान के नाम पर वे जो कुछ प्राप्त करते हैं उसमें से दस-फी-सदी ही उनके साथ आवश्यक रूप में रह जाता होगा। जो कुछ हम उपार्जित करते हैं वह सव-का-सव रखा रहने लायक है भी नहीं, और ऐसा करना सम्भव भी नहीं है। उसे जीवन में लीन करना ही लक्ष्य है। जो हमारे चेतन में मिल नहीं जाता—वह लाभदायक कैसे ? वह हमारे ऊपर वोझ के मानिन्द रहता है।

आज हिन्दी-साहित्य के वारे में मुझे ऐसा लग रहा है कि साहित्य का पठन-पाठन इतना हो रहा है कि साहित्य की सृष्टि कम होती जा रही है। साहित्यज्ञ इतने वनते जा रहे हैं कि साहित्यकार कम होते जा रहे हैं। परिणाम-स्वरूप साहित्य के रूप में जो सृष्टि हो रही है वह भी कुछ उथली-उथली-सी लगती है; साहित्यकार गहराई तक पहुँच नहीं पा रहा है।

हिन्दी के ऊपर एक वोझ आ गया है। आधुनिक दुनिया की सारी वातें हिन्दी के माध्यम द्वारा हम भारतीयों को पानी हैं; उन्हें अपने साहित्य में लाकर हमें सारे भारत को समृद्ध करना है—उसमें एकता लानी है। हिन्दी के प्रचार के साथ-साथ हम उसमें आत्म-सामर्थ्य डालें

इसके साथ ही साहित्य का ज्ञान हम इस प्रकार प्राप्त करें कि वह हमारे लिए शुष्क ज्ञान नहीं, चैतन्य ज्ञान हो और वह हमें समर्थ बनाये। हम बाह्य जगत् से अपनी इन्द्रियों द्वारा जो कुछ ग्रहण करते हैं वह ज्ञानतंतु के द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचता है। हमारे ऊपर जो ज्ञान का यह बोझ है वह तबतक झूठ है—मिथ्या है, जबतक वह हमारी चेतना से सम्बद्ध नहीं हो जाता। पीछे की चेतना के पट से संयुक्त हुए बिना वह सब-का-सब बेकार है। ईंट, चूना, गारा प्रभृति वस्तुएँ मिलकर जब एक भव्य प्रासाद के रूप में प्रस्तुत होती हैं तभी उनकी सार्थकता है। मैं मानता हूँ कि जगत् की सारी वस्तुएँ अपने-आप में मिथ्या हैं, इसलिए सीधे रूप से जगत् को पकड़ना भ्रम है। जबतक हम अपने चैतन्य से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तबतक वह सब-का-सब बेकार है। हम जो कुछ सीखें उसका सत्य इसी में है कि हम उसे अपनी आत्मता में लय कर दें—उसे ज्यों-का-त्यों सत्य नहीं मान लें, अपनी चेतना से सम्बद्ध कर ही उसे सत्य मानें।

साहित्य में हमारे सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यह तरह-तरह के सिद्धान्तों और वादों के आरोपण से नहीं हो सकता। इन वादों को उसकी पीठ पर लादने से उसका अकल्याण ही होगा। हम बोझ तो दें, फिर भी पीठ न झुके। यह कैसी बात है! जो बाहरी है वही बोझ है और हमें झुकाता है। भीतरी तो बोझ रहता ही नहीं। माँ के लिए गोद का शिशु बोझ नहीं होता, धाय के लिए हो भी सकता है। हिन्दी पर आया बोझ बाहरी न समझा जाय। असल में उसका स्वधर्म ही व्यापक हुआ है और अगर उत्साह से, अहंकार से नहीं, उसने राष्ट्र का दायित्व अपने ऊपर लिया, तो हिन्दी उससे बिगड़ेगी नहीं, सँभलेगी; झुकेगी नहीं, सीधा शीर्ष करके दुनिया की प्रमुख भाषाओं के बीच खड़ी हो सकेगी।

छात्र विद्यालय से निकलने के बाद जीवन से सीधा जो अनुभव प्राप्त

करते हैं वही उनके काम की चीज होगी, विद्यालय में पढ़ी गई अन्य चीजें उन्हें केवल सूचित मात्र करने के लिये हैं। जीवन से जो सीधा प्राप्त होता है वही टिकाऊ होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—उपन्यासकार जैनेन्द्र समाज के वहिर्जगत् को छोड़कर व्यक्ति के अन्तर का कलाकार क्यों वने ?

उत्तर—वहिर्जगत् को भ्रमण करके चुका देना कठिन है। उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं। उसके लिए साधन का भी सवाल होता है जो अपने-आप में कृत्रिम सवाल है। पैसा जिस ज्ञान की शर्त हो वह असल ज्ञान ही कैसे हो सकता है ? वाह्यजगत् की जानकारी को वढ़ाने और फैलाने के लिए पैसे की दरकार होती है। वाहर से यों समझा भी क्या जाय ? मान लो, न्यूयार्क जाता हूँ और समझता हूँ, न्यूयार्क मैंने देख लिया और जान लिया; लेकिन वहाँ के ७० लाख मनुष्यों में से प्रत्येक का अध्ययन कर सकूँ, क्या यह सम्भव है ? वस्तुतः वहिर्जगत् एक भुलावा है। वहिर्जगत् के नाम पर यदि कुछ रचनाएँ हुई हैं तो उनमें भी कलाकार वहिर्जगत् के उपलक्ष से अपने को ही खोजता या व्यक्त करता है; वह दूसरा कुछ कर नहीं सकता। अन्तर यही है कि अपने लिये मैं इस अनिवार्यता को सहज स्वीकार कर लेता हूँ।

प्रश्न—आज के इस समाजवादी युग में, जव व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता के आगे नहीं के वरावर हो गई है तव, जैनेन्द्रजी के उपन्यासों का मूल्य आज क्या होगा ?

उत्तर—मूल्य पहले तो है वह जो किसी प्रकाशक से मुझे मिलता है। मेरे एक उपन्यास का मूल्य डेढ़ रुपया है। मूल्य तो घटता-वढ़ता रहता है। मूल्य की चिन्ता मुझे नहीं है। इसकी चिन्ता उन्हें हो जिन्हें मेरी पुस्तकें पैसे देकर खरीदनी हैं। हो सकता है कि मेरी मृत्यु के बाद

भी मेरे उपन्यासों की बिक्री होती रहे। इसलिए मुझ से और मेरे उपन्यास के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक आज के समाजवादी युग में व्यक्ति का सम्बन्ध है, इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती कि कभी भी किसी वाद के जोर से समाज में व्यक्ति का मूल्य शून्य हो रहेगा। मान लिया कि एक समाजवादी स्टेट है। हो सकता है, वह बिलकुल निरापद स्थिति में भी हो—टोटलिटेरियन किस्म की कह लीजिए। उस पर एक डिक्टेटर ! पर वह भी समाज ऐसा नहीं हो सकता कि व्यक्ति के गुण का महत्त्व ही न रहे। बल्कि वह समाज मजबूत तभी दीखता है जब वह डिक्टेटर के व्यक्तित्व में मूर्त्त हो जाता है। पेड़ कितना भी बड़ा हो, दूसरा पेड़ नहीं उगा पाता है। उसी के छोटे बीज में से दूसरा पेड़ निकलता है। यानी हरएक संस्था मूल में व्यक्ति में से उगती है। समाज स्वयं व्यक्ति में ही पकड़ा जा सकता है। समाज से व्यक्ति का महत्त्व तभी खत्म हो सकता है जब व्यक्ति-व्यक्ति न रहकर अंक बन जायगा। किसी भी स्थिति में सुख-दुःख का अनुभव करने वाला 'मैं' क्या कभी खत्म हो सकता है ? समाज आदर्श तभी होगा जब एक व्यक्ति में अनेक व्यक्तियों का समावेश हो—जब व्यक्ति 'व्यक्ति-भावना से नहीं, समष्टि-भावना से चल सके। गांधीजी भारत हो गये; भारत ही क्या—मानवता बन गये। अकेला गांधी दुनिया-भर को भारत का बोध देता था। गांधी में भारत की आत्मा बोलती थी। व्यक्ति में समाज मूर्त्त हो सकता है। निःस्व व्यक्ति जब स्वतन्त्र (Sovereign) होगा, तभी आदर्श समाज बन सकेगा—उसे राम-राज्य कहें या और कुछ। स्टालिन के देश का समाज वहीं तक उत्तम या हीन है जहाँ तक स्टालिन सामान्य व्यक्ति के सुख-दुःख से अभिन्न या भिन्न है।

प्रश्न—जो समाज लेखक को आदर और पैसे न दे उसके लिये लेखक क्यों लिखे ?

उत्तर—न लिखे। पैसा दे तो मनचाहे लिख सकते हैं क्या ? पैसे

से लिखने का सीधा सम्बन्ध नहीं है। मैं अपनी पत्नी को प्रेम देता हूँ, तो वह भी मुझे प्रेम देती है। यदि कोई दूसरा उसे पैसे दे तो क्या उसे भी वह प्रेम दे सकती है ? चक्की में एक ओर से गेहूँ दिया जाता है, दूसरी ओर से आटा निकल आता है ? उसी तरह क्या एक ओर से पैसे देकर दूसरी ओर से साहित्य निकाला जा सकता है ? पैसे के द्वारा जो स्नेह सद्भाव आता है वही लिखा देता है। पर केवल पैसे के लिए कैसे लिखा जा सकता है ? एक सज्जन ने मेरे पास एक मनीआर्डर भेजा। कुछ दिनों के वाद उनका एक कार्ड आया जिसमें कहानी न मिलने की शिकायत थी। मैंने उन्हें जवाव दिया—'मनीआर्डर के साथ कहानी कैसे लटकी आ सकती है ?' तुलसी को अगर कम भिक्षा मिली तो वे कैसे कह सकते थे कि मैं जो यह 'स्वान्तः सुखाय' रामायण लिख रहा हूँ, उससे मुझे भिक्षा भी विशेष नहीं मिलती ? वे भिक्षा के लिये तो नहीं लिखते थे। लिखने का सम्वन्ध गम्भीर भावना से है। 'एक्सचेन्ज' (विनिमय) के धरातल पर साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं।

प्रश्न—लेखक के विचारों, आदर्शों और मान्यताओं की ऊँचाइयों तक समाज न पहुँचे तो दोषी कौन ? लेखक या समाज ?

उत्तर—दोषी कोई नहीं ? क्या उस ऊँचाई तक समाज का पहुँचना जरूरी है ? एक ऊँचाई मुझे प्रेरणा दे रही है जिससे प्रेरित होकर मैं लिखता हूँ। उसका दायित्व मेरे सिवा दूसरे पर नहीं।

प्रश्न—लेखक क्या समाज के घोड़े की पूँछ है ? या उसकी लगाम ? या उसकी आँखें ?

उत्तर—समाज को मैं घोड़ा वना हुआ देखना चाहता हूँ। और तव मैं देखूँगा कि मैं उसमें पूँछ हूँ या लगाम हूँ या आँखें। वस्तुतः समाज एक ऐसी धारणा है जो कहीं दिखाई नहीं पड़ती। 'समाज' शब्द एक धारणात्मक शब्द है; यह कोई इकाई नहीं। जिसे हम 'कॉनसेप्ट' (Concept) के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं, ठोस वस्तु के रूप में

नहीं, उसके साथ हमें उस प्रकार व्यवहार-वर्तन नहीं करना चाहिए जिस प्रकार एक ठोस वस्तु के साथ हम करते हैं।

प्रश्न—क्या भारतीय संस्कृति खतरे में है? संस्कृति यदि युग की समस्त चिन्ताधाराओं का सर्वोत्तम है तो सर्वोत्तम को खतरा क्या हो सकता है? पद्मपत्र को पानी से क्या डर?

उत्तर—यदि कोई चीज स्वयं उत्कृष्ट हो तो उसे खतरा क्यों हो? वही खतरे को दूर कर देगी। खतरा निकृष्ट वस्तु को ही हो सकता है, उत्कृष्ट को नहीं। इसे मैं ठीक मानता हूँ। रक्षा करने वाले धर्म को स्वयं खतरा कैसे हो सकता है? अतः भारतीय संस्कृति को बाहर से खतरा बताना एक अहंकार है। अहंकार को टूटना है तो टूटने दो। उसे खतरा भारत से ही है, अभारत से नहीं। हम भारतीयों को अपने विकारों के बारे में सजग रहना है। यह खतरा हमें अँगरेजियत की तरफ से है। हम अपने को भूलकर नकल करने के पीछे हैरान हैं। अँगरेजों से हमें बहुत-कुछ मिला है, जिनमें से कुछ से तो हम अपने को सबल बना सके हैं, पर अधिकांश से हमें हानि ही हो रही है। आज साहित्य और संस्कृति के नाम पर कुछ ऐसी चीजें चल रही हैं जिनमें विकार है। पद्मपत्र को पानी से क्यों डर? इसमें भी हमें भारतीय संस्कृति यही कहती है कि हम पद्मपत्र बने रहें; हमें कर्दम से कोई सम्बन्ध न हो।

प्रश्न—आधुनिक कलाकृतियों को देखकर यह विश्वास होने लगा है कि कला मनुष्य का पतन है। आपकी क्या राय है?

उत्तर—तो आप उसके पीछे न भटकें। किन्तु यदि कलापूर्ण नयन मिल जायें तो सारे आदर्शों के रहते आप थोड़ी देर के लिये सब छोड़ उधर देख आएंगे। कला से मुख मोड़ना असम्भव है।

प्रश्न—कोई चीज अच्छी या बुरी क्यों हो जाती है? क्या उसके प्रति दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण है? वस्तु का अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं?

उत्तर—चीज अच्छी या बुरी सापेक्ष है। चीजें स्वयं अच्छी या बुरी नहीं होतीं। यथास्थान यथोपयुक्त प्रयोग द्वारा वस्तु बुरी नहीं। विष्ठा यथास्थान खाद बनकर अन्न पैदा कर हमारा पोषण करती है। अन्यत्र रहकर वह जुगुप्सा ही पैदा करती है। हमारे लिए सब आदमी उपयोग के हैं। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है—सच्चा दृष्टिकोण है।

प्रश्न—"साहित्य में साधुता वाञ्छनीय नहीं"—एक लेख। पर जैनेन्द्रजी की साहित्यिक कृतियाँ साधुता की ओर उन्मुख हैं। क्या अब से आप साहित्य में असाधुता अपनायेंगे ?

उत्तर—यह शायद मेरे ही किसी लेख का अंश है। मेरी कृतियों में जब से साधुता लक्षित होने लगी है तब से पहले की वह पंक्ति है। में यह कहूँगा कि महादृष्टि होनी चाहिए। जो साधुता जगत् से अपने को काटती है और 'कु' कहकर कुछ को छोड़ती है, उसकी प्रतिष्ठा साहित्य में नहीं। अल्पप्राण व्यक्ति की साहित्य में प्रतिष्ठा कैसे होगी ? जो ऐसा सोचता है कि नारी नरक की ओर ले जाने वाली है, तो ऐसा साधु वास्तव में साधु नहीं है। मुझे अनीति का प्रचारक कहा गया है। एकांगी दृष्टि प्रीति की दृष्टि नहीं, भय की दृष्टि है। जो दुनिया को 'सु' और 'कु' में बाँटता है, वह साधु नहीं है। जो समग्र विश्व में समानता देखता है वही वस्तुतः साधु है। भयवादी और पलायनवादी साधुता का साहित्य में स्थान नहीं।

प्रश्न—साहित्य और राजनीति दो विपरीत धाराएँ हैं या एक ही धारा के दो अवान्तर तट ?

उत्तर—जबतक चर्चा है तबतक दो विपरीत धाराएँ हैं। किन्तु उन्हें विपरीत मानते हुए भी राजनीतिज्ञों के प्रति हम अवमानता नहीं दिखायें। इसमें हमें काफी सावधानी की आवश्यकता है। राजनीति यह मानती है कि वह आगे है—दूसरा पीछे; मैं प्रधान—दूसरा अप्रधान; मैं साधन—दूसरा साध्य। यही वृत्ति राजनीति में है। किन्तु जहाँ पर

दूसरा ही प्रधान और 'मैं' दोयम होता है उस दर्शन से संस्कृति उत्पन्न होती है। यही मुख्य भेद है। जहाँ 'स्व' प्रधान है और दूसरों से केवल काम निकालना है, वही राजनीति है।

प्रश्न—कथाकार जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और अश्क के विषय में आपके विचार ?

उत्तर—ये प्रेम की आपसी बातें हैं जो खुले-चौड़े में होना ज्यादा ठीक नहीं।

प्रश्न—आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों पर आपके क्या विचार हैं ? हिन्दी में उपन्यास-साहित्य का भविष्य कैसा है ?

उत्तर—हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का भविष्य उससे भी उज्ज्वल है जो रूस में 'प्रि-रिवोल्युशनरी दिनों' में था—जब गोर्की, टालस्टाय, तुर्गनेव थे। पश्चिम का शंकावाद, अर्थवाद हमें पूरे वेग से झकझोर रहा है। अतः इस समय हमारे लिए इतना गहन मंथन का अवसर है जो उस समय रूस के पास था। अतः इस समय ऐसा उपन्यास निकल सकता है जो जगत् को जाज्वल्यमान कर दे। आज के उपन्यास के सम्बन्ध में मैं यही कह सकता हूँ कि मैं कम पढ़ता हूँ। थोड़ा-बहुत जो पढ़ा है उससे यही समझता हूँ कि उसमें अपने मतों को आरोपित करने की वृत्ति अधिक है, अपने 'स्व' को समर्पित कर रचना करने की प्रवृत्ति कम। किन्तु आनेवाले चालीस-पचास वर्षों में वह साहित्य उत्पन्न होगा जो जगत् को चकाचौंध में डाल देगा।

प्रश्न—आधुनिक कहानियों में 'टेकनीक' को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसके पीछे कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही है ?

उत्तर—मैं 'टेकनीक' की 'स्पेलिङ्ग' बहुत दिन के बाद समझ सका जब बहुत-कुछ लिख चुका था। यदि इसे समझने की कोशिश करता तो खो जाता—सर्वदा 'टेकनीक' पर ही दृष्टि रहती। 'टेकनीक' दिवाला है अपने अन्दर का।

प्रश्न—आपकी रचनाओं में हास्य और व्यंग्य का अभाव है। हिन्दी के अन्य लेखकों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। क्या हिन्दी के कलाकारों को इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए ?

उत्तर—किसी रचना में प्रसाद और व्यंग्य का न होना बहुत खराब है। मेरी रचनाओं में नहीं है, यह भी खराब है। हास्य अच्छा नहीं, मुझे मुस्कान रुचकर है। पर व्यंग्य तो होना ही चाहिए। कहानी जो कुछ कहती है, व्यंग्य से ही कहती है। सीधे रूप में तो वह कुछ कहती नहीं। यदि कहानी अच्छी है तो उसमें व्यंग्य अवश्य है। यदि मेरी रचनाओं में उसका अभाव है तो मैं इसे अच्छा नहीं मानता।

प्रश्न—कहाँ तक सम्भव है कि पुरुष के समक्ष नारी एकाएक अपना नग्न प्रदर्शन करे ! 'सुनीता' ने भयवश ऐसा किया या उसकी दमित चिरसंचित भावना का वह प्रकटीकरण था ?

उत्तर—एकाएक तो नग्न होना होता ही नहीं है। नग्नता नाम की चीज है तो भीतरी। हम अभी अच्छे-अच्छे कपड़े पहने बैठे हैं तो क्या हम चौबीस घंटे ऐसे ही रहते हैं ? हम सबके भीतर नग्नता मौजूद है। डाक्टर के यहाँ, स्नानघर में—क्या नग्नता से हम अपरिचित हैं ? हमने कपड़े को अधिक महत्त्व दिया, शरीर को कम; इसीलिए नग्नता का प्रश्न उठता है। उपन्यास भी समाज है, पर दोनों की मर्यादा में भिन्नता है। उपन्यास के नायक और समाज के व्यक्ति में भिन्नता है। पात्र में मानसिकता और भावना ज्यादा होती है, शरीर की मर्यादा कम। जहाँ तक 'सुनीता' का प्रश्न है...भई इतनी लंबी जिन्दगी है और उसमें क्या सब कहीं आवरण रहेंगे ?....और, अगर 'सुनीता' नग्न भी हुई तो उसमें किसी के लिए भय क्यों ? वह तो पुस्तक में है। सुनीता का नग्न होना किसी व्यक्ति की नहीं प्रतीक की नग्नता है।

प्रश्न—किन्तु 'सुनीता' तो हमारे समाज की प्रतीक है, फिर उसकी नग्नता दूसरे की नग्नता क्यों नहीं ?

उत्तर—उपन्यास के पात्र हमारी संकीर्णताओं से सीमित नहीं। वे हमारी ही अपनी अव्यक्त भावनाओं के प्रतीक हैं। वे हमारी आत्मा के प्रतीक हैं, हमारे मताग्रहों के नहीं।

प्रश्न—क्या प्रेम एकान्त में ही हो सकता है?

उत्तर—हाँ; बल्कि प्रेम में इतनी शक्ति है कि वह एकान्त पैदा कर लेता है। समष्टि उसको एक बिन्दु में समाई दिखाई देती है। आदमी को प्रेमी होना चाहिए। जिससे प्रेम किया जाय, भगवान उसी में हो रहता है। जो प्रेममय है उसके लिए एकान्त ही है। सब विविध उसे एक में खो रहता है। वह जहाँ है, उसके समक्ष वही है। एकान्त या एकाग्रता एक ही है।

प्रश्न—'कट्टो' और 'सुनीता' में कौन आपके अधिक निकट रही है।

उत्तर—'कट्टो' रही है। 'सुनीता' से मेरे जीवन का संबंध नहीं—वह बुद्धि से, कल्पना के आधार पर, खड़ी की गई है। 'कट्टो' से आप-बीती का हल्का-सा सम्बन्ध है। 'कट्टो' मेरे जीवन के निकट रही है।

प्रश्न—अज्ञेयजी का कहना है कि हम आज भी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द से आगे नहीं बढ़े हैं। इस गत्यवरोध के लिए आप अपने को भी उत्तरदायी मानते हैं या नहीं? यदि नहीं, तो आपने हमारे उपन्यास-साहित्य की प्रगति में क्या योग दिया है?

उत्तर—ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द से खास आगे नहीं बढ़ा गया है। हां, मैं जिम्मेदार हूं। मुझे लिखना चाहिए था; पर लिख नहीं सका। किन्तु एक आदमी के लिखने न लिखने से गत्यवरोध हो जायगा? यदि मुझे यह विश्वास आप दे दें कि पटना एक हजार कापी खरीद लेगा तो एक महीने में एक उपन्यास लिख दूं। गति-अवरोध के लिए कोई एक आदमी जिम्मेदार नहीं। भगवान की इच्छा ही कभी लिखा लेगी।

प्रश्न—कल आपने कला और संस्कृति पर भाषण करते हुए बहुत-से

अंगरेजी शब्दों का प्रयोग किया था। हिन्दी में अंगरेजी शब्दों के प्रयोग पर आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—हमें यदि बातें सुननी और समझनी हैं तो उसमें अंगरेजी शब्दों का आना बहुत घबराने या शर्मिन्दा होने की बात नही है। यदि मैं कह गया और आपको समझने में सुविधा हो गई, तो यह अच्छी ही बात है। आप मुझसे हिन्दी-भाषा चाहते हैं या मेरी बात ? यदि भाषा चाहते हैं तो वही सही। वह भाषा तब पुस्तकीय भाषा होगी। शायद शुद्ध पर बेजान।

प्रश्न—आप अपने पात्रों में किसे सर्वाधिक पसन्द करते हैं ?

उत्तर—एक को पसन्द कर कोई कारण नहीं कि दूसरे को पसन्द न करूं। सौन्दर्य एक जगह केन्द्रीभूत नहीं। वह सदैव बिखरा होता है। मेरे सामने जब जो पात्र चले आते हैं, वही मुझे सुन्दर लगने लगते हैं। और जो पात्र आएँगे, मैं उन्हें भी पसन्द करने को तैयार हूँ।

प्रश्न—कलागत सत्य और जीवन के सत्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कला वही है जहाँ जीवन का सत्य इस रूप में बंध आए कि रंग में, चित्र में, आकर भी गति और स्पन्दन से हीन न हो जाय। चित्र देखकर हमारे हृदय में ऐसी भावना होनी चाहिए कि उसमें और कुछ है। जब स्वाद में रस आता है तभी वह रस देता है। सत्य जड़ न बने तभी कलागत सत्य है। स्थिर दीखकर भी कलागत सत्य स्थिर नहीं होता।

प्रश्न—आपके चरित्र अस्पष्ट और रहस्यात्मक होते हैं। क्या ऐसा आप जान-बूझकर करते हैं ?

उत्तर—'जान-बूझकर' शब्द बड़ा बेढब है। सूझ-बूझ तो रहती है, पर किसी सिद्धान्त को पकड़कर मैं ऐसा नहीं करता हूँ। बीस वर्ष मेरी शादी हुए हो चुके, पर मैं अपनी पत्नी को नही समझ सका हूँ। जहाँ रहस्य समाप्त हो गया, वहाँ तो कुछ रहा ही नहीं। ऐसा पात्र ही क्या जिसमें कुछ रहस्य बचे नहीं। बिना रहस्य के तो आदमी छूछा हो

जाता है। कुछ सजीव है, इसलिए कि कुछ रहस्य है। कुछ है, जो पकड़ में नही आता। रहस्य तो जीवन का मर्म ही है। वह बँधे तो कैसे? प्रयत्न करने से वह और रहस्यात्मक हो जाता है।

प्रश्न—हिन्दी-साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव और उसका परिणाम ?

उत्तर—प्रभाव काफी; पर अनिष्टकर।

प्रश्न—कला में श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न और आपका विचार ?

उत्तर—श्लील और अश्लील का सम्बन्ध वाक्य से नहीं, वृत्ति से है। जहाँ छल है, वहीं अश्लीलता है। कपट के विना कुछ भी अश्लील नहीं है। यदि कोई स्त्री कपड़े पहनती है और कपड़े ही कहें कि मेरी नग्नता की कल्पना तो करो, तो वह अश्लील है। ऐसे आवरण स्वयं अश्लील बन सकते हैं। जहाँ वस्त्र नहीं है वहाँ अश्लीलता जरूरी हो सो नहीं। जहाँ हमारा सम्बन्ध सघन सहानुभूति का है, वहाँ अश्लीलता रह ही नहीं जाती। वेदना प्रधान है जहाँ वहाँ अश्लीलता है ही नहीं। 'खलील जिब्रान' के चित्र सब-के-सब नग्न हैं; किन्तु वहाँ अश्लीलता की बात ही नहीं उठ सकती। वहाँ उसका सम्बन्ध शरीर से नहीं, आत्मिकता से है।

प्रश्न—कलाकार का सामाजिक उत्तरदायित्व ?

उत्तर—अपने माध्यम में है। दूसरे मनुष्य की भावना में उतरकर ही वह समाज की सेवा कर सकता है। समाज को सीधा ऐसा या वैसा करने का काम उसके दायित्व से सम्बन्ध नहीं रखता। वह समाज का परिष्कार भावना के माध्यम से ही कर सकता है।

प्रश्न—"कला कितनी भी हवाई हो, परन्तु वह भौतिक दाना-पानी के विना नहीं जीवित रह सकती।" क्या आप सहमत हैं ?

उत्तर—सहमत नहीं हूँ। मैं रोटी खाता हूँ, पर कला को कौर लेते कभी

देखा नहीं। तो कला तो बिना दाना-पानी के ही रहती है। कलाकार दाना-पानी चाहता है। वह पचकर जब रस बन जाता है, तभी कला निकलती है। सीधा सम्बन्ध उनमें देखने का आग्रह ठीक नहीं।

प्रश्न—साहित्यिक रचना के समय आप व्यक्ति को केन्द्र मानते हैं या समाज को ?

उत्तर—साहित्य-रचना में—इस भगवान की दुनिया में—केन्द्र नाम की कोई चीज नहीं। आदमी अपने को खो दे—केन्द्र को नष्ट कर दे—शून्य कर दे, यही साहित्य-रचना है। आदमी अपने को खो दे, इस लाचारी में उसे लिखना पड़ता है। अपने को केन्द्र मानने से ही परेशानी होती है। मैं हूँ—यही मेरे दुःख का कारण है। मैं अपने दुःख को बाँट चलूँ—इसी में लिखना आता है।

प्रश्न—साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये उपन्यासों के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?

उत्तर—उसका परिणाम अनिष्टकर है।

प्रश्न—आपने अपने जीवन में बड़े-बड़े राजनीतिक आन्दोलन देखे हैं, किन्तु आपकी रचनाओं में इनका प्रयोग नगण्य है। क्यों ?

उत्तर—पटना में आन्दोलन हुए तो हुए, किताब में क्या जरूरत है ? देश में राजनीतिक आन्दोलन होने से किताब में उनका होना जरूरी नहीं। बाह्य आन्दोलन यदि रचना में ज्यों-के-त्यों उतरें तो उस रचना को मैं निकृष्ट समझूँगा। मैं अवतारणा व्यक्तियों की करता हूँ। व्यक्ति तो सुख-दुख के द्वारा ही कुछ करेगा। बीस हजार का आन्दोलन तो 'बैकग्राउण्ड' (पृष्ठभूमि) बन जायगा। पुस्तक में ज्यों-का-त्यों आन्दोलन का आना मुझे अनिवार्य नहीं मालूम पड़ता है। सन् ३०-३२ के आन्दोलन हुए तो मैंने अपने को जेल में पाया। मैं उस आन्दोलन को पुस्तक में कैसे लाऊँ—समझ में नहीं आता।

प्रश्न—क्या उपन्यास के क्षेत्र में हम प्रेमचन्द-युग को पार कर गए हैं ?

उत्तर—चीजों को काटकर देखना तो ठीक नहीं। यह तो गणित का ढंग है। चेतना की सड़क मीलों में नहीं नपती। एक आदमी उस चेतना में ऐसा अवगाहन करता है कि वह युगों को पार कर जाता है, वर्षों को लाँघ जाता है। वह बँधता नहीं। काल और अवकाश (स्पेस) की भाषा में हम उसे समझने की चेष्टा कर सकते हैं—उसे जड़ित करना ठीक नहीं। प्रेमचन्द की वृत्ति लेकर लिखने वाले बाद भी आएँगे। उनसे भिन्न वृत्ति वाले उस समय भी थे। प्रेमचन्द और प्रसाद साथ-साथ पार्क में घूमा करते थे। तो क्या वे दो युग के थे ? पर क्या वे एक ही तरह के लेखक थे ?

प्रश्न—क्या 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' का, जो एक सुसंस्कृत उच्च परिवार में पल चुकी है, सम्बन्ध एक कोयले वाले से जोड़कर आप स्वाभाविकता से दूर नहीं जा पड़े हैं ?

उत्तर—स्वाभाविकता क्या ऐसी चीज है जिसकी सीमाओं का कुछ पता हो ? स्वाभाविकता नाम की चीज की सीमाएँ ज्ञात नहीं। हमारी कल्पना जहाँ तक जाती है, सत्य उससे भी आगे जाता है। उपन्यास स्वाभाविक बनने के लिए नहीं है, वह तो एक प्रभाव पैदा करने के लिए होता है, जिसकी रचना इसलिए स्वाभाविक बनाई जाती है कि वह आपके मन पर थोड़ी देर के लिए उतर जाय।

प्रश्न—क्या आप बतला सकते हैं कि सांस्कृतिक आन्दोलन के क्षेत्र में सफलता क्यों नहीं मिल रही है ?

उत्तर—वजह है मानसिक मनोरंजन से आगे वह चीज बढ़ नहीं पाई है !

प्रश्न—कुछ लोगों का कहना है कि प्रगतिवाद के बाद आप कोई नया 'वाद' चलाएँगे। क्या यह सच है ?

उत्तर—तो आगे फिर कोई-न-कोई 'वाद' खड़ा हो जायगा—

सर्वोदयवाद हो या गांधीवाद। 'वाद' चलेगा, फिर खतम हो जायगा। चलना जीवन की गति है। वह गति कुछ 'वाद' के कारण नहीं होती। मैं नहीं चाहता कि 'वाद' चले। 'वाद' कोई अच्छी चीज नहीं।

प्रश्न—छायावाद की उत्पत्ति क्यों, कब और कैसे हुई ?

उत्तर—मेरे पास कोई जन्मपत्री नहीं है।

प्रश्न—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान-योग क्या ईश्वर प्राप्ति के तीन विभिन्न साधन हैं? अथवा, तीनों एक ही साधन के तीन सोपान हैं ?

उत्तर—मैं अपनी भाषा में कहूँ तो यों कहूँगा कि सोपान भी एक के बाद दूसरे होते हैं, ये तो युगपत् हैं। ये एक ही चीज हैं। एक ही चीज के तीन पहलू हैं—कर्मेन्द्रियों से देखने पर कर्म, हृदय से देखने पर भक्ति और बुद्धि से देखने पर ज्ञान। कोई एक अकेला नहीं है। तीनों एक दूसरे के साथ अभिन्न हैं। भिन्न हैं वहाँ मुक्ति नहीं।

प्रश्न—गोदान में प्रेमचन्द का संदेश ?

उत्तर—आदमी के संकल्प और शुभवृत्ति से 'होरी' डिगता नहीं है—वह अपने कर्म से मुख नहीं मोड़ता। कर्म करते-करते उसकी मृत्यु हो जाती है। 'कर्म' ही उसका संदेश है।

प्रश्न—उपन्यासकला की दृष्टि से 'गोदान' को हम एक सफल उपन्यास कह सकते हैं या नहीं ? क्या हम 'होरी' को प्रेमचन्द का प्रधान पात्र कह सकते है ?

उत्तर—हाँ, कह सकते हैं 'गोदान' को सफल उपन्यास। उसके पात्रों से हमारा व्यक्तिगत सहानुभूति का सम्बन्ध हो जाता है। 'होरी' को भी अवश्य प्रधान पात्र कह सकते हैं।

प्रश्न—कहा जाता है कि प्रत्येक लेखक अपने जीवन में एक ही रचना करता है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—मेरे पाँच बच्चे हैं, सो क्या बताऊँ आपको ?

—पटना कालेज के हिन्दी-साहित्य परिषद् में प्रश्नोत्तर

: ५७ :

अश्लील और अश्लीलता

('जीवन-साहित्य' के सम्पादक के नाम)

प्रिय सम्पादक जी,

आपने चिट्ठी का सिलसिला मेरे सिर बाँध ही दिया। चलिये अच्छा हुआ। ऐसे खुद मुझे अपने को समझने में मदद मिल जायगी।

मार्च-अङ्क में मशरूवाला जी का 'अश्लीलता' पर लेख पढ़ा। मैं तो भुगता प्राणी हूँ। अब भी सुन मिल जाता है कि मेरी अमुक रचना यों अश्लील है। स्तुति अनसुनी की जा सके पर त्रुटि-निर्देश पर अचेत कैसे रहा जा सकता है। चुनांचे अश्लीलता को समझने की लाचारी मेरे सामने कई बार आई है। परिणाम-स्वरूप मुझे सोचना पड़ गया है। पर सोच-विचार वह किसी किनारे आ लगा है, इसका संतोष मुझे नहीं है। मशरूवाला जी के वक्तव्य से भी मन भरा नहीं। और मैं अपना निवेदन सुना चलना चाहता हूँ।

शुरू आप-बीती से करूँ, क्योंकि जग-बीती को समझने की दूसरी कुंजी नहीं है। मुश्किल से बारह वर्ष उम्र का हूँगा कि एक पत्रिका के चित्र को लेकर मैंने अपना बुरा हाल कर लिया था। कहा जायगा कि चित्र सदोष रहा होगा। वह अश्लील होगा। पर वह चित्र अब भी जहाँ-तहाँ दीखता है, और विकार नहीं उपजता। न चित्र में कुछ दोष पकड़ मिलता है। इससे उचित मालूम होता है कि अपनी दुरवस्था का सारा पाप मैं उठाऊँ और उसका तनिक भी भाग निमित्त बनने वाले उस चित्र पर न टालूँ।

इससे मैं नतीजा निकालना चाहता हूँ कि अश्लीलता यदि है तो वस्तु में नहीं व्यक्ति में है। मेरे भीतर से जिस निमित्त को लेकर बुराई उभर

उठी है वह निमित्त तो उतना भर्त्सनीय नहीं जितना मैं स्वयं हूं। बुराई को अपने भीतर न टटोल कर उसे वस्तु में आरोपित करूं तो यह मेरे हक में हलकी वात होगी।

इस ढंग से सोचने पर शायद अश्लील कहीं कुछ रह ही न जाय। मेरे लेखे ऐसा हो तो हर्ज नहीं। मेरा काम तव भी चल जायगा। पर सुधारक का काम तव कैसे चलेगा ? और सुधारक भी अभीष्ट तो है ही। उसके लिए अश्लील को अपने से वाहर भी देखना लाजिमी है। मानो अश्लीलता का एक मापक वनाकर उसे समाज को देना होगा।

मशरूवाला जी का प्रयत्न इसी दिशा में है। पर मुझे मालूम होता है कि भलाई की वृत्ति की भूमिका में सचाई की दृष्टि चाहिए। अन्यथा भलाई की वुनियाद कच्ची होगी। और सच्चाई के लिहाज से शायद मशरूवाला जी के तर्क से आगे वढ़ा जा सकता है। उस ढंग से उनका माप मुझे अपर्याप्त और अयथार्थ दीखता है।

मशरूवाला जी ने फल में परीक्षा वतलाई है। यानी जिससे कामोत्तेजना हो और वीर्यपात की सम्भावना वढ़े, वह उतना ही अश्लील है। (मशरूवाला जी का वीर्य-वमन शब्द-प्रयोग मुझे अवैज्ञानिक, इसलिये तत्व-विचार की दृष्टि से गलत मालूम होता है। शायद वह स्वयं अश्लील है क्योंकि घोर अरुचि-वोधक है।)

ऊपर जो मैंने अपने वचपन की वात कही, उसमें अनिष्ट का दुहरा कारण है। एक चित्र, दूसरा मैं। इन दोनों के मिलने से जो अनिष्ट फल हुआ, उस पर से चित्र के सम्बन्ध में मुझे अनविकारी और मेरी अपेक्षा में चित्र को वर्जनीय कहा जा सकता है। मेरी अपेक्षा के अभाव में, अर्थात् अपने आप में, चित्र को अश्लील नहीं कहा जा सकता।

इस वात को और साफ करने के लिए एक मित्र की मिसाल दूं। वह गान्धी जी के परम भक्त हैं। उनकी आत्म-कथा उनके लिए एक धर्म-पुस्तक ही है। पर वह जव गान्धी जी के उस अनुताप-प्रसंग पर

आते हैं जहाँ पिता मृत्यु-शैय्या पर हैं और गान्धी जी विषय-लिप्त, तो वह अपने वावजूद उत्तेजित हो रहते हैं। यहाँ तक कि वीर्य-रक्षण तब उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है।

इस फल को देखकर क्या नतीजा निकाल लिया जाय कि गान्धी जी की आत्म-कथा अश्लील है, अथवा वह प्रसंग ही अश्लील है? मेरे लिए तो वह गहरे पश्चाताप की अश्रु-कथा है। फिर भी एक व्यक्ति है कि उसको पढ़कर विकार में बेवस हो जाता है!

इससे यह तो परिणाम निश्चय-पूर्वक निकाला जा सकता है कि विषयोत्तेजना प्राप्त हो ऐसे सब सांनिध्य और स्पर्श से बचो। लेकिन वह स्थल अथवा वह वस्तु अश्लील हैं, यह ठहराना ठीक नहीं है। हेय-उपादेय जैसे शब्दों से ऐसी जगह मदद ली जा सकती है, क्योंकि हेयोपादेयता वस्तु में नहीं है। रोगी खटाई से बचे, खटाई उसके लिये हेय है। पर खटाई इसी कारण अपने आप में निषिद्ध तो नहीं है।

फल द्वारा परीक्षा के नियम में बड़ी कठिनाई यह है कि किस व्यक्ति को औसत मनुष्य का प्रतिनिधि मानें? हर चीज का हर आदमी पर जुदा असर देखा जाता है। क्या सामान्य नियम निकालने के लिए गणित का सहारा लेना होगा, और अधिकांश आदमियों पर क्या असर पड़ता है इसको देखना होगा? पर इसकी जांच का भी कोई उपाय नहीं है, अन्त में जाकर यह काम अनुमान के सहारे ही किया जाता है।

पर एक उपाय है। वह यों कि गहराई में हर आदमी हर दूसरे का प्रतिनिधि है। आत्मा तो सब में एक है न। इसलिए वह उपाय यह है कि दोष वस्तु में न देखकर व्यक्ति में देखने की आदत डाली जाय। फल तो व्यक्ति-निर्भर है।

इस दृष्टि से सृष्टि में कुछ अश्लील नहीं है, यद्यपि सब-कुछ उसमें है।

एक युवक चिड़ियों और कबूतरों के जोड़ों को आसक्त भाव से

देखता रह जाता है। अब हम क्या कहें ? यह कहें कि चिड़िया या कबूतर अश्लील हैं, इसलिए उन पर आँख बन्द रक्खो, या कपड़े पहनाकर उन्हें सभ्य बनाना शुरू करो ? या यह कहें कि युवक अभी कच्चे हैं, खुली प्रकृति की अपेक्षा अभी पुस्तक में उन्हें अधिक ध्यान रखना चाहिए ?

छुटपन में एक पुराण की कहानी सुनी थी। एक स्त्री का शव मरघट जाता है। वहाँ चार जन चार तरह की कल्पना करते और चार तरह की भावनाओं में मग्न हो जाते हैं। यहाँ तक कि एक यह सोचकर कि यह स्त्री वेश्या ही न रही हो, कामान्ध बन जाता है। इस उदाहरण में स्खलन की उत्तेजना मिलने पर भी शव को अश्लील नहीं कहा जा सकता।

एक और दृष्टि से वीर्य-व्यय के साथ अश्लीलता का सम्बन्ध जोड़ना असंगत है। पर-स्त्री के प्रति कुदृष्टि अश्लील है कि नहीं ? अवश्य अश्लील है। किन्तु क्या पितृत्व और मातृत्व भी अश्लील हैं ? कदापि नहीं।

मात्र कुदृष्टि में वीर्यपात का प्रश्न नहीं उठता। जब कि रजो-वीर्य संयोग बिना माता-पिता की कल्पना ही असम्भव है।

ऊपर से स्पष्ट है कि एक जगह वीर्य-व्यय है लेकिन अश्लीलता नहीं है। दूसरी जगह वह व्यय नहीं है, लेकिन अश्लीलता है।

नग्नता और आवरण से भी अश्लीलता के प्रश्न का सम्बन्ध नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि सम्भ्रान्त श्रेणी में पहिनी जाने वाली चटकीली साड़ियाँ और निमन्त्रण देते जम्पर-ब्लाउज़ अश्लील हैं और जंगल में लकड़ी बीनती या घास छीलती नग्नप्राय एक भील युवती की मूर्ति में अश्लीलता नहीं है। क्योंकि एक तरफ कपड़े बदन को ढंक कर भी बदन को उघाड़ते नहीं तो उस पर आँख तो खींचते ही हैं। दूसरी ओर शरीर पर आवरण यद्यपि नहीं है पर उस शरीर का ध्यान भी नहीं है।

अर्थात् नग्न शरीर में अश्लीलता नहीं है और पूरी तरह ढका हुआ शरीर भी अपने आप में अश्लीलता के दोष से बाहर नहीं है।

अब वे तत्त्व लें जिन्हें ग्राम्यता, फूहड़पन कहा जाता है। उनके पीछे एक प्रकार की अरुचि और अशुचि भावना है। सुनते हैं कि जहाँ पर्दा बहुत सख्त है वहाँ स्त्री के पैर की एड़ी खुली दीख जाय तो मन में कुण्ठा-सी पैदा हो जाती है। मानो स्त्री की ओर का यह फूहड़पन है कि उसकी एड़ी दिखलाई दे गई।

आज जिस सभ्यता में साँस लेकर हम जी रहे हैं, मैं मानता हूँ कि वह बहुत कृत्रिम है। आत्मा से उसका लगाव नहीं है, वह हठात् धन के प्रमाद में पैदा की हुई नाज़ुक ख्याली है। कहते हैं कि लखनऊ के नवाब की तरफ से कहलाया गया कि कम्पनी बहादुर उनके खत्म करने की फिक्र में न पड़ें, बाहर के सहन से महतरानी गुजर जाय तो यही उनकी जान लेने को काफी होगा। इस नजाकत के नजदीक भला क्या चीज फूहड़ न हो जायगी ?

कला और कुलीनता और शिष्टता के नाम पर बहुत-कुछ व्यर्थता आज पल और पुज रही है, पर वह निर्वीर्य है। जीवन का स्वरूप विकसेगा तो यह मानी गयी भद्रता, शुचिता और कला-पूजा झर जायगी।

काका एक बार किन्हीं अतिशय कोमल रुचि की महिला की बात सुनाते थे। वह बहुत ऊँचे घराने की थीं और वस्त्र की जरा भी असावधानी उन्हें बरदाश्त न थी। पिंडली तो क्या किसी का टखना भी खुला दीखे तो उनका मन जाने कैसा हो जाता था। वही गान्धी जी से मिल कर आईं, तो बेहद खुश। पूछा गया कि गान्धी जी सिर्फ पंछा पहन कर रहते हैं, सो ? पर उन्हें तो इस बात की सुध भी न थी। उन्हें यह मानने तक में दिक्कत हुई कि गान्धी जी सचमुच उघाड़े बदन थे !

इस पर से प्रकट होगा कि ग्राम्यता कोई दोष नहीं है। बल्कि जबरदस्ती पैदा कर ली गयी नाजुक-मिजाजी उल्टे टूटनी ही चाहिये। अब भी तो ऐसे लोग हैं, स्त्रियाँ और भी अधिक हैं, जो मेहतर का नाम सुन ग्लानि अनुभव करने लगते हैं। गान्धी जी ने मैला खुद साफ किया है, अपने सब शिष्यों से कराया है, और बताया है कि वे अकृतज्ञ हैं जो अपना मैला साफ करने वाले के प्रति कृतज्ञता अनुभव नहीं करते; और जो उनको हीन मान कर अपने को श्रेष्ठ जानते हैं, वे तो पाप कमाते हैं। अर्थात् अहम्मन्यता, अहम्-सेवन की वृत्ति में से जो एक तहजीब-याफ्ता नजाकत खड़ी कर दी गयी है—वह असभ्य वस्तु है, और गिरनी चाहिये।

धन में, बुद्धि में, कुल में, और विद्या में श्रेष्ठ माने जाने वाली श्रेणियों में इस तरह का छुआ-मआपन काफी देखने में आता है। ये श्रेणियाँ अश्लीलता के बारे में भी जरूरत से ज्यादा चौकन्नी हैं। इसलिए नहीं कि उन्हें संयम की साधना प्रिय है, बल्कि इसलिए कि सत्य की साधना का उन्हें साहस नहीं है। और ऊपर की सफेदपोशी के सहारे भीतर के मैले अंधियारे को सहने और सम्हाले रखने में उन्हें सुभीता होता है।

इस तरह जबकि मशरूवाला जी की कसौटी या दूसरी कसौटियाँ स्थूल होने से अपर्याप्त ठहरीं, तब सवाल उठता है कि अश्लीलता का निदान कहाँ ढूँढना होगा ? मेरी धारणा है कि अश्लीलता छल के साथ है। जहाँ शरीर सम्बन्धी असत्य है, उसके वर्णन में, चित्रण में, सँवार-व्यवहार में, दर्शन-स्मरण में असत्य है, कपट है, वहीं अश्लीलता है। असत्य, छल और कपट शब्दों का इस सिलसिले में शायद मुझ से खुलासा माँगा जा सकता है।

शरीर-वर्णन जहाँ ध्यान को अपनी ओर अटकाने के लिए है, या वर्णन करने वाले का ध्यान खुद शरीर में अटक कर रह गया है, और इस तरह जहाँ समभाव और आत्मभाव का भंग है, वहाँ अश्लीलता है।

किन्तु जहाँ शरीर-व्यापार द्वारा मनोवृत्ति को समझने-समझाने का अथवा उससे भी आगे बढ़कर उसके भीतर से आत्म-धर्म की शोध या प्रतिष्ठा का प्रयास है—वहाँ अश्लीलता नहीं है।

शरीर अपने आप में सत्य नहीं। भोग निमित्त होकर तो असत्य ही है। आत्मा को साधने का साधन होकर वही सत्य हो जाता है। उस दृष्टि से हम शरीर के कोने-कोने को छान सकते हैं, क्योंकि कहीं भी मैल रहे गया तो मुक्ति असिद्ध होगी। इसी लिहाज़ से जितेन्द्रिय पुरुषों को शरीर के एवं काम-विज्ञान के बारे में सही ज्ञान देकर समाज में स्वच्छता लाने का प्रयत्न करना होगा।

महान और अश्लील साहित्य के मूल में सचमुच थोड़ा ही भेद है। थोड़ा है पर गहरा है। वह भेद वृत्ति का है। महान साहित्य में से ढेर-के-ढेर ऐसे उदाहरण निकाले जा सकते हैं जिनमें अश्लीलता देखी और दिखलायी जा सके। पर उससे क्या ? रामायण महाभारत में क्या नहीं देखा-दिखाया गया ? क्या कुछ उनमें नहीं खोजा पाया जा सकता ? पर यह भी प्रत्यक्ष है कि लोग हैं जो उनसे आत्म-स्फूर्ति और धर्म-प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जो अश्लील है उसमें या तो दुबकाचोरी है या सीनाजोरी। वहाँ या तो चुनौती के साथ भोग पक्ष में शरीर का निरंकुश वर्णन होगा, नहीं तो शील के एक आडम्बर के नीचे लाग-लपेट के साथ वैसा कुतूहल पैदा करने की वृत्ति होगी। जहाँ आड़े बांके सूचन हैं, जहाँ डाट्स से काम लिया गया है, जहाँ तीक्ष्ण,चाहे फिर वे भर्त्सना के ही हों, विशेषण काम में लाये गये हैं वहाँ अचूक अश्लीलता है।

एक भाई ने वेश्याओं पर किताब लिखी। उसमें उन्हें सख्त दुर्वचनों से याद किया था, करतूतें खोलीं और उनका खतरा दिखाया था। लेखक का कहना था कि वह समाज के शरीर पर से इस कोढ़ के

दाग को मिटाना चाहते हैं। पर वह जो हो, पुस्तक अश्लील थी। इसलिए नहीं कि वह वेश्या और उसके पेशे के बारे में थी बल्कि इसलिए कि उसमें छल था। घृणा छल है। वेश्या को प्रेम कर सकते हो तो उस पर लिख भी सकते हो। पर उसके लिये बड़ी छाती चाहिये। तब उसके पाप तुम्हारे पाप होंगे। पाप दिखाया जा सकता है, पर अपना पाप दिखाया जा सकता है। दूसरे का पाप जब तक तुम्हें अपने भीतर नहीं दीखे तब तक उस बारे में लिखने के तुम अनधिकारी हो। वेश्या कही जाने वाली बहिनों के हृदय और आत्मा की अपेक्षा उनके निम्न समझे जाने वाले कर्मों को देखा और दिखलाया जायगा तो उससे मन में दुर्वचन के लिए जगह खाली नहीं रह जायगी, क्योंकि वह मन सहानुभूति से भर आयगा।

इस से साफ है कि जहाँ चुनौती और सीनाजोरी है वहाँ भी मूल में छल ही है। कपट और दर्प दोनों एक रोग हैं।

मन का यह असत्य ही वस्तु में अनिष्टता पैदा करता है।

अश्लीलता को लेकर हम आतंक में न पड़ें। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध से उसका कोई सन्बन्ध [नहीं है। वैसे तो विवाह संस्कार, गृहस्थ धर्म, पितृऋण, मातृ-सेवा आदि सब शब्द झूठे पड़ जायेंगे। विवाह से वर कन्या पति-पत्नी बनतेहैं। अर्थात् विवाह उन्हें परस्पर में भोग द्वारा संतति सृष्टि करने की अनुमति देता है। विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान है। इसी तरह पितृत्व, मातृत्व आदि समाज को कायम रखने वाली पवित्र संस्थाएं हैं।

अश्लील शब्द का प्रयोग उनके सम्बन्ध में एकदम असम्भव है। वहाँ वह शब्द ही अश्लील है। समाज की ओर से विहित एवं विवाहित होने के कारण उनके परस्पर प्रजोत्पादन में सत्य का स्वीकार है और असत्य का परिहार है। इसी से वह संस्कार है।

असत्य के आधार पर नैतिक शिष्टाचार की बहुत ऊँची इमारत खड़ी की जा सकती है। पर नींव में घुन है इससे वह इमारत ढहने को ही खड़ी है। बड़े-बड़े ऋषिमुनियों के पतन की कहानियों का क्या भेद है ? वह यही असत्य।

अश्लीलता के कीटाणु सत्य की धूप से ही मरेंगे। आँखों से उन्हें लुकाने-छुपाने की नीति से वे अंधेरा पाकर और भी बढ़ सकते हैं। बुराई अंधेरे में फैलती है। हवा और धूप लगने से वह छू होती दीखती है। यह कहना क्या गंगा को उलटा बहाना न हो जाएगा कि हवा और धूप में अश्लीलता को न आने दो, क्योंकि इससे हवा खराब होगी और धूप मैली होगी ? महान् साहित्य में और धर्म में वह चीज यदि अनिवार्य रूप से है कि जिसको कहने वाले अश्लील कह दें, तो क्यों ? कारण कि समग्र और सम्पूर्ण में निषेध किसी का नहीं है। शरीर अपने प्रत्येक अवयव और जीवन अपनी सब प्रवृत्तियों को लेकर वहाँ स्वीकृत है। किसी को भी काट कर कम करने की जरूरत नहीं है। आत्मा की साधना में उनको नाश नहीं वश करना है। अर्थात् सधा शरीर ह्रस्व और हीन नहीं होता, केवल आत्मगत होता है। इसी से जहाँ शरीर-धर्म एकदम अनुपस्थित है वहाँ आत्मा की महत्ता भी असिद्ध है। महान् में क्षुद्र इसी कारण क्षुद्र नहीं रहता कि महत्ता के साथ वह समरस हो जाता है। महान् साहित्य महान् नहीं रहेगा अगर वह केवल नीका और भला रह जाएगा। अपूर्णताओं के मेल से पूर्णता बनेगी। उन्हें छोड़ते चलने से पूर्ण नहीं, शून्य हाथ रह जायगा।

पर यह सब कहने के बाद भी प्रश्न जो रह जाता है वह यह कि बच्चे के हाथ चाकू कैसे न पहुँचे ? चाकू गलत न हो, पर बच्चे के हाथ पड़कर तो उसमें खतरा है।

सच पूछिये तो सवाल का रूप यही है। और इसका उपाय समझदार

लोग जहाँ जैसी स्थिति हो करें। ईश्वर की ओर से तो आदमी को बुद्धि मिल गयी है जो उसकी अनुकम्पा से परिमित भी है। अनन्तर ईश्वर ने उसके चारों ओर अपनी प्रकृति की खुली पुस्तक रख दी है। पुस्तक खुली है, हमारी अविद्या का ही बीच में पर्दा हो तो हो, स्वयं उसपर अवगुंठन नहीं है। जीव-जन्तु, लता-वनस्पति अपने रहस्यों को लेकर हमारी आँखों के आगे लीला सम्पन्न कर रहे हैं। अर्थात् ईश्वर ने मनुष्य का विश्वास किया है कि दया की भी अधिकता नहीं की है। अपनी अनोखी करुणा में उसने मनुष्य को अवसर दिया है कि वह प्रकृति को देखकर चाहे तो अपने को उद्भ्रान्त भी बना ले। हाँ, ऐसे ही वह अपने को उत्तरोत्तर मुक्त भी बना सकता है। ईश्वर की ओर से मनुष्य को तो स्वराज्य ही है।

इसी तरह अश्लीलता के प्रश्न के बारे में मेरी धारणा है कि हवा और धूप खूब लगने देनी चाहिए। अश्लीलता बिचारी भला कहाँ धरी है वस्तु में ? और हो तो उसमें दम कितना है ?

बालक किशोर होता है और उसमें लाज समा जाती है। कन्या वय पाकर अपने आप ही में रोमांचित हो रहती है। वे दोनों बढ़ते-बढ़ते वर-वधू, पति-पत्नी, पिता-माता बनते हैं। यह सहज राह है। शंकित निगाह से देखो तो यह बढ़ती हुई अश्लीलता की राह दीख सकती है। पर अश्लीलता कोई हौआ न हो तो यही सहज जीवन की भी राह है।

असल चीज अश्लील को समझना नहीं, धर्म को समझना है। धर्म सबको धारण करता है। यहाँ तक कि धर्म की श्वास से भोग भी न्याय्य होता है। गाँधी जी के जीवन में धर्म का बीज ही तो था। उसको लेकर वह किशोरावस्था में किशोर, यौवन में युवा और गृहस्थी में गृहस्थ रहे, फिर भी उन सब दशाओं में से होकर बराबर मुक्ति की ही दिशा में बढ़ते रहे।

और धर्म वृत्ति का प्रश्न है, वस्तु का वह थोड़े ही है।

पर लीजिये यह जाने कहाँ किनारे से दूर में आ रहा। और कह गया इतना कि विसात से बाहर। पर मशरूवालाजी मुझे गुरुतुल्य हैं और बालक को बहुत माफ़ होता है। यही ढाढस है। लेकिन आपके पत्र की जो इतनी जगह ली सो क्या आप भी माफ कर सकियेगा ?

: २ :

अश्लीलता पर कुछ व्यावहारिक सुझाव

(‘जीवन-साहित्य’ के सम्पादक के नाम)

प्रिय सम्पादक जी,

इस बार में कुछ और लिखता पर मशरूवाला जी के ‘सापेक्षवाद’ ने मेरी कुछ कठिनाई मेरे सामने ला दी है। उसे लाँघकर बढ़ना मुश्किल है।

जिन्दगी में दो चीजें हैं : विचार और कर्म। असल में तो ये दो नहीं होनी चाहिएँ। उनमें पूर्वापर सम्बन्ध होना चाहिए। करना विचारने का फल होना चाहिए। पर प्राय: विचारक विचारते रहते हैं और कर्म-पक्ष उनमें मूच्छित हो रहता है और कर्मठ हैं जो विचार का कष्ट नहीं उठाते। दुनिया के लोगों में इनका सन्तुलन और ऐक्य विरल है। सबमें इनकी तरतमता ही मिलती है।

यहाँ एक बात साफ है। विचार व्यक्तिगत है, कर्म वैसा व्यक्तिगत नहीं रहता। कर्म पर बाहर की भी रोक-थाम है। विचार पर भीतरी रोक-थाम ही हो सकती है। कर्म परस्परता उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष हिसाब में आता है तो कर्म। विचार तो दीखता भी नहीं। विचार और भावना के यन्त्रोपकरण तभी तो भीतर अलक्ष्य रखे गये हैं। कर्म के उपकरण हमारे दीखनेवाले अंगोपांग हैं।

इस पर से मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि केवल विचार और भावना की समस्याओं को लेकर अखबारी लिखा-पढ़ी नहीं की जानी चाहिए। समस्या सामुदायिक यानी व्यवहार की होकर ही सार्वजनिक पत्रों द्वारा विचारणीय बनती है। अर्थात् किसी प्रश्न को शास्त्रीय रूप नहीं मिल जाना चाहिए। वह शास्त्रीय बना कि खोया भी गया। फिर वह विवाद के भँवर से छूट नहीं पाता।

कभी खयाल नहीं था कि अश्लीलता की चर्चा में मैं पड़ूँगा। ऐसे प्रश्नों की चर्चा हो तो सकर्मक होनी चाहिए। यानी अश्लीलता को परिभाषा पहनाना नहीं, बल्कि उसका निराकरण करना हो, तभी चर्चा छिड़े तो उसमें योग दिया जा सकता है। अश्लीलता की चुनौती यह नहीं है कि उसे जानो, वह तो यह है कि उसे जीतो।

मुझे अचरज हुआ था कि श्री मशरूवाला इस प्रश्न को विचार में नीचे उतारकर अमल की सतह से यह दूर क्यों खींच ले चले? तथ्य पाने चला जायगा तो अश्लीलता तो एकदम अतथ्य वस्तु निकलेगी, और इस ढंग से देखने पर वह वीर्य-व्यय के साथ नहीं बल्कि असत्य के, कपट के साथ जुड़ी हुई पायी जायगी। मैं अब भी मानता हूँ कि देह से या वीर्य से उसका सम्बन्ध नहीं, मन के मैल से उसका सम्बन्ध है और हम भारी भूल करेंगे अगर देह से चिपटा हुआ उसे देखेंगे।

न न, विचार में सापेक्षवाद को कोई मौका नहीं। दो और दो चार ही हो सकते हैं। न एक अंश कम, न एक अंश अधिक। चार के कितने भी आसपास हो, वह संख्या ग़लत ही कहलायेगी; दो और दो के योग-फल के रूप में एक और अकेला चार ही होगा जो सही उत्तर होगा। इस धरातल पर बाल-बराबर फर्क भी असह्य होना चाहिए। यहाँ का अपेक्षा-वाद विचार-शिथिलता का ही दूसरा नाम है।

अर्थात् पदार्थ-विवेचन और तत्त्व-निर्णय का जहाँ प्रश्न है वहाँ कोई दूसरी और अपेक्षा नहीं है। वहाँ बस मैं हूँ और मुझ पर प्रतिफलित

सत्यानुभूति है ; किन्तु यह व्यक्तिगत तल की बात है। सत्य को कोई चुका नहीं सकता। सबको सत्य की एक झांकी ही प्राप्य है। आदमी को अधिक-से-अधिक इतना ही हक पहुँचता है कि वह अपनी झांकी पर प्राण दे दे, पर उसे इन्कार न करे। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सत्य के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध उपासना, प्रार्थना और आराधना का ही हो सकता है। स्वानुभूत सत्यांश के आग्रह में हां प्राण भी निछावर किये जा सकते हैं।

किन्तु उस व्यक्ति-धर्म के धरातल से उतरकर हमें प्राप्त होती है—अहिंसा। व्यवहार-धर्म वह है। कहना चाहिए कि सामाजिक मनुष्य का सत्य अहिंसा है। व्यक्तिगत भूमिका से अलग जब सामाजिक भूमिका पर किसी समस्या का विचार प्रस्तुत हो तो उसके लिये कसौटी अहिंसा हो सकती है, न कि सत्य।

इस ऊपर की बात पर ज्यादा जोर भी कम है। यदि हम किसी विचार को कर्म में सफल करना चाहते हैं तो उसका मतलब यही है कि उस विचारणा द्वारा हम अहिंसा को सिद्ध करना चाहते हैं। यह व्यवहारोपयोगी विचार-प्रयोग की सीमा और शर्त है।

व्यवहारोपयोगी विचार शास्त्रीय और वैज्ञानिक विचार से भिन्न हैं। विज्ञान में और दर्शन आदि शास्त्रों में विचार स्वयम् अपना इष्ट हो सकता है। वहां कर्म द्वारा उसके समर्थन की अपेक्षा नहीं है। वह निरपेक्ष है। किन्तु व्यावहारिक विचार निरपेक्ष हो सकता ही नहीं है; न उसे होना चाहिए।

शास्त्रीय विचार में अपेक्षावाद नहीं चल सकता। वहां सापेक्षता का इस्तेमाल है भी तो, निषेध (elimination) के प्रयोजन से।

पर व्यवहार की तो शर्त ही अपेक्षावाद है। मैं ही सच्चा हूँ, यह मानकर चलने से तो अगले कदम पर झगड़ा आ जायगा। इसलिए

मानना पड़ेगा कि वह भी सच्चा है और तुम भी सच्चे हो। सब अलग-अलग कहते हैं। पर सब अपने ढंग से ठीक भी कह सकते हैं।

श्लील-अश्लील का प्रश्न ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य का प्रश्न नहीं है। पहला सामाजिक है; दूसरा व्यक्तिगत। ब्रह्मचर्य की परिभाषा श्लीलता की परिभाषा नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य परम धर्म है। वह मुक्ति तक साथ है। श्लील-अश्लील की व्याप्ति थोड़ी है। सामाजिक से बाहर उस प्रश्न की स्थिति नहीं है।

लोक-मर्यादा और लोक-शिष्टता से अश्लीलता के प्रश्न का सीधा सम्बन्ध है। उसमें पारिवारिक शील की रक्षा का प्रश्न गर्भित है। हमको जानना चाहिए कि समाज परिवारों को लेकर बनता है और विवाह पर बनता है। परिवार में माता-पिता और पुत्र-कन्या आदि होते हैं। स्पष्ट है कि परिवार को मिटाकर समाज नहीं बन सकता और विवाह को मिटाकर परिवार नहीं फल सकता।

ब्रह्मचर्य तो परम-धर्म है। उसका दायित्व ऐहिकता पर समाप्त है। नहीं ब्रह्मचर्य के खिलाफ यह दलील नहीं दी जा सकती कि उससे फिर समाज कैसे चलेगा! व्यक्ति को सामाजिक नहीं, वरन् उससे भी आगे समष्टिगत यानी सर्वात्मरूप बनाने की साधना ब्रह्मचर्य की है। इससे एक जगह जाकर ब्रह्मचर्य की परिणति जाहिरा असामाजिक भी दीखती है।

पर मैं मानता हूँ कि श्लील-अश्लील को ब्रह्मचर्य के रूप में देखना भूल से खाली नहीं होगा। अगर वीर्य-दमन को श्लीलता की कसौटी माना जायगा तो उससे व्यवहार सँभलेगा नहीं, बल्कि उल्टे गड़बड़ में पड़ जायगा। सास अपनी बहू को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे तो क्या हमें उसे अश्लील मानना होगा? मशरूवालाजी की बतायी कसौटी व्यवहार का नहीं काम देती और वह लोक-नेतृत्व की कुशलता में से नहीं

निकली है—यह मानने के कारण ही उस बारे में कुछ लिखना पड़ा था। वीर्य-रक्षण उपादेय है ही, पर लक्षण के रूप में और तो और वह ब्रह्म-चर्य का लक्षण भी नहीं कहा जा सकता। उसको लक्षण मानने से लाभ से अधिक ब्रह्मचर्य की हानि ही हुई है। अश्लीलता के प्रसंग में तो वह एक दम असंगत है ही।

पति-पत्नी स्वेच्छित भाव से भाई-बहन के तौर पर रहने लगें, तो मेरे लेखे यह अपने आप में सचमुच बहुत इष्ट बात हो। पर अश्लीलता के विरोधी को आवश्यक रूप से इसी का उपदेश करने में नहीं लग जाना होगा। एक सद्गृहस्थ अश्लीलता का विरोध कर सकता है, बल्कि सच पूछिए तो यह गृहस्थों का ही काम है। अश्लीलता कौटुम्बिक मर्यादा और शील की जड़ों को खाये जा रही है। कुटुम्ब की पवित्रता की रक्षा में ही अश्लीलता की बाढ़ से लड़ना और भी अनिवार्य है। लेकिन अश्लीलता यदि वीर्य-व्यय आदि किसी स्थूलता से जोड़ी जायगी तो क्या हम यह नहीं देखते कि उससे तो फिर गार्हस्थ्य की नींव ही उखड़ जायगी। अरे, पिता को अपनी पुत्री के शील की चिन्ता इसीसे तो है कि वह पिता है। क्या अपनी कन्या के सम्बन्ध में उसे हम याद दिलाना चाहेंगे कि वह पिता क्यों है ? हम कृपया कोई ऐसी बात न करें कि मातृत्व को अपने ऊपर लज्जित होना पड़े।

अश्लीलता से बचने की दिशा में पहली आवश्यकता यह बताना है कि अपने प्रति ईमानदार रहो। कोई पुस्तक पढ़ते हो तो छिपाओ मत। दुष्कर्म कुछ बनता भी है तो झूठ मत बोलो। छिपो मत, चुराओ मत। दुर्गुण है, तो कृत्रिम साधुता की ओट उसे मत दो। विकार निर्बल पड़ेंगे तो ऐसे ही। अन्यथा मन को मैला और लँगोट को कसा रखने से कुछ न होगा।

सार्वजनिक रूप से अश्लीलता के प्रति अरुचि उत्पन्न करनी होगी; क्योंकि वह तो पाप भी नहीं है, केवल गंदगी है। साहित्य में की

अश्लीलता को दूर करना है तो साहित्यिकों से बहस नहीं मोल लेनी होगी, बल्कि उन्हीं से कहना होगा कि तुम जिसे गन्दा मानते हो, वही तो तुम्हारी उज्ज्वलता के विकास को रोक रहा है। साहित्य के कर्मियों को मौका देना होगा कि अपने क्षेत्र की गन्दगी को वे खुद ही दूर करें। उन्हें उनकी परिभाषा बनाकर नहीं देनी है, उन्हें स्वयम् अपनी परिभाषा बना लेने देना है। लोकनेतृत्व के लिए हम लोगों पर आरोप की भाँति नहीं आ सकते। वह काम हम स्वयं उत्तरोत्तर उनके हृदय की वाणी बन कर सहज कर सकते हैं।

ऊपर अहिंसा का शब्द आ गया है। कट्टरता एक हिंसा है। और अहिंसक में अधिकाधिक स्थितियों की समाई है। अहिंसक सहानुभूति से कोई वंचित नहीं हो सकता। जो पतित है अहिंसक उसके आगे उतना ही अनुतप्त है; क्योंकि हरेक पतन उसे अपना दोष लगता और प्रभु-प्रार्थना में लीन करता है। कोई हमसे कटकर छूट जाता है तो वही मानो हमारी अहिंसा को चुनौती है। इससे यदि लोक-जीवन को सम्भालने के लिए चलना है तो उसपर ऊपर से कुछ डालना नहीं, बल्कि भीतर से ही कुछ उभारना होगा। नीति के सूत्र देने से अधिक नैतिक जाग जगाना इष्ट है।

मैं सोचता हूँ कि इस स्थल पर यह विचारना अधिक उपयोगी होगा कि अश्लीलता के प्रतिकार के लिए किस सार्वजनिक उपाय का अवलम्बन किया जाय? भारत की कोई केन्द्रीय साहित्य-संस्था काम करती हुई हमारे पास नहीं है। भारतीय-साहित्य-परिषद् जब थी, तब गांधी जी की प्रेरणा से उस ओर दिशा-दर्शक एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया गया था। पर काका के शब्दों में वह परिषद् तो सुला दी गयी। राष्ट्रभाषा की भी कोई हिन्दुस्तानी संस्था नहीं है। तब प्रयाग का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन है। क्या उसके द्वारा प्रयत्न किया जाय? सोचना चाहिए कि अपने अगले अधिवेशन में क्या वह इस दिशा में कुछ दिशा-दर्शन दे सकता है? दूसरे

लोग अपनी भाषा या अपने प्रभाव के क्षेत्र में क्या कर सकते हैं यह देखें। सम्पादक की हैसियत से आपसे विनय है कि विवेचन से हटकर व्यावहारिक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में क्या और कैसे कुछ किया जा सकता है, इसपर कृपया ध्यान दें। और 'जीवन साहित्य' द्वारा अन्य हितैषियों से सुझाव माँगे।

इस आलोचन-विवेचन का यदि कोई अमली परिणाम निकल सका तो वह भी क्षम्य और सार्थक हो जायगा। नहीं तो इससे पहले कि विवाद तर्क-विलास का रूप ले, उसे समाप्त कर देना चाहिए।

: ५८ :

कला और जीवन

भाई माचवेजी,

पत्र मिला।.........

मेरे बारे में यह बात आप जान लें कि किताबों में मेरी पहुँच कम है। इसलिए मेरा जवाब थोड़ा और सादा ही हो सकता है।

जीवन से कला को तोड़कर मैं नहीं देख पाता। सत्याभिमुख विशेषण मैंने लगाया है। अर्थात् जो हम हैं, वही हमारा जीवन नहीं है। जो होना चाहते हैं हमारा वास्तव जीवन तो वही है। जीवन एक अभिलाषा है। जब कला के सम्बन्ध में 'जीवन' शब्द का उपयोग करता हूँ तब उसे आप उस चिर-अभिलाषा की परिभाषा में ही समझें। उस अर्थ में समझने से जीवन और कला का विरोध, या Parallelism उड़ जाता है।

क्या जो होना चाहते हैं, वही हम हैं? क्या कभी भी वैसे हो सकेंगे? स्पष्टतः नहीं। किन्तु इसका क्या कभी भी यह मतलब है कि Aspiration व्यर्थ है? यह मतलब करना तो सारी गति और चेष्टा को मिटा देना है।

आदर्श और व्यवहार में अन्तर है। वह अन्तर एक दृष्टि से अनन्त-काल तक रहेगा। उस दृष्टि से वह अनुल्लंघनीय भी है। किन्तु इसीलिए तो उस अन्तर को कम करना और भी अनिवार्य है। आदर्श अप्राप्य है, क्या इसी से उसके साथ एकाकारता पाने के दायित्व से हमारी मुक्ति हो जाती है?

इसी से कला को 'कला' के ही क्षेत्र की वस्तु न मानने देकर उसे जीवन में उतारने की वस्तु कहते रहना होता है।

जो कला वास्तव से असम्बद्ध होकर ही जी सकती है, वास्तव के स्पर्श से जो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो रहती है, मेरे निकट तो वह ह्रस्व प्राण है। मैं उसे गिनती में नहीं लाता। कला अपने भीतर भरी श्रद्धा की शक्ति से 'वास्तव' को संस्कृत करने के लिए है, उससे परास्त होने के लिए नहीं।

कला मात्र स्वप्न नहीं। वास्तव के भीतर रमी हुई वास्तविकता है। जैसे शरीर के भीतर रमी हुई आत्मा। वह अधिक वास्तव है।

जिस आदर्श क्षेत्र को हम कलात्मक चेतना से स्पर्श करते हैं, जिस स्वर्ग की हम इस प्रकार झांकी पाते हैं और उसके आह्लाद को व्यक्त करते हैं, क्या उस स्वर्ग में अपने इस समग्र शरीर और शारीरिक जीवन के समेत पहुँचे बिना हम तृप्त हों ? तृप्त नहीं हुआ जा सकेगा। इसीसे तमाम जीवन के जोर से कला को पाना और वहाँ पहुँचना होगा।

Oscar Wilde को मैंने कुछ पढ़ा है। मैं उसे भटक गया हुआ व्यक्ति समझता हूँ। विचार की सुलझन उसकी विशेषता नहीं।

अपनी रचनाओं की विविधता पर मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। न उनमें कोई ऐसा विरोध देखता हूँ। हाँ, विविधता तो देखता ही हूँ।

और सबका विविध मूल्य भी आँकता हूँ। 'एक टाइप' और 'राज-पथिक' में स्थान-भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षा से तो दोनों में एक-सा ही सत्य है।......

यह स्वीकार करना होगा कि मैं अपनी किन्हीं रचनाओं में भाव-प्रवण अधिक हूँ, कहीं जीवन-समीक्षक विशेष। किन्तु कहानियों के साथ में अपना सम्बन्ध चिन्तापूर्वक स्थिर नहीं करता हूँ और अपनी सभी रचनाओं को मैं प्रेम करना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ, छोटी और तुच्छ वस्तु मेरे लिए कहीं कुछ रहे ही नहीं। धूल के कन में भी मैं उस परम प्रेमास्पद परम रहस्य को क्यों न

देख लेना चाहूं जिसे 'परमात्मा' कहते हैं। और वह परमात्मा कहाँ नहीं है? आज कीचड़ में ही उसे देखना होगा। यही आस्तिकता की कसौटी है। **मूर्ति में तो अल्प श्रद्धावान् भी देख पाता है।**

कलाकार उसी अपरिमेय श्रद्धा का प्रार्थी है और तब कहाँ उसके हाथ Soiled हो सकते हैं। वह तो सब जगह अपूर्व महिमा के दर्शन कर और करा सकता है। यदि में खाद की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ अपना मौलिक उपयोगी अनुभव लोगों को बता सकूँ तो यह मैं साहित्यिक जैनेन्द्र के लिए कलंक की बात नहीं समझूँगा, प्रत्युत श्रेय की बात ही समझूँगा।

हम क्यों कला को छूई-मुई-सी वस्तु Hot House Product बनावें। वह शीशे में बन्द प्रदर्शन की वस्तु ही बनकर रहने वाली क्यों बने, वह क्यों न महाप्राणवान सर्वथा अरक्षित, खुली दुनिया में अपने ही बल पर प्रतिष्ठित बनी खड़ी हो? मेरी कल्पना है कि ऊपर के वाक्यों में अपने प्रश्न के सम्बन्ध में मेरी स्थिति का कुछ आभास प्राप्त होगा।

ता० २५–९–३५

······मुझे अपने वाक्यों में विरोध नहीं दीखता। अन्य विचारकों के वाक्य जो आपने लिखे हैं, उनके साथ भी मेरी स्थिति का अविरोध बैठ सकता है। हम को मान लेना चाहिए कि जो शब्दों में आता है, सत्य उसके परे रह जाता है। उसकी ओर संकेत कर सकें, यही बस है। वह भला कहीं परिभाषा में बँधने वाला है! इससे लोगों के भिन्न-भिन्न वक्तव्यों का भाव लेना चाहिए। मैं जिसे 'सत्य' शब्द से बूझता हूँ, उसमें तो सत्ता-मात्र समाई है। जगत् का झूठ-सच सब उसमें है। 'वास्तव' से मेरा अभिप्राय लौकिक सत्य से है जिसको भरने के लिए सदा ही 'असत्य' की आवश्यकता होती है। जीवन में तो द्वन्द्व है ही

किन्तु लक्ष्य तो निर्द्वन्द्वता है। जीवन विकासशील है। क्या कला जीवन से अनपेक्ष्य ही रह सके ? ऐसी कला तो दंभ को पोषण दे सकती है।

ता० २१-११-३५

मैं लिखना न छोड़ूँ, हो जो हो,—यह आप कहते हैं। आप ठीक हैं। लेकिन मैं अपने लिखने को वैसा महत्त्व नहीं दे पाता। मैं नहीं लिखता, इससे साहित्य की क्षति होती है, यह चिन्ता मुझे लगाये भी नहीं लगती। जब मुझ में वह भाव नहीं है, तब उसे ओढ़ूँ क्यों ? मैं उसे अपने ऊपर ओढ़कर बैठना नहीं चाहता। साहित्यिक विशिष्ट व्यक्ति मैं अपने को एक क्षण के लिये भी नहीं समझना चाहता। ऐसा समझना अनिष्ट है। ऐसी समझ, मैं देख रहा हूँ, बहुत अंश में आज हिन्दी के साहित्य को हीन बनाये हुए है।

मानो जो साहित्यिक है उसे कम आदमी होने का अधिकार हो जाता है, अथवा कि वह उसी कारण अधिक आदमी है ? इसलिए मैं उस तरह की बात को अपने भीतर प्रश्रय देना नहीं चाहता। पर, मैं देखता हूँ, मुझे अपने ही कारण लिखना नहीं छोड़ना है। क्योंकि जब साहित्य का जिम्मा मेरे ऊपर नहीं है तब मेरी अपनी मुक्ति तो मेरा अपना ही काम है। और कब आत्म-व्यक्तीकरण मुक्ति की राह में नहीं है ?

ता० ३१-८-३६

'राम-कथा' जैसी चीजें मैं लिखना विचारता हूँ। लेकिन देखता हूँ कि मेरी राह जैसी चाहिए खुली नहीं है। मैं सोचा करता हूँ कि जब मेरे साथ यह हाल है, तब नवीन लेखकों की कठिनाइयों का तो क्या पूछना। मैं तो अब पुराना, स्वीकृत भी हो चला हूँ। जो नये हैं, उनके हाथों नवीनता तो और भी कठिनाई से वे लोग स्वीकार करेंगे।

कठिनाइयाँ जीवन का Salt हैं पर उनको लेकर व्यक्ति में Complexes पैदा होने लगते हैं। वही गड़बड़ है। उनसे बचना।

अब तुम्हारे सवाल, जो कभी शान्त न होंगे। सवाल है ही इसलिए नहीं कि वह शान्त होकर सो जाय। वह सिर्फ इसलिए है कि अगले सवाल को जन्म दे। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। वह दंभी नहीं तो मूढ़ है जो जताता है कि उसका प्रश्न हल हो गया। वह मुक्तावस्था है और मुक्तावस्था आदर्श है, अर्थात् वह एक ही साथ तर्क का आदि है और अन्त है। तर्क के मध्य में, और जीवन के मध्य में, आदर्श-स्थिति का स्थान नहीं समझना चाहिए। इसलिए सवाल का समाधान नहीं है, मात्र परिणति है। बाहर से उसका मुख भीतर की ओर फेरने से ऐसा परिणमन सहल होता है। इसलिए यह जो सिद्धान्त रूप से मान लो कि सवाल को फिर भीतर की ओर मुड़ना होगा और हरेक उत्तर अपने आप में स्वयं अन्ततः प्रश्नापेक्षी हो रहेगा। प्रश्नोत्तर द्वारा वस्तुतः हम परस्पर को ही पावें; अधिक की अपेक्षा न रक्खें।

कला हेतु-प्रधान होती है कि हेतु-शून्य ?

मैं कहूँगा कि कलाकार अपने में देखे तो कला हेतु-प्रधान क्यों, हेतुमय होती है। कलाकृति के मूल में मात्र न रहकर उसका हेतु तो उस कृति के शरीर के साथ अभिन्न रहता है। वह अणु-अणु में व्याप्त है। कलाकार की दृष्टि से कभी कला हेतु-हीन (अर्थात्, नियम-हीन, प्रभाव-हीन) हो सकती है ? और वह तो हेतु-प्राण है।

कलाकार के अस्तित्व का हेतु ही उसकी कला में ध्वनित, चित्रित होता है।

लेकिन बाहर की दृष्टि से मैं उसे सहेतुक कैसे मानूँ ? इस भाँति उसे सहेतुक मानना कलाकृति और कलाकार के बीच में खाई खोदना जैसा है। मनुष्य और उसका धंधा ये दो हो सकते हैं। पर मनुष्य और उसकी मनुष्यता (यानी, उसकी भावनाएँ) दो नहीं हैं। उसका व्यवसाय मनुष्य के साथ प्रयोजन-जन्य, मनुष्यता उसके साथ प्रकृतिगत है।

जहाँ मानव अपनी घनिष्ठता में अपनी निजता में, प्रकाशित है, वहाँ उतनी ही कला है। जहाँ अपने से अलग रक्खे हुए हेतुओं की राह से वह चलता है, और हेतुओं के निर्देश पर रचता है, वहाँ उतनी ही कम कला है।

कला में आत्म-दान है।

आत्म-दान सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ी नीति है, सबसे बड़ा उपकार है, और सबसे बड़ा सुधार है। अतः कला सुधार, उपकार, नीति और धर्म, सबसे अविरुद्ध है और सबसे अपरिबद्ध है। इस प्रकार कला सत्य की साधना का रूप है। वह परमश्रेय है।

कला तो निश्रेयस की साधिका ही है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वह भ्रान्त है। यह कहिए कि वहाँ कला ही नहीं है।

बात यह है कि मानव का ज्ञान अपने सम्बन्ध में बेहद अधूरा है। वह अपनी ही भीतरी प्रेरणाओं को नहीं जानता। यह सही नहीं है कि वह प्रयोजन को ही सामने रखकर चलता या चल सकता है। हेतु उसके भीतर संश्लिष्ट है, inherent है। जिसको अहं विकृतज्ञान में हेतु मान उठता है, उसके प्रति वह सकाम होता है। वह, इस तरह हेतु होता ही नहीं। मनमानी लोगों की गरज उनके जीवनों की वास्तव हेतु नहीं हैं। इस दृष्टि से हेतुवाद एक बड़ा भारी मायाजाल है। जो जितना महत्पुरुष है वह उतनी ही दृढ़ता और स्पष्टता से जानता है कि व्यक्तिगत कारण से कोई बड़ा ही कारण उसे चला रहा है। इतिहास के सब महापुरुष इसके साक्षी हैं। और मैं कहता हूँ कि इस व्यक्तिगत हेतु की भावना से ऊपर उठने पर ही सच्चे जीवन का आरम्भ और सच्ची कला का सृजन होता है। हेतुवादी वह संसारी है जो सांसारिकता से ऊँचा उठना नहीं चाहता।

(और तुम पूछते हो कि) अगर कला Self-expression ही है तो फिर मैं तो आज कला को Self-expression की परिभाषा में

ही समझने की इजाजत देना चाहता हूँ। यद्यपि इसमें (समझने में) खतरा है, फिर भी उसी प्रकार की परिभाषा यथार्थता के अधिक निकट और अंततः अधिक उपयोगी है।

पर, फिर भी वह तनिक भी उच्छृंखल नहीं और अधिक से अधिक दायित्वशील है। वह इसलिए कि जो हमारा भीतरी Self असली Self है वह बाहरी जगत के साथ अभेदात्मक है। हम असल में विश्व के साथ एकात्म हैं। जितना अपने को पाएँगे उतना ही, अनिवार्य और सहज रूप में, विश्व को पाएँगे। इसलिए प्रत्येक Self-expression, अगर वह अपने साथ सच्चा और जागरूक है तो प्रेमात्मक ही हो सकता है, विद्वेषात्मक तो हो सकता ही नहीं। साधना में जो आत्म-वंचना कर जाता है उसकी बात तो मैं करूँ क्या,—पर साधक व्यक्ति का Self-expression कभी अहितकर नहीं हो सकता। आर्टिस्ट साधक है। असल में साधक अनुभव करता है कि वासनाओं में उसका सच्चा 'स्व' ही नहीं है और वह वासना-रस को अनायास छोड़ता चलता है। वह अतिसहज भाव से दायित्वशीलता की ओर बढ़ता है और साथ ही विनम्रता की ओर बढ़ता है। इस भाँति साधक आर्टिस्ट के लिए जरूरी हो जाता है कि बाहर की कसौटी पर अपनी साधना को कसता भी रहे—कि वह उच्छृंखल, अविनयशील अहंमन्य तो नहीं हो रहा है। रोग की जड़ अहंमन्यता है और आर्टिस्ट अहंमन्यता का खोखलापन आरम्भ से ही देखता है।

कला बुद्धि-प्रधान हो कि भावप्रधान ?

बला से, कुछ भी हो। व्यक्तित्व में बुद्धि का खाना कहाँ है और भाव का कहाँ ? और जहाँ अपनी आत्मा का ही दान है वहाँ बुद्धि अथवा भाव को बच निकलने की जगह कहाँ है ?

और इन प्रश्नों को लेकर क्या कहूँ ? कितना भी कहते जाओ

तत्त्व उतना ही महन रहता है। सत्य की पुकार तो है कि आदमी सब नाते, सब बन्धन, तोड़ छूट पड़े।—तब कुछ समझ मिले तो मिल भी सकती है। अन्यथा सब वृथा है।

अपनी जिन्दगी के बारे में क्या कहूँ? क्या कुछ उसमें कहने लायक है? अभी तो मुझे कुछ पता नहीं।...

मैथिलीशरण जी को मैं क्या मानता हूँ? हिन्दी कवियों में आज मैं समझो उन्हीं को मान पाता हूँ। श्रद्धा के नाते उन्हें ही, समझ के नाते यों औरों को भी मान लेता हूँ।

१६-६-३६

......प्रोफेसरों का अविश्वास मैं समझ सकता हूँ। पर दिल से अहंकार निकाल डालने का तरीका ही यह है कि उसे हथेली पर ले लिया जाय। जिसे निन्दा से डरना नहीं है, वह प्रशंसा से डरे? जो अपवाद पर झल्लाते हैं, वे ही पर्याप्त से अधिक संकुचित हो सकते हैं। पर वे दोनों एक रोग हैं—नीति और लालसा।...

...जिसके प्रति मन में प्रशंसा न हो उसके प्रति Conscious झुकाव रखना सच्ची नीति है। 'नीति' का मतलब पालिसी नहीं, कर्त्तव्य भी मैं लेता हूँ। क्योंकि आखिर तो आलोचना की जड़ में अज्ञान ही है। इसी से जवाहरलाल जी की आलोचना वैसी लिखी गई जैसी लिखी गई।...

...शरद समाज के प्रति निर्मम हैं, पर व्यक्ति के प्रति निर्मम क्यों न हुआ जा सके? सच्ची निर्ममता मैं तो उसे जानूँ जो समाज के लिए व्यक्ति को तजे, समाज को ज्ञान के लिए, ज्ञान को तथ्य के लिए, और इस प्रकार अपने सब-कुछ को अखण्ड-सत्य के लिए। "अश्रुमती गौतम" क्यों भाई? सीधी बात है कि भाई इस से भाई।

उसमें tendency मेरे मन की है। लेकिन एक बात है। आत्म-

त्याग एक वस्तु है, आत्म-त्याग की भावना बिलकुल दूसरी वस्तु। जहाँ यह भावना प्रधान है वहाँ आदर्श-'वाद' है। और ध्यान रखना चाहिए, स्वयं आदर्श-'वाद' भी और वादों की तरह थोथा होता है। 'वाद' नहीं चाहिए, स्वयं आदर्श चाहिए। आत्मत्याग को एक Doctrine एक Dogma बनाकर व्यक्ति सचमुच स्वार्थी होने में मदद पाता है। तुम्हारी 'अश्रुमती गौतम' मुझे प्रतीत होता है, आदर्श की अपनी 'धारणा' से चिपटी रही। आदर्श को ही पकड़ती तो उससे चिपट नहीं पाती। क्योंकि आदर्श, जितने बढ़ते हो, उतना ही स्वयं बढ़ता जाता है। इसलिए आदर्श की ओर यात्रा करने वाला व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, उसका स्वभाव खुलता ही जाता है। जबकि आदर्श-'वादी' व्यक्ति अपने 'स्व' के घेरे को और मजबूत ही बनाता है। पर जैसे 'अ-रूप' की आराधना नहीं होती, आराधना स्वयं अ-रूप को स्वरूप दे देती है, वैसे ही जाने-अनजाने बुद्धि वादानुगामिनी होती है। और अश्रुमती, मुझे बहुत खुशी है, किसी Doctrine की नहीं, एक idea (गौतम-idea) की अनुगामिनी है। idea सप्राण वस्तु है। इसकी रेखाएँ बँधी नहीं हैं इसी से।

उपन्यास-लेखक में तप चाहिए

('साहित्य सन्देश' के सम्पादक के नाम)

प्रिय महेन्द्र जी,

आपके पत्र पर पत्र मिले। उपन्यास लिख गया हूँ, इससे उपन्यास के बारे में लिखने से आप मुझे माफ कर सकते थे। पर 'साहित्य-सन्देश' चलाने में माफ़ी के आदी शायद आप नहीं होना चाहते हैं।

पर क्या लिखूँ ! मेरे बारे में पहली सच बात यह है कि लिखने के क्षेत्र में मेरा अनधिकार प्रवेश हुआ। राज-मार्ग से मैं वहाँ नहीं पहुँचा। तैयारी नहीं थी, कुछ सीखा नहीं था, जाना नहीं था। ऐसी हालत में सन् १९२९ में 'परख' लिख गया। प्रश्न होगा, किन प्रेरणाओं से वह पुस्तक लिखी ? उत्तर में बाहरी परिस्थितियों की प्रेरणा तो यह कहिए कि मैं खाली था और नहीं जानता था कि अपना और अपने समय का क्या बनाऊँ। दूसरी, जिसे भीतरी कहनी चाहिए, यह कि एक घटना का बोझ मन पर था जिससे दबा न रहूँ तो मुझे हलका ही रहना लाजिमी था। कह नहीं सकता कि पुस्तक में जीवन की घटित घटना और मन की कल्पना के तारों का ताना-बाना किस तरह बैठा। पुस्तक घटना और कल्पना का कुछ ऐसा रासायनिक मिश्रण है कि उन दोनों के किसी अणु को भी एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

खैर, पन्ने कुछ काले हुए और वे छप गए। तब आलोचकों की जबानी मालूम हुआ कि मैं तो उपन्यास लिख गया हूँ। लेकिन साफ़ है कि उस विषय की कला अथवा विज्ञान से मैं एकदम कोरा था।

जैसा तब वैसा ही अब। उपन्यास कही जानेवाली रचनाएँ और भी मेरी दो-तीन हो गई हैं। पर हिसाब में आ सकने वाली जानकारी मेरी

उस सम्बन्ध में नहीं बढ़ी है। तभी तो एक अध्ययनशील मिलनेवाले ने जब हालमें मुझ से कहा कि 'कल्याणी' उपन्यास नहीं है, तो मुझे अचरज नहीं हुआ। क्योंकि उपन्यास की परिभाषा की परिधि-रेखा ठीक कहाँ रुक जाती है, इसका मुझे ज्ञान नहीं है।

मेरी एक कमजोरी है। उससे मैं तंग हूँ। पर वह मुझ से छूटती नहीं है। मूर्ख जानना चाहता है और मेरे साथ मूर्खता लगी है कि मैं जानना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि जाना जर्रे को भी नहीं जा सकता। अणु में विश्व है और जानकार कब कोई किसी को चुका सका है? इससे बुद्धि-मान जानने से अधिक पाना चाहते हैं। पर पाने की मुझ में शक्ति नहीं, इससे जानने को ललचता हूँ।

जीवन का सच्चा उपयोग जीना है। लेकिन जीने की सामर्थ्य नहीं, इससे उस जीने के अर्थ को, उसके नियम को, आदर्श को, उसकी नीति को समझ से पकड़ना चाहता हूँ। जीवन की राह का चलने से पता खुलता है। पर कुछ मूर्ख होते हैं, चाहे उन्हें अलग कह दीजिए, जो ठीक-ठीक चलने के द्वारा नहीं, अर्थात् प्राणों के द्वारा नहीं, बल्कि बुद्धि से, मीमांसा से और कल्पना से उस जीवन को समझना चाहते हैं। लेखक शायद इसी दयनीय कोटि के जीव होते हैं।

मैंने 'दयनीय' कहा, दूसरा 'गौरवशाली' भी कह सकता है। क्योंकि जगत्-व्यवहार के बहुतेरे धन्धे जीवन को कल्पना से भी छूने की ओर नहीं बढ़ते हैं। बल्कि वे तो जीवन से और उल्टी ओट लेते हैं। इस से उस विषय में नम्रता की अतिशयता मुझे नहीं करनी चाहिए।

ऊपर की मेरी धारणा से लेखन-कर्म की मर्यादा जो मैं मानता हूँ, वह भी प्रकट हो जाती है। अर्थात् लेखक वह है जो सौ-फीसदी सच्चा आदमी नहीं है। वह दूसरों में अपने को पूरी तरह खो नहीं पाता। उसमें अहं की गांठ रहती है। वह एकदम सेवक नहीं, कुछ स्वार्थी भी

होता है; पर मन उसका स्वार्थ में नहीं, प्रीति में रहता है। इस तरह दूसरों के अर्थ जब वह अपनी समग्रता को विसर्जित नहीं पाता कर तब उनके लिए अपने मन को तो सहानुभूति से भरा रखने की कोशिश में रहता ही है। यह द्वन्द्व उसकी वेदना है। इसीसे मुक्ति के प्रयास में वह लिखता है।

दार्शनिक मीमांसक है। वह व्यष्टि को लांघ सकता है। व्यवहार की ओर से आँख मींच सकता है। कर्म-जगत में क्या हो रहा है, इससे विमुख रहकर उसी के अन्तिम कारण के अनुसन्धान में वह व्यस्त हो जा सकता है। सहानुभूति से उसे लगाव नहीं। उसे तटस्थता चाहिए। पर उपन्यासकार का काम इससे कठिन है। तटस्थता तो उसे भी चाहिए ही, पर सहानुभूति भी कम नहीं चाहिए और समष्टि को समझने के लिए व्यष्टि को अन-समझा वह नहीं छोड़ सकता। व्यवहार से दूर जाकर कहीं आत्म-सिद्धान्त पाने की उसे छूट नहीं। उसे व्यक्त और पदार्थ जीवन में अव्यक्त आत्म-सूत्र घटित हुआ देखना है। उसे कार्य-कारण की उस श्रृंखला को खोज निकालना है जो एक ओर इस कर्म-कर्दम से भरे संसार को तो दूसरी ओर शुद्ध-चिन्मय ईश तत्त्व को थामती और समन्वित रखती है।

उपन्यासकार का क्या यों कुछ काम समझा जाता है, वह मैं नहीं जानता। शायद समझा जाता हो कि वह समकालीन जीवन का नक्शा दे और इस तरह समाज का ज्ञान बढ़ावे। अथवा कि समाज का सुधार करे। अथवा कि जनता का मनोरंजन करे। अथवा कि उसके चारों ओर चलने वाले राष्ट्रीय, जातीय या बौद्धिक आंदोलनों की पैरवी या आलोचना करे। गरीबों की गरीबी मिटा दे और अमीरों की अमीरी हरण करे। एक वर्ग को दूसरे वर्ग से विशिष्ट बने रहने में सहायता दे। वह जो हो, मेरे पास वह दृष्टि नहीं है, लाचार जो मेरे पास दृष्टि है,

में उसीसे क्या उपन्यास, क्या साहित्य और क्या राजनीति, सब को देख सकता हूँ।

दुनिया में बहुत-कुछ घटित हो रहा है। उसको घटना कहते हैं। वह क्यों घटित हो रहा है, शायद उसके कारण को भावना कह कर हम चीन्ह सकें। वही हाल बुद्धि कार्य के कारण की खोज चाहती है। आदमी मशीन नहीं है या मशीन है तो मन वाली मशीन है। उसके द्वारा होने वाले व्यक्ति-व्यापार का उसके मन की अव्यक्त भावना से सीधा सम्बन्ध है। जगत के मनोभाव ही जगत्-कर्म में प्रस्फुटित होते हैं। घटना इस तरह कार्य है, तो भावना कारण। उस कार्य-कारण की सूक्ष्म श्रृङ्खला को पकड़ना ज्ञान का लक्ष्य है। पूरी तरह तो वह समझ की पकड़ में आ नहीं सकती। क्योंकि अन्त में कार्य-कारण भेद ही भ्रान्ति है। इसी से कहना होता है कि सब का अन्तिम नियम और अन्तिम नियन्ता ईश्वर ही है, पर उस ईश्वर को दुरविगम्य प्रतीति में रखते हुए भी उसे अधिकाधिक रहस्य से प्रकाश में और कल्पना से समझ में लाने की आवश्यकता है। जाने-अनजाने मनुष्य का यही पुरुषार्थ है और युग-युग के भीतर वाणी द्वारा और कर्म द्वारा वह वही करता चला आ रहा है।

तो मैं उपन्यास में यही टटोलता हूँ कि उसमें जगत्-व्यापार और मनोभाव के बीच कैसी घनिष्ठ और सही और गहरी कार्य-कारण श्रृङ्खला बैठाई गई है। दूसरे शब्दों में कहो तो सत्य का कितना गहरा अनुसन्धान वहाँ मिलता है। अन्तिम सत्य का जितना मार्मिक उद्घाटन जिस रचना द्वारा मुझे मिले, उतना ही उसके प्रति मैं कृतज्ञ होता हूँ।

घटनात्मक वर्णन से अति पृथुल कोई रचना हो सकती है। उसमें बहुत चक्करीला प्लॉट हो सकता है, सैकड़ों पात्र हो सकते हैं। वैचित्र्य इतना हो सकता है कि खूब। लेकिन मेरी सहानुभूति को उदार और समझदार बनने में उससे मुझे मदद न मिले तो आत्यन्तिक मनोरंजन

के रहते भी उस रचना के प्रति उतना ऋणी-भाव मुझ से अनुभव न किया जायगा।

सत्यानुसन्धान की इस वृत्ति को लेखक में मैं पहले खोजता हूँ। ध्यान रहे कि यह दार्शनिक का सत्य नहीं है जो निस्पन्द हो सकता है। यह तो वह सजीव चिन्मय सत्य है जो हर स्त्री-पुरुष के हृदय में हर श्वास के साथ धड़कता सुन पड़ सकता है। और मैं मानता हूँ कि इस वृत्ति के भीतर समाज, या राष्ट्र, या जाति, या विश्व, या गरीव, या अमीर सव के हित की वात आ जाती है। अलग से किसी और उपयोगिता को पकड़ रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

मेरी मान्यता है कि हम चाहें अथवा न चाहें, प्रगति उसी ओर है। वाहरी घटती घटनाएँ यदि विचारणीय हैं तो इसीलिए कि वे कुछ भीतरी का प्रतीक हैं। भीतर की अपेक्षा में ही वाहर को समझा जा सकेगा। इसी तरह भीतर को वाहर से विरोधी वनाकर देखने की जरूरत नहीं है। मानव-जाति का साहित्य धीमे-धीमे, पर निश्चयपूर्वक उसी ओर वढ़ रहा है। उत्तम उपन्यास इसके प्रमाण हैं।

हाल में एक वन्धु का लेख देखा था। लेख हार्दिक था। उसमें था कि 'जोश' ही एक चीज है, मैं मानता हूँ। पर कुछ दिन हुए वम्वई में चौपाटी के एक प्रभात की याद आती है, लहरें एक से एक टकराती आतीं और किनारे पर फूट कर जोर की आवाज़ के साथ फेन वखेर जाती थीं। देर तक मैं वहां वँधा खड़ा रहा, हटने को जी न होता था। सन्नाटा था और ऐसा मालूम होता था कि समुद्र भीतर कहीं सिसक रहा है।

अव विचारी लहर को तो मैं जोशीला कह दूँ; पर उसके गर्जन को और उसके फेन को देखकर क्या समुद्र को भी मैं जोशीला कह सकूँ? हाय, यह मुझ से न होगा। समुद्र जोशीला नहीं है, तभी तो लहरें अपने

जाश के साथ उसकी छाती पर खेलती रहती हैं। और जहाज चलते रहते हैं और वम्बई उसके तट पर बसा हुआ है। लहरों का जोश दर्शकों के मन को प्रसन्न करता है; क्योंकि दर्शक जानते हैं कि यह लहरें ही हैं और समुद्र दयाशील है। इन लहरों का लहरीपन भी समुद्र-मर्यादा के भीतर रहने वाला है। समुद्र जिस क्षण मर्यादा छोड़ेगा, उस क्षण प्रलय ही न आ जायगी। इससे यदि समुद्र की सतह पर लहर खेल भी रही है तो उसके गर्भ में तो अगाध अवसन्नता है, अगाध अवसन्नता।

यह नहीं कि जोश का कायल होने से मैं वच सकता हूँ। पर ऐसा लगता है कि उस शब्द में ही ध्वनि है कि वह टिकाऊ नहीं है। जो टिका रहे, उसको भी क्या जोश कह सकते हैं ? जैसे कि जो उतरता नहीं उसे नशा भी नहीं कह सकते। और टिकता है उस जोश का पुराना नाम है तप। उसको नया भी कर सकते हैं। उपन्यास-लेखक में तप चाहिए। तप यानी कायम और ठण्ढा जोश। वह घूनी की आग वाला तप नहीं जो सस्ता हो गया है। पर वह तप जिसमें अपने अहं को जलाना पड़ता है। भोग में उस तप को विरक्ति होगी। और उस विराग द्वारा ही योग की खोखली असलियत को तपस्वी पकड़ कर चित्रित कर देता ह कि जिससे मालूम हो भोग सम्भोग नहीं है, वह तो सन्ताप है। व्यास ने किस जघन्य भोग को अपनी कलम से कीले विना छोड़ा है, कारण कि वह ऋषि थे। ऋषि ही जघन्य जघन्यता को जान सकता, माप सकता है। जगत के वे सव श्रेष्ठ उपन्यासकार जिन्होंने मानवता के हृदय को हिला दिया है, रुला दिया है; जिन्होंने मनुष्य को अपनी वुराई अपने अन्दर देखने को लाचार किया है कि दूसरे की भलाई देख सके, वे सव ऋषि हैं। गेरुए कपड़े के ऋषि नहीं, निर्वैयक्तिक जीवन आदर्शों में तिल-तिल अपने अहंकार को तपाने वाले ऋषि।

मेरे लिखने की अन्तिम जाँच यही रहे। और क्या कहूँ ! इस तरह

की हवाई बातों के अतिरिक्त उपन्यासों के सम्बन्ध में कोई काम की बात कहने का तो अधिकार मेरा नहीं है। अध्ययन न मेरा है, न शास्त्रीय।

: ६० :

हिन्दी-अंग्रेजी का भेद और सरकार

('आजकल' के सम्पादक के नाम)

संपादक जी,

'आजकल' के जुलाई अंक में आपने मुझ जैनेन्द्र पर एक अपना नोट लिखा है। क्या उसे आपकी कृपा मानूँ? मैं सार्वजनिक नहीं हूँ, एकाकी हूँ। सार्वजनिक होने के लिए किताबें हैं, जो बिकती हैं। उनकी राह से इस समूचे मुझको सार्वजनिक बना देना क्यों आवश्यक है, यह समझ में नहीं आता। राजनीतिक लोगों को प्रभाव की आवश्यकता है। वे केवल भाव या अभाव में नहीं रह सकते। इसलिए उनकी तस्वीरें छपें तो यह उनके और सबके लिये मुनासिब है। नोट के साथ मेरी शकल की तस्वीर भी आपने छापी है। तस्वीर बुरी लगती है, सो नहीं पर उससे क्या फायदा?

आपको यह पत्र में इसलिए लिख रहा हूँ कि उस नोट में एक काम की बात भी आ गई है। वह है गिरस्ती की गाड़ी चलने की बात। सचमुच वह गाड़ी आज हिन्दुस्तान में नहीं चल रही है। बहुत-कुछ वह टूटी जा रही है। कुछ लोगों के पास यों गाड़ी क्या मोटर-कार तक है जो चलती नहीं, हमेशा ही भागती है, अर्थात् गिरस्ती एक मध्य-वित्त संस्था के रूप में इतने बोझ के तले आ गई है कि बस सांस लेती ही वह जी रही है।

मेरी गिरस्ती इसमें अपवाद नहीं है। सच पूछिये तो वह उजागर उदाहरण है इस अनिवार्यता का कि व्यक्ति और समाज बदले। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का नियमन होता है अर्थ के आधार पर। इससे सारांश यह हुआ कि अर्थ-रचना बदले।

व्यक्तिगत रूप से मैं अनुभव करता हूं कि जिस अबोधा को मेरी पत्नी बनना हुआ है, और जिस पर मुझे सम्हाले रखने का काम आया है, वह नहीं समझ पाती कि इस दिल्ली में जहां मोटर है, बंगले हैं, आराम है और आनन्द है वहां वह और उसकी गिरस्ती उसके किस पाप के कारण इन सब न्यामतों से वंचित है। व्यक्तिगत रूप से मैं स्वयं इस पर खिन्न हूं, क्लान्त हूं, क्षुब्ध हूं। तदुपरांत मैं स्वाधीन हूं कि लेखक बनूं, या न बनूं। लेखक बन कर क्षोभ को मैं फेंक नहीं सकता, अपनाये ही रख सकता हूं। अर्थात् गरीबी से बिगड़ कर सीधी अमीरी पाने के प्रयत्न में मैं नहीं पड़ सकता हूं। वैसा करूं और कर सकूं तो शायद गाड़ी ठीक चलने लग जाय, और क्या अचरज कि गाड़ी तब मोटर बनकर सरपट दौड़ने लग जाय। लेकिन वह होने वाली चीज नहीं। क्योंकि स्वयं अपनेपन से छुटकारा पाना बन नहीं सकता।

यह देखकर मैं मान बैठा हूं कि पाप मैं स्वयं हूं। पत्नी को भी यही समझाता हूं कि उसके सारे कष्टों के लिए दुर्भाग्य और पाप को उसे और ढूंढने जाना नहीं है। पति के रूप में उसके आगे वह स्वयं मूर्तिमान है।

आज की अर्थ-रचना की समीक्षा में मैं आपको साथ नहीं लूंगा। वह चर्चा यहां असंगत है। उस दृष्टि से गरीबी मेरी परिस्थिति न रह कर समाज की व्यापक व्याधि बन जाती है। ऐसी व्याधि कि जिसमें सामने होकर अमीरी एक नंगी विडम्बना हो रहती है।

लेकिन उस सिलसिले में जो संगत है वह कह दूं। आपका पत्र सरकारी है। सरकार आज जनतान्त्रिक है। हिन्द की जनता और इसलिए सरकार भी आज हिन्दी ही रह सकती है। अंग्रेजी रह कर आगे वह चल नहीं सकती। अंग्रेजी पनप नहीं सकती। अंग्रेज विदेश के थे, विदेशी और देश के अतिथि के रूप में अब जो चाहें तो रहें, देश के शासक के रूप में वे या शासक-भाषा के रूप में अंग्रेजी नहीं रह सकते।

अब आपके प्रकाशन-विभाग में क्या हो रहा है ? वहाँ क्या हिन्दी को अंग्रेजी से निम्न बनकर नहीं रहना होता ? अंग्रेजी को अपने सम्बन्ध में सम्भ्रम और गर्व रखने का अवसर देते जाना आजकल स्वतन्त्र भारत में अपराध से कम नहीं गिना जाना चाहिए। लेकिन आपका 'आजकल' शायद अब भी पुराने 'कल' में रहना चाहता है। आपका प्रकाशन-विभाग शायद अंग्रेजों की डाली लीक से हटना नहीं चाहता। खैर, आप अपनी जानें। मैं उस अपराध में आपका साथ देने की हिम्मत नहीं रखता हूँ।

अंग्रेजी-हिन्दी में यह ऊँच-नीच का सम्बन्ध दुनिया के बाजार में है, हिन्दुस्तान के बाजार में है, यहाँ की सरकार के और विभागों में है, जहाँ समझदारी है वहाँ सब कहीं है—यह कहकर उस ऊँच-नीच को चलाये जाना अपराध की जगह कर्तव्य नहीं बन जाता। आपका विभाग अंग्रेजी को ऊँची कीमत देकर हिन्दी को नीची उजरत देता है तो उस नीचता को अपने ऊपर लेकर उस उजरत के रुपये से अपनी गिरस्ती की गाड़ी मजे में चलाने का साहस मुझमें नहीं।

मैं जानता हूँ कि सरकार के मंत्री और सेक्रेटरी बड़े-बड़े काम कर रहे हैं। उसमें इस छोटी बात के ऊपर ध्यान उनका नहीं भी जाता होगा। वह ध्यान जब तक जाय तब तक पाँच-सात-सौ-हजार गिरस्ती की गाड़ियाँ गिर कर टूट जाय तो मैं इसमें कुछ हर्ज नहीं देखता हूँ। मनुष्य सहज नहीं जागता। काम-धाम में वह इतना व्यस्त रहता है कि दुर्घटना ही उसे जगाती है। यह दुःख के स्पर्श से ही उतरता है। इसलिए गिरिस्तियों का टूटना और लोगों के दुःखों का बढ़ना इतिहास की प्रगति के लिए आवश्यक होता है। चीन कम्युनिस्ट हो गया है। कोरिया पर उसकी जीत चढ़ी चली जा रही है; और जगह भी उसके अस्तित्व की झाँकी लौ देकर जबतब जल आती है। उस सब की जड़ में दुख है, वह

दुख जो रचनात्मक और क्रियात्मक बन नहीं पाता, इससे ।जसके लिए ध्वंसात्मक और वादात्मक बनना ही शेष रह जाता है।

मेरी निष्क्रियता की आप चिन्ता न करें। व्यक्तिगत रूप में मेरी मृत्यु भगवान के हाथ है। लेखक के रूप में समझता हूँ मैं अवश्य अपने को मार सकता हूँ। इस छोटे से कर्त्तव्य के अधिकार को जो मनुष्यों को मिला है, मैं छोड़ने को तैयार नहीं हूँ। अर्थात् लेखक-रूप में कोई या किसी की मजबूरी मुझे जीने को मजबूर नहीं कर सकती है। किसी के जिलाये उस रूप में कोई जी नहीं सकता है। मेरी विनय है कि आप मेरी चिन्ता छोड़ दें। बस, अपने कर्तव्य का पालन करें। उसमें आप का और सबका भला निकल आने वाला है ?

आपके छपे नोट के उत्तर में लिखे गये इस पत्र को भी क्या आप छापेंगे ?

: ६१ :

साहित्य : सत्-असत् का द्वन्द्व

('विद्या' के सम्पादक के नाम)

भाई, आपका पत्र मिला, क्या यह जबर्दस्ती नहीं है कि आप जो माँगे वही मुझे देना हो ? आप कहानी चाहते हैं। तत्त्व को तात्त्विक ही न रहने देकर जब उसे व्यवहारगत उदाहरण का रूप दिया जाता है, तब वह कहानी बन जाता है। इसमें उसकी गरिष्ठता कम हो जाती है, रोचकता बढ़ती है। तत्त्व कुछ कठिन, ठोस, वज़नदार चीज जँचती है। कहानी की शकल में वही हलकी, रंगीन, दिलचस्प काल्पनिक वस्तु बन जाती है।

पर आपकी 'विद्या' उत्कृष्ट कोटि के होने का संकल्प उठाकर आने वाली है। ऐसी हालत में, मैं शिक्षितों और विद्वानों का अपमान नहीं करूँगा, अर्थात्, कहानी नहीं लिखूँगा। और, कुछ ऐसे शब्द ही लिख सकूँगा जो शिक्षितों की शिक्षा के अनुसार बेरंग हों और मूलें भी सरल न हों।

सच यह है,—दुनिया में द्वन्द्व दिखाई देता है। मनमें भी द्वन्द्व है, बाहर भी द्वन्द्व है। बाहर के द्वन्द्व को कुछ लोग व्यक्तियों की लड़ाई समझते हैं, कुछ वर्गों और जातियों का संघर्ष मान लेकर अपना समाधान करते हैं। वे लोग, राजाओं और राजवंशों के कृत्यों की तारीखों से भरे हुए इतिहास को पढ़-पढ़कर, उसमें से सिद्धान्त निकालते हैं। इतिहास, उनके निकट अमुक सिद्धान्त, अमुक तत्त्व के क्रम-विकास को सम्पन्न करने वाली अतीत क्रिया का नाम है। उस तमाम इतिहास में उनके निकट एक अनुक्रम है, निश्चित निर्देश है, एक तर्क है। ये सब ठीक हैं, और जो दुनिया को व्यक्ति के अर्थ रखने वाली माने वे उन से गलत क्यों

हैं । जो व्यष्टि को समष्टि के प्रयोजनार्थ समझते हैं वे गलत क्यों हैं ? और वे गलत क्यों हैं जो इतिहास का तमाम तत्त्व इस में समझते हैं कि हम जानें कि अमुक राजा किस सन् में मरा और फलां लड़ाई किस सन् में लड़ी गई ?

सब बात अपनी-अपनी भूमिका और अपनी-अपनी दृष्टि की है। और जो द्वन्द्व इस घोरता के साथ घट-घट में व्याप रहा है उसे मैं सत्-असत् का द्वन्द्व कह कर समझूँ इसमें मुझे सुख मिलता है। साहित्य में भी सत्-असत् की लड़ाई है। असत् कहने से यह न समझा जाय कि जिसमें बल नहीं है वह भी असत् है। नहीं ; बल्कि, मात्र आँखों से देखें तो बात उलटी दीखेगी। क्रोध में जो बल है, शान्ति में कहाँ है ? और हिंसा में प्राबल्य किसने नहीं देखा ? अहिंसा को कौन मानेगा कि वह उससे चौथाई भी प्रबल है ? लेकिन, फिर भी हम क्रोध को कहेंगे असत्, और हिंसा को कहेंगे असत्।

किसी को असत् कह कर व्यक्ति के ऊपर जिम्मेदारी आ जाती है कि वह सिद्ध करे, अपने आचरण और उदाहरण द्वारा प्रमाणित करे, कि जिसको उसने सत् माना है वह उससे कहीं शक्तिशाली है—अर्थात् क्रोध शान्ति की शक्ति के सामने अपदार्थ है और हिंसा अहिंसा की सात्त्विक शक्ति के आगे सदा ही पराजित है।

मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि इस सत्-असत् के युद्ध मे साहित्यिक सत् के पक्ष में अपने को खपायेंगे; यानी लिखेंगे तो उस पर आरूढ़ भी होंगे। इस भावना के साथ—

नवम्बर १९३४

विशिष्टशब्दानुक्रमणिका

अ

अनन्त १२
अव्यक्त १२
अन्तर्विरोध १४
अहिंसा १५, ६२, २४८, २५०, २५३, ४१७, ४२०
अहंकार १७, १६, १३२, १३३
अग्नि १७
अभेद १८
अनुभूतियाँ २०
अयोग्य २६
अन्तःसम्बन्ध ३५
अभिज्ञता ३८
अबोध ३६, ४०
अप्रेम ४१
असमर्थ ४५, ४८, ५१
असमर्थता ४७, ४८, ४६ ५०
अक्षमता ५०
अकिंचन ५२
असत् ५६, ४४३
अनिष्ट ६१
अशिव ६१
अंग्रेजी ६५, ६६, ६८, २६०, ३२२, ३२३, ३२४, ३२६, ४००, ४३६, ४४०
अधर्म १३७, १३८
अर्जुन १८६
अहंवाद २१४
अज्ञेय २१४, ३६७, ३६६
अंकुश २२२, २२५
अवज्ञा २७६
अमीरी २८०, २८१, ४३६
अश्लील ३१६, ३२०, ३२१, ४०५
अश्लीलता ३२१, ४०१, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०६, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१५, ४१८, ४१६
अमरीका ३२६

'अन्धे का भेद' ३४२, ३५१
अवारी ३४६, ३४८
अहंभाव ३७६
अहम् ३७७
अभारतीय ३८५
अभ्यंतर ३८५
अश्क ३९७
असत्य ४१३, ४२४
अपेक्षावाद ४१७

आ

आकृति ७, १८२
आँख ८, ९
आदर्श २६, ८७, ८८, २८, ५५, ५६, १६२, १७२, ३८४, ४३०
आदर्श-प्राण २७
आदर्शवाद १२, ४३
आस्तिक ३३, १६२
आइडियलिस्टिक ४०
आकार ४६
आनन्द-पक्ष ६३
आर्ट फार आर्ट सेक १०३, १०४, १०५
आलोचक १०९, १२२
आनुषंगिक १२५
आलोचना १४०, १४१, १४७, २९३
आध्यात्मिक १६२
आन्दोलन २०४, ४०२
आत्म-नियन्त्रण २१९
आत्मानुशासन २२३
आत्मिक २३३
आत्म-निर्माण २७०
आजादी ३२४
आनन्दभिक्षु सरस्वती ३४९
आत्मा (दान) ३६९, ३७०, ४२७
आत्महित ३८७
औसकर वाइल्ड ४२३
आजकल ३६४

इ

इष्ट १४, ६१, १६६
इतिहास १९, १९२, ४६, ६३
इटली १२
इस्लाम २२, ३७२
इंग्लिस्तान २४१

ई

ईसा ३०, ८२, ८५, २९८
ईश्वर ४१, २१९, ४१४

उ

उर्दू २६१, ३७२
उद्दिष्ट १४

उद्देश्य ८७
उपयोगिता ३६३
उत्सर्ग ३६७
उपन्यास १६१, १६३, १६४, १६६, १७१, ३६२, ३६७, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६

ए

एस्केपिज्म १०
एकता १३२, १३३
एकांकी १४६
'एक टाइप' १७५

ऐ

ऐन्द्रिय ३०
ऐक्य २७५

क

कृष्ण ८, १८६
कामदेव ८
कहानी ११, १२, २६१, २६२, ३३७, ३४३, ३५२
क्रान्ति १२, १६७, २५३
'कट्टो' १३, ३२६, ३५७, ३६६
कला १६, ३२, ३४, ३५, ३६, २१८, २२४, २२५, २२६, २२७, ३५३, ३५४, ३५६, ३५७, ३५८, ४२२, ४२४, ४२६, ४२७
कर्तृ-भेद २६
कलात्मक ३५
कलावादी ३६
कलाकार ३७, ३५८
कर्म-परम्परा ३८, ४०
कवि-कर्म ४१
कल्पना-विलास ४३, २७५,
केन्द्र (पुरुष) ४५, ४०२,
काल प्रवाह ४६
कल्पना ४८, ३४०
कार्यकर्ता ५६
कवि ५६
कर्मठ ५६
काका कालेलकर ६५
कसौटी १२३, १२४, १३०, १३१, १३२, १३३
कर्म-भूमि ११६
कालिदास १५८, २८८
कौशल्या १६६
काल १६५
कबीर २७३
कस्मै देवाय २७८, २८२,
कठिनाई २८६, २६०, ४२५,
कृति (कार) ३१८, ३५२,

कर्मवीर ३४७,
कर्ता ३५२
क्राइष्ट ८१
कथा १४, १५
कॉन्सेप्ट ३६४,
कर्म (योग) ४०४, ४१५,
कुलीनता ४०६
कल्याणी ४३२
कोरिया ४४०

ख

खयाल ४५, ४७, ४६,
खेल ३३३,

ग

गण-भेद २६
गान्धी ४५, ८१, ८७, ६६, १७७, २६८, ३५०, ३५३ ४०६, ४०७, ४१४, ४२०
गुजराती ६५, ६६, ६७, ४०६,
गबन ६६,
गेटे १४६
गद्य १५४, १५५, १५६
गद्य काव्य १५६,
गीत ३८, ५४, ५५, १६६, २४३,
गोदान २३१, २३२, २३७, ४०४
गोर्की २५४, ३६७
गरीबी २८०, २८१, ४३६
गुलामी ३२४,
गैर-सरकारी ३२४
गुलाब ३५४,
गतिशील २७,
गेरीबॉल्डी १२
गत्यवरोध ३६६
ग्राम्यता ४१०

घ

घटना ३६, ४३४
घटनावलि ४२
घर ८३, ८४, ११७, ११[illegible] १२०

च

चरित्र १३, १७४, १८८, ३[illegible] ४००
चित्र १४
चेतना १४३, ४०३
चरित्र-चित्रण २३६
चिरस्थायी ३७०
चीन ४४०
चन्द्रमा २२

छ

छायावाद १५०, १५१ १५३, २०[illegible] ४०४

ज

जड़ता ५०
जड़-शक्ति ५०
जनता ५१, ५६, ६०
जीवन ८३, ८५, २३८, ३१४, ३६६, ४२२, ४३२
जवाहरलाल ६६
जौहरी १२५, १२६, १२८
जीवन-तत्त्व ११६
जनात्मवाद २४१
जनता जनार्दनाय २७८, २८३
जनार्दन २८३
जन्म ३११
जर्मनी २४२
ज्योति ३४८, ३५०
जीवन-साहित्य ४०५, ४१५, ४२१
जोश ४३५, ४३६

ट

टेलिस्कोप २२, २३
टेकनीक १४७, ३३८, ३७०, ३७८, ३९७
टाइप १७४, १७५, १७८
टालस्टॉय ३९७

ड

डिक्शनरी ८५
डिक्टेटर ३९३
ड्रामा ३९

त

तिरस्कृत २६
तमाशा ३२
तर्क ३९
तपस्या ६३
तुलसी ७३, १६९
तिरस्कार २०८
त्याग-पत्र ४०३
तप ४३६

द

देश-प्रेम ११, ३३४, ३३५
देवता २१, २२
दुकानदार २९
दया ४५
दुःख ५२
दर्शन १६२
दशरथ १६९
दार्शनिक ४३३
दुनिया ३४६
द्वन्द्व १७, ४४२, ४४३
द्वित्व १७
दोहा ३९६
दोर्गा ३९४

घ

धारण १४, १५, १८
घन १५, ४६
धर्म १६, ३२, ६६, १३७, १३८, ३६१

न

निजता १३, १४
नेतृत्व २६
निष्काम ३१
नास्तिक ३३, ३७, ८६
निर्बुद्धिता ३७
नियति ३६
नियम ४१
नई दिल्ली ४५
निराकार ४६
निवृत्ति ६४
निषिद्धि ८०
नीति १३८, ४२६
नाटक १४५, १४६
नाट्यकला १४६
निर्गुणता १५७
नायक १७२
नियंत्रण २१८, २२०
निरंकुश २२२
निदान २३७
नाजीवाद २४१
नाश ४३
नेपोलियन ३३६
निर्ममता ३५८
नायिका-भेद ३६६
निर्गुण ८
निबन्ध १५
नूतन ३०३
नग्नता ३६८

प

परख १३, ३५६, ३५७, ४३१
परीक्षा ११
पात्र १४, १७६, १८०, १८५, ४००
परिभाषा १६
पंच-तत्त्व २३
पूजित २६
पैसा २८, २६, २८०, ३६३, ३६४
पुरुषार्थ ४७
पदार्थ ४६, ५१
पदार्थाधिकारी ५१
पलायन १०, ५४, १६८
पुस्तक ६७, ८५, ८६, ११५
पदार्थ-विज्ञान ६६
पण्डित ६४, २६१, २६२
पूँजी (पति) ६०

पूँजीवाद २६५
पंक्चूएशन ११०
पाठक १११
पर ११७
पाण्डित्य १३७
पंजाबी १५६, ३७२
पैसेफिस्ट २४०, २४१
पश्चिम २६६, २६७
परमात्मा २७१, २७२, ४२४
परिवार २६४
प्लाट ३४१
पद्म-पत्र ३६५
पतन ३६५
प्रेय ७, ८, १३
प्रेम ६, १५, ४१, ६२, ७६, १३०, १८८, २७३, २८४, ३६७, ३६६
प्रेमचन्द १५, ६६, १०८, १५८, १७४, १७५, २०२, २३१, २३३, २३५, १८८, ३३८, ३३६, ३४०, ३४१, ३६६, ४०३, ४०४
प्रह्लाद ३३
प्रक्रिया ३४
प्रगति १६, ३४, १३६, १८६, १६०, १६३, १६६, १६७, १६८, २०२, २१५, ४०३
प्रगतिवाद २०१, २०६, २०७, २०६, २१०, २११, २१२, ३८४
प्रयोजन ३५, ४०
प्रयोजनीयता ३६
प्रयाण ५२
प्रतिनिधित्व ५३, ५४
प्रतिनिधि-साहित्य ५३
प्रवृत्ति ६४, ६५
प्रतिभा ६१, २६२
प्रसाद १४५, १४६, २२६, ४०३
प्रेम. १४८
प्रचार १६४
प्रकृति १८२
प्रतिक्रिया २१५
प्रशंसा २१२
प्रकाशक ३०२
प्रत्येक ३०७; ३०६,
प्राण ३५५
प्रतीक ३६६

फ

फकीर २८, २६
फल-फूल ४२
फिलासफी ७०
फोटोग्राफी २५०
फारसी ३७३
फ्रेंच कहानी ३७६
फ्रायड ३८४, ३८५, ३८६

ब

बंगाल १२
बंगला ६७
बिहारी १३, ३५७
बोध १७
बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव २५
बुद्धिवादी ३७
बौद्धिक ४०, २३३
बीज ४२, ४५
ब्रह्मानन्द ४३
बृहत् ४६
बीभत्स ५४
बुद्धि १५, १८, ७७, २७३
२५४, ३०१, ४२८
बुद्ध ८१
बाहर ११७, ११६, १२०
वृन्दावनलाल वर्मा १२६
बुन्देलखंडी १५६
ब्रिटेन २४२
ब्राह्मण २४४, २४५
बुद्धिमान् ३००
बहिर्जगत् ३६२
ब्रह्मचर्य ४१८

भ

भगवान् ८, २६८
भावना १४
भाग्य ३८, ३६, ४२
भावुकता ४३
भवितव्यता ४३
भाव ४६, ४२८,
भक्ति ४६, ४०४
भविष्य ६४
भाषा १०६, ११०, १११, १५४,
१५५, १५६, २३३,
३५६
भोजपुरी १५६
भौतिक १६२
भक्त १६२, १६३
भूषण २४४, २४५
भारत ३२४
भारतीयता ३२७
भिखारी ३४१, ३६०

भारतीय साहित्य परिषद ४२०

म

मुक्ति ११, ३६६
मेज़िनी १२
मनोरंजन २६, ३०
मति-तर्क ३६
मतवादी ४०, २१६, २१७
मनुष्य ४१, ५३, ५५, ३७०, ४२६
मौत ४५
महापुरुष ४७
मान ४६
मन ५३
महावाक्य ५६
मूर्तिपूजा ६१
मानव बुद्धि ६१
मूल वृत्तियाँ ६२
मंगल-साधना ६३
मंगल-पक्ष ६३
मानव-समाज ७८
मार्क्स (वाद) ८७, २०३, ३८४, ३८५, ४०१, ४०२
मत-भेद ८८
मर्यादा ११३
मान १४०, १४१
मताग्रह १४२
मनोविज्ञान १८२, १८३
मेरठ २१४
मृत्यु २३८, २३९
मानव-नीति २५८
महापण्डित २७३
मलूकदास २९५, २९७, ३००, ३०३
मदिरा २१६, ३१६
महद्-भावना ३१६, ३१७
मासिक-पत्रिका ३२३
महाभारत ३७१
मराठी ९७
मूल्य ३९२
मृणाल ४०३
मशरूवाला ४०५, ४०६, ४१०, ४१६
महान् ४११
मैथिलीशरण ४२६

य

यथार्थ ४०, ४८, ५४, ५५, ५६, ८८, १२०, ३५७
यूनो ११६
यशपाल १५६, ३६७
यम २३६

यथार्थता ३५८
योगी ३६६
युद्ध २३८, २४०, २४२, २४७, २४६, २५२, २७६
युधिष्ठिर १८६
योद्धा २४१

र

रूप ७, ८, ६, ३५५
राम ८, ३३, १६६, १८६, २२२, ४२५
रोमांटिक ४०, १४३, १६८, ३५२
रूज़वेल्ट ४५
राष्ट्रभाषा ६५, ६६, ६७, १५८, २६२, २६३, ३२८, ३७२, ३७४
रवीन्द्र १०३, ११७, १२०, १२१, १४६, १७५, ३६४
रस १३८, १६७, १७२, ३६७
राजनीति १४२, १४३, १६५, २५७, ३०४-३०८, ३६६
रियलिज्म १४३
रचना १७०, २२१, ३८२
राधा १८६
रूस २०३
राजा २२२
राय साहब २३४
रामदास २४४, २४५
रोम्यांरोला २५४
राष्ट्र ३१३
रोटी ३१४, ३१५, ३८०
रोमांस ३४०, ३५२
रामायण ३७१
रूसी कहानी ३७६
राजसत्ता ३८०
रमल्ला २८१, २८२
रम्भा २८२, २८४

ल

लोकहिताय १०
लेखक १४, ४४, ४५, ४७, ५१, २३८, २४०, २४३, २५०, २५१, २८४, २८५, २८६, २६०, ३७४, ३६४, ४३२, ४४१
लेखनी ४४
लेखन ४४, २८६, २८७, २६५, ३६६
लालकिला ४५
लीला ६३
लोक-हितैक्य १३३
लक्ष्मण १८६

लखनऊ २०२, २०३
लोक-राज्य ३२५
लोकहित ३८७,
लालसा ४२६,
लौकिक सफलता ५०

व

वातावरण ३४४
वाल्मीक ७३, २८५
विकार १४३
विकास १६, १६
व्यक्ति-गत २५
विकीरणक २७
विग्रह १७
वर्तमान ५५, ६४
विधाता ४१
विधान ४१
विद्या ४४२
विभाजन ७८, ८३
व्यवसाय-बद्ध २७
विभेद १८, १६
विभक्ति-करण २३
विराट् १७, १८, १६
विरोध ६३, ८८, ८६, १४२
विलास ३१
विवेक ७, ८
वैवाहिक ३१
विश्वमित्र ३४७
वेश्या ४१०, ४११
वैश्य २८
विज्ञान १६, २२, २३, २४, ३६
विचित्रता ३२
विद्रोही ३३
विप्लवी ३३
विश्व ३४
व्यवहार ३५, ४१७
वाद ४६, १६६, २०२, २०६ ४०३, ४०४
व्यक्ति (वाद) ५५, ६७, १७४, १७५, १८२, १८४, १८५, २०४, २५७, ४०२
विकृति ६४
वृत्तियां ६४
विद्वान् १११, १५७
वर्णन ११२
व्यास १५८
वास्तविकता १६१, १६८, १६६ १७१
वास्तव १६१, १६६, ४२३, ४२४

विवेकशील १६५
वर्ग-विग्रह २१२, २१३
विषमता २५६
विशाल-भारत २७८, २८१, २८४, ३३३, ३४६, ३५०
वाणभट्ट ३८८
वर्णनात्मक ३८८
वस्तु ३६६
वैज्ञानिक-दृष्टिकोण ३६६
व्यंग्य ३६८
वीर्य (व्यय, रक्षण) ४०८, ४१६, ४१६
विचार ४१५

श

शिव ६, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४
शब्द १४, ३४, ५८, २३५
शाहजहाँ ४५
शरीर ५३, ३७०, ४१०, ४११
शिश्नोदर ५४
शास्त्र ७५, १६५, ३६६, ४१७
शासन २२०, २२१, २२३
शब्द-हीनता २३५
शिवाजी २४४
शिल्प ३५५, ३७०
शिवा-बावनी ३६५
शान्ति २४०
शिष्टता ४०६
शरद् ४२६
श्रेय ७, ८, ६, १०, ११, १३, १५, ३०१
श्रद्धावान् ३३, ४६, ५५, ७७
श्रद्धा-शून्य ३३

स

सगुण ८
सत्य ६, ३२, ३३, ३४, ३६, ४७, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, १६१, १६६, २८३, ४००, ४१३, ४२४
सुन्दर ६, ३६, ५४, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४
साहित्य ६, १६, १६, २०, २४, २५, २७, ३१, ५३, ५६, ७३, २२७, २२६, ३०५, ३०८, ३११, ३१२, ३१५, ३१६, ३१७, ३६१, ३६६
साहित्यकार ३०, ३६, ३८१
स्वान्तः सुखाय १०
स्पर्धा ११

समाज २५, २६, ३१२, ३१३, ३६४, ४०२
समाज-गत २५
संग्राहक २७
समाहित २७
सव्यक्तित्व २७
संवरणशील २७
सिद्धि १८, ५१
स्वप्न २१, ४७, ५४
सूरज २१
सौन्दर्य ३६, ५४, ४००
सस्पेंस ३९
सफल ४०
सूत्र ४२, १४२
साहित्यिक ४३, ७१, ४२५
साहित्यानन्द ४३
सूक्ष्म ४६
सामर्थ्य ४९
स्थूलता ५०
सुख ५१
स्वप्ननिष्ठ ५२
स्थिति ५४, १६६, १६७, २४३, २४६
सत्यं शिवं सुन्दरं ५८, ६६
सत्यता ६०
सत् ६०, ४४२
समर्पण ६४
साधना ६४, ७२
सिनेमा ६७, ६८, ६९, ७०, ७१
समूह ६७, ६८
सच्चाई ७५
सांकृत्यायन ९०
समता ९२
समराज्य ९३
सुनीता ११५, ११६, ११९, १२०, १२१, १२२, ३९८, ३९९
स्व ११७, ११८, ११९
सन्धि ११९, १२०
सर्राफ १२४, १२०
सहृदय (ता) १३३, ३५८
समालोचक १३६
समालोचन १३८
साहित्य-सन्देश १४०, १४१, १४७
समग्र १४२
स्टेज १४५, १४९
स्वप्नभंग १४८
समन्वयशील १४९
सामाजिक १५८
सियारामशरण गुप्त १५९
संता १६९, १८३
सनक १८०, १८१

सुमित्रा १८६
सावित्री १८६
संकल्प १६४
संगति १६५
साम्यवाद २०३, २०६
संस्कृति २०४, ३६५
समाजवादी २०६
सत्कार २०८
सरकार २१६, २२४, ३२६, ४३६, ४४०
स्टेट २२२, ३०१
स्टेट-लैस सोसाइटी २२४
सुहृद-संघ २६६
सन् अट्ठाईस २८८, २८६, ३४८
संकोच २६०
संत २६६, ३८१
सिक्का ३०१
सनातन ३०३
सर्व ३०७, ३०८, ३०६
सम्पूर्णता ३१४
स्वराज्य ३२२
स्वाधीनता ३२२
सम्मेलन ३२६
सन् २०-२१, ३३२, ३४८,
सन् २६-२७, ३३२
सम्पादक ३२४
स्पर्धा ३३६, ३३८
सिनोप्सिस ३४०
सत्यघन ३५७
स्वैराचार ३५६
सम्प्रदाय ३६२
साम्प्रदायिक(ता) ३६३, ३७३
स्थायी ३६७, ३८६
साहित्य-सेवी ३७६, ३८६
संस्कृत ३७३
सेक्स ३८७, ३८८
स्तालिन ३६३
साधुता ३६६
स्वाभाविकता ४०३
सभ्यता ४०६
सापेक्षवाद ४१५, ४१६
सर्जन १२

ह

हितकाम ३१
हिरण्यकश्यप ३३
हिन्दी ६५, ६६, ६७, १५८, १६०, २६१, २६४, २६७, ३२३, ३७२, ४४०
हरिप्रसन्न १२०, १२१
हक्सले १४०
हंस १४६, २५१
हिन्दुस्तानी १६०, २६१

हज़ारीप्रसाद १७५
हिंसा २५०
हेनरी वार्बूज़ २५४
हिन्दुस्तान २५८
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन २७०, ४२०
हिन्दी-साहित्य २७४
हिन्दू-धर्म ३६१
हिटलर २४२
हास्य ३६८
होरी ४०४
हेतु ४२६, ४२७

क्ष

क्षुद्र १७, १८, १६
क्षणातीत ३६८
क्षणजीवी ३६८

ज्ञ

ज्ञाता १८
ज्ञान २१, २२, २४, ३४, ७६, ११४, ४०४

ऋ

ऋषि ४३६
ऋषभचरण ४३७

Subjective १३७
Objective १३७
Passion ३७६
Felicity ३७६
Self-Expression ४२७, ४२८